श्रीसरस्वतीप्रसादचतुर्वेदानां

चतुर्वेदविद्याधीतिबोधाचरणप्रचारणपराणामि [illegible]कमल

समर्प्यते सप्रणिपातं

वेदचयनम्

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ।

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु
मा नो द्विक्षत कश्चन ।

[— अथर्व०, भूमिसूक्तम, १२।२२-२३]

प्ररोचना

'वेदचयन' का प्रयोजन मात्र पाठ्यपुस्तक से कुछ अधिक है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि वेद का प्रयोजन मात्र मूल स्रोत से कुछ अधिक है। वेद की प्रारम्भिक शिक्षा इतिहास की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं रखती, जितना भारतीय वाङ्मयमात्र को समझने के लिए प्रमाण के रूप में। तीन बातें इस वाङ्मय में मुख्य हैं, लिखित परम्परा से अधिक वाचिक परम्परा पर बल, मूल ज्ञान-सम्पद् को सतत उपबृंहित करने की अनिवार्यता में विश्वास तथा स्व के उत्सर्ग द्वारा स्वाधीनता की परिकल्पना। ये तीनों बातें वैदिक साहित्य की आधारपीठिका बनाती हैं। इस साहित्य के 'श्रुति' नाम में वाचिक परम्परा का, 'वेद' नाम में ज्ञानसंपद् का तथा 'अपौरुषेय' नाम में [illegible]धीनता का अर्थ निहित है, 'श्रुति' है, इसलिए श्रवण की इच्छा होनी च[illegible]ए, शुश्रूषा होनी चाहिए, गुरु के प्रति प्रणिपात होना चाहिए, दाय की आभार-प्रणति होनी चाहिए और होनी चाहिए उस समस्त प्राण व्यापार की झंकृति जो गुरु के उपदेश में सुनने को मिल चुकी है। इसलिए प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक स्वर को सुरक्षित करने के लिए संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ और घनपाठ जैसे उपायों का आविष्कार किया गया। संहितापाठ में इकाई अर्धर्च है, पद में अकेला पद, क्रम में एक पद उत्तरवर्ती पद के साथ संहित है और जटा में क्रम की अनुलोम और विलोम से तीन बार आवृत्ति, घन में पदों की आवृत्ति अनुलोम और विलोम क्रम से अनेक बार होती है। उन उपायों के द्वारा श्रुति की रक्षा की गयी है। बिना किसी अद्यतनलभ्य साधन के उच्चारण को यथावत् शुद्ध रखने का यह प्रयत्न समस्त विश्व के ज्ञान के इतिहास में अद्वितीय है। वेद का अर्थ है साक्षात् प्राप्ति, उपलब्धि, ज्ञान। परम्परा में ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहे गये हैं, उसका अभिप्राय यही है कि साक्षात् अपरोक्षानुभूति के द्वारा उन ऋषियों को यह सम्पदा प्राप्त हुई। यह इसीलिए अध्येता को केवल 'स्थाणुरयं भारहारः' बनाने तक नहीं गतार्थ होती, यह सम्पदा माँगती है उसकी अपरोक्षानुभूति

का योग, उसका मनन, उसका सत्यान्वेषण, उसका उपबृंहण। वेद सबसे विलग ज्ञान राशि नहीं, वह स्मृति-पुराण-काव्य के द्वारा सतत उपबृंहित होने वाला प्रवाह है। वह ज्ञान का भटका हुआ क्षण नहीं, ज्ञान की संतानवाही शक्ति है। उसकी सबसे बड़ी घोषणा है कि 'सत्येनोत्तभितं जगत्' और 'सत्यं वै देवाः'। सत्य पर इतना बल ही भारतीय वाङ्मय को उदार बनाये हुए है, देशकाल की सीमाओं से मुक्त किये हुए है। अपौरुषेय का अर्थ है पुरुष द्वारा जो न रचित हो। लोगों ने इसका अर्थ अनादि, स्वयंभूत, अकृत आदि अनेक प्रकारों से किया है। ऐसा लगता है कि यह संज्ञा दो वस्तुएँ द्योतित करती है, एक तो यह कि ज्ञान प्राप्त करनेवाला ज्ञानाकार हो जाता है, 'जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई' इसलिए ज्ञाता ज्ञातृत्वाभिमानी पुरुष न होकर ज्ञानाकार अवस्था था, दूसरे, इसे प्राप्त करने के लिए जिस दृष्टि या यज्ञ की आवश्यकता है, वह यज्ञकर्ता को आहुतिमय बना देता है, उसे उसके स्व से मुक्त कर देता और वह पुरुष न होकर पुरुषातीत हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि और भावना के एकीकरण का यह व्यापार ही अपौरुषेयता है।

इन तीन संज्ञाओं से अभिहित साहित्य वेद है। उससे हम प्रेरणा लेते हैं, प्रत्येक ज्ञान का स्रोत उसमें ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं, प्रत्येक आचार का, प्रत्येक विश्वास का प्रामाण्य उसमें ढूँढ़ते हैं, उससे अपने इतिहास को गौरवान्वित मानते हैं, ये सारी बातें तो वेद के अध्ययन के अत्यन्त तुच्छ प्रयोजन हैं, असली प्रयोजन तो इसमें श्वास लेना है। वह परम पुरुष का निःश्वसित है, यह धारणा अपने में स्थिर करना ही इसका मूल लक्ष्य है।

प्रस्तुत चयन में इन्द्र, विष्णु, विश्वेदेव, हिरण्यगर्भ, वाक् पुरुष, शिवसङ्कल्प, इन्द्र एवं पृथिवी आदि १० सूक्त हैं। पहले छ ऋग्वेद से, पुरुष एवं शिवसङ्कल्प यजुर्वेद से, अग्निसूक्त तथा इन्द्रसूक्त ऋग्वेद से एवं पृथिवीसूक्त अथर्ववेद से संगृहीत हैं। इन्द्र एवं विष्णु में ओज तथा गति को साकार रूप प्रदान किया गया है, विश्वेदेव एवं हिरण्यगर्भ में समग्र दृष्टि है, वाक् में वाणी की संयोजन-शक्ति का विवरण है, पुरुष में यज्ञ के अर्थ का विस्तार और इस विश्व को यज्ञ में तालबद्ध देखने का प्रयत्न है, शिवसङ्कल्प में मङ्गल-भावना का उदात्तीकरण है। इस प्रकार क्रमशः ओजस्वी नृम्ण (नरत्व) से उरुगाय, मधु-उत्स एवं

त्रिविक्रम देवत्व तक, देवत्व से विश्वदेवत्व, विश्वदेवत्व से देवदेवत्व, देवदेवत्व से शक्ति, शक्ति से शक्ति को धारण करने वाले ऋत और ऋत से मङ्गल तक उत्तरोत्तर उत्कर्ष कराने में यह चयन कृतकार्य है। इसकी व्याख्या में सत्य के साहस के साथ-साथ परम्परा के प्रति प्रणिपात है, विशदता के साथ-साथ अन्विति है और बौद्धिक प्रखरता के साथ-साथ वाग्वैदग्ध्य है, इसलिए आशा है कि विद्वज्जन इस चयन का समादर करेंगे।

—विद्यानिवास मिश्र



अनुवाक्

अपनी भाषा, ऋत की विचिकित्सा में साँस लेने वाली भारतीय परम्परा के दाय को सँभाले, यही भावना वेदचयन के परिसर में उभरी है। इस आदित्यवर्ण अयन' पर उँगली पकड़ कर चलाने वाले हमारे गुरु पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय की ऋतप्रसू निष्ठा की उदीषा प्रकेतों के द्वार खोलती रही है। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने यदि मुझे चिति की अनुसन्धित्सा में प्रयोजित न किया होता, तो शायद यह चयन भी न हो सकता। इसलिए इनके प्रति मेरे प्रणिपात हैं।

पण्डित विद्यानिवास मिश्र ने प्रस्तावना लिखी है, इसके लिए मै स्वयं उनसे धन्यवाद चाहूँगा क्योंकि उनकी 'ललित निबन्ध अन लिमिटेड प्राइवेट कम्पनी' टूट चुकी है (यह सूचना, उन्हीं के निबन्ध-संग्रह—'आँगन का पछी और बनजारा मन' की 'अपनी सफाई' से मिली है)। 'प्ररोचना अनलिमिटेड प्राइवेट कम्पनी' की संयोजना कर उनके बनजारे मन को रोकने का सारा श्रेय मुझे है (क्षणभर के लिए ही सही), अतः मैं ही धन्यवाद का अधिकारी हूँ।

परममान्य डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनेक उत्साह वचनों से मैं अपने आप मुक्त हो रहा हूँ (वैसे वे हृदयालु हैं, मुक्त करेंगे नहीं)। बन्धुवर पण्डित हेमचन्द्र जोशी तथा पण्डित राजकिशोरमणि त्रिपाठी की प्रेरणाओं का तो मैं पार्षद ही हूँ।

वेदविद्या के उन सभी मनीषियों का मैं कृतज्ञ हूँ, जिनका यहाँ अनुवदन किया गया है। मुद्रण एवं विवरण की भूलों के लिए व्याख्याकार स्वयं उत्तरदायी है, यही उसकी मौलिकता मानी जानी चाहिए।

माघी अमावस्या,
वि० सं० २०१८

विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

विषय-अनुक्रम

प्रथम खण्ड

अग्निसूक्तम्

म० १ सू० १

प्रथममण्डले प्रथमं (प्रथमानुवाके प्रथमं) सूक्तम्

(प्रथमाष्टके प्रथमाध्याये प्रथमद्वितीयवर्गौ)

मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।

ॐ अग्निमीळे पुरोहितम्
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

पदपाठः

अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् । होतारम् । रत्नऽधातमम् ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

'अग्निमीळे इति सूक्तं प्रातरनुवाक आग्नेये क्रतौ विनियुक्तम् । स विनियोग आश्वलायनेन चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशे खण्डे सूत्रितः—'अग्ना नो अग्न इति षळग्निमीळेऽग्निं दूतम्' इति । तत्र हीनपादग्रहणात् सूक्तनिश्चयः । 'सूक्तं सूक्तादौ हीने पादे' (आश्व० श्रौ० १।१) इति परिभाषितत्वात् । तस्मिन् सूक्ते प्रथमाया ऋचो द्वितीयस्या पवमानेष्टौ स्विष्टकृतो याज्यात्वेन विनियोगः । स च द्वितीयाध्यायस्य प्रथमखण्डे सूत्रितः—'साह्वान्विश्वा अभियुजोऽग्निमीळे पुरोहितमिति संयाज्ये' इति । तत्र कृत्स्नपादग्रहणात् ऋगित्यवगम्यते । 'ऋचं पादग्रहणे' (आश्व० श्रौ० १।१) इति परिभाषितत्वात् । तथा 'संयाज्ये इत्युक्ते सौविष्टकृती प्रतीयात्' (आश्व० श्रौ० १।१) इति परिभाषितत्वात् स्विष्टकृत्सम्बन्धनिश्चयः । तत्रापि द्वितीयमन्त्रत्वेनोदाहृतत्वात् याज्यात्वम् । यद्यपि साह्वानित्यनया पुरोनुवाक्ययैव देवताया अनुस्मरणरूपसंस्कारः सिद्धस्तथापि याज्यानुवाक्ययोः समुच्चयो द्वादशेऽध्याये चतुर्थपादे मीमांसितः—

पुरोनुवाक्यया याज्या विकल्प्या वा समुच्चिता ।
विकल्प्यान्यतरेणैव देवतायाः प्रकाशनात् ॥

पुरोनुवाक्यासमाख्यानाद् वचनाच्च समुच्चयः । देवताप्रकाशनकार्यस्यैकत्वात् । युग्मयोर्यथा विकल्पस्तथैवैकयुग्मगतयोरिति चेत् , मैवम् पुरोनुवाक्येति समाख्याया उत्तरकालीनयाज्यामन्तरेणानुपपत्तेः किंच 'पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति' इति प्रत्यक्षवचनेन देवतोपलक्षणहविष्प्रदानकार्ये मेदोक्तिपुरःसरसाहित्य विधीयते । तस्मात् समुच्चय इति ॥

एतच्चाग्निमित्यादिसूक्तं नवर्चम् 'अग्नि नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' इत्यनुक्रमणिकायामुक्तत्वात् । विश्वामित्रपुत्रो मधुच्छन्दो नामकस्तस्य सूक्तस्य द्रष्टृत्वात् तदीय ऋषिः । 'ऋष गतौ' इति धातुः । 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ० सू० ४।५५७) 'इगुपधात् कित्' (उ० सू० ४।५५९) । वेदप्राप्त्यर्थं तपोऽनुतिष्ठतः पुरुषान् स्वयंभूर्वेदपुरुष प्राप्नोत् । तथा च श्रूयते—'अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् तदृषयोऽभवन्' (तै० आ० २।९) इति । तथातीन्द्रियस्य वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनात् ऋषित्वमित्यभिप्रेत्य स्मर्यते—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥ इति ॥

ऋष्यादिज्ञानाभावे प्रत्यवायः स्मर्यते—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥
ऋषिच्छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥ इति ॥

वेदनविधिश्च स्मर्यते—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥ इति ॥

अग्निमित्यादिसूक्तस्य छन्दोऽनुक्रमणिकायां यद्यप्यत्र नोक्तं तथापि परिभाषायामेवमुक्तम् । 'आदौ गायत्रं प्राग्घिरण्यस्तूपात्' (अनु० १२।१४) इति । हिरण्यस्तूप ऋषिर्येषां मन्त्राणां वक्ष्यते ततः प्राचीनेषु मन्त्रेषु सामान्येन

गायत्रं छन्द इत्यर्थः। पुरुषस्य पापसम्बन्धं वारयितुमाच्छादकत्वाच्छन्द इत्युच्यते। तच्चारण्यकाण्डे समाम्नायते—'छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मणः' (ऐ० आ० २।५) इति। अथवा चीयमानाग्निसंतापस्याच्छादकत्वाच्छन्दः। तच्च तैत्तिरीया आमनन्ति—'प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वातिष्ठत् तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसा छन्दस्त्वम्' (तै० सं० ५।३।६।१) इति। यद्वा अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः। तदपि छान्दोग्योपनिषद्याम्नातं— 'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयी विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसा छन्दस्त्वम्' (छा० उ० १।४।२) इति। तथा द्योतनार्थं दीव्यतिधातुनिमित्तो देवशब्द इत्येतदाम्नायते—'दिवा वै नोऽभूदिति तद्देवानां देवत्वम्' इति। अतो दीव्यतीति देवः। मन्त्रेण द्योतते इत्यर्थः। अस्मिन् सूक्ते स्तूयमानत्वादग्निर्देवः। तथा चानुक्रमणिकायामुक्तम्— 'मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात्' (अनु० १२।१२) इति। तस्य सूक्तस्य प्रथमामृचं भगवान् वेदपुरुष आह—

अग्निमीळ इति। अग्निनामकं देवम् ईडे स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' इति धातुः। डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसंप्रदायप्राप्तः। तथा च पठ्यते—

'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः।
अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम्॥' इति॥

मन्त्रस्य होत्राप्रयोज्यत्वादहं होता स्तौमीति लभ्यते। कीदृशमग्निम्। यज्ञस्य पुरोहितम्। यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति; तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा। यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्। पुनः कीदृशम्। देवं दानादिगुणयुक्तम्। पुनः कीदृशम्। होतारम् ऋत्विजम्। देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव। तथा च श्रूयते 'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ० ब्रा० ३।१४) इति। पुनरपि कीदृशम्। रत्नधातमं यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा।

अत्राग्निशब्दस्य यास्को बहुधा निर्वचनं दर्शयति (नि० ७।१४—'अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवी स्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः।

अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—इताद्, अक्ताद्, दग्धाद् वा नीतात्, स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः। तस्यैषा भवति—'अग्निमीळे' इति। अस्यायमर्थः—सामान्येन सर्वदेवतानां लक्षणस्याभिहितत्वादनन्तरं यतः प्रतिपदं विशेषेण वक्तव्यमाकाङ्क्षितमतोऽनुक्रमेण वक्ष्यामः। तत्र पृथिवीलोके स्थितोऽग्निः प्रथमं व्याख्यास्यते। कस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तादग्निशब्देन देवताभिधीयत इति प्रश्नस्य 'अग्रणी' रित्यादिकमुत्तरम्। देवसेनामग्रे स्वयं नयतीत्यग्रणीः। एतदेकमग्निशब्दस्य प्रवृत्तनिमित्तम्। तथा च ब्राह्मणान्तरम्—'अग्निर्वै देवानां सेनानीः' इति। एतदेवाभिप्रेत्य बह्वृचामन्त्रब्राह्मणे आमनन्ति—'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (ऐ० ब्रा० १।४) इति मन्त्रः। 'अग्निर्वैदेवानामवमः' (ऐ० ब्रा० १।१) इति ब्राह्मणम्। तथा तैत्तिरीयाश्चामनन्ति—'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' (तै० ब्रा० २।४।३।३)। 'अग्निरवमो देवतानाम्' (तै० सं० ५।५।१।४) इति च। वाजसनेयिनस्त्वेवमामनन्ति—'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इति। यज्ञेष्वग्निहोत्रेष्टिपशुसोमरूपेष्वग्रं पूर्वदिग्वर्त्याहवनीयदेशं प्रति गार्हपत्यात् प्रणीयत इति द्वितीयं प्रवृत्तनिमित्तम्। सन्नममानः सम्यक् स्वयमेव प्रह्वीभवन्नङ्गं स्वकीयं शरीरं नयति काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति तृतीयं प्रवृत्तनिमित्तम्। स्थूलाष्ठीवनामकस्य महर्षेः पुत्रो निरुक्तकारः कश्चिदक्नोपन इत्यग्निशब्दस्य निर्वक्ति—तत्र न क्नोपयतीत्युक्ते न स्नेहयति, किन्तु काष्ठादिकं रूक्षयतीत्युक्तं भवति। शाकपूणिनामको निरुक्तकारो धातुत्रयादग्निशब्दनिष्पत्तिं मन्यते। इतः 'इण् गतौ' इति धातुः। अक्तः 'अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु' इति धातुः। दग्धो 'दह भस्मीकरणे' इति धातुः। नीतो 'णीञ् प्रापणे' इति धातुः। अग्निशब्दो ककार-गकार-निशब्दानपेक्षमाण एतिधातोरुत्पन्नादयनशब्दादकारमादत्ते, अनक्तिधातुगतस्य ककारस्य गकारादेशं कृत्वा तमादत्ते, यद्वा दहतिधातुजन्याद् दग्धशब्दाद् गकारमादत्ते। नीरिति नयतिधातुः स च ह्रस्वो भूत्वा परो भवति। ततो धातुत्रयं मिलित्वाग्निशब्दो भवति। यज्ञभूमिं गत्वा स्वकीयमङ्गं नयति—काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति समुदायार्थः। तस्याग्निशब्दार्थस्य देवताविशेषस्य प्राधान्येन स्तुतिप्रदर्शनायैषा 'अग्निमीळे' इत्यृग् भवतीति। तामेतामृचं यास्क एवं व्याख्यातवान्—'अग्निमीळेऽग्निं याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा

वा । पुरोहितो व्याख्यातः । यज्ञस्य देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः सा देवता । होतारं ह्वातारम् । जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः । रत्नधातमम् रमणीयानां धनानां दातृतमम्' (नि० ७।१५) इति । अस्यायमर्थः—ईडतिधातोः स्तुत्यर्थत्वं प्रसिद्धम् । 'धातूनामनेकार्थत्वम्' इति न्यायमाश्रित्य याच्ञाध्येषणापूजा अप्यत्रोचितत्वात् तदर्थतया व्याख्याताः । पुरोहितशब्दो द्वितीयेऽध्याये (नि० २।१२)—'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः' (ऋ० सं० १।९८।७) इत्येताम् ऋचमुदाहृत्य 'पुर एनं दधति' (नि० २।१२) इति व्याख्यातः । तैत्तिरीयाश्च पौरोहित्ये स्पर्धमानस्य पश्वनुष्ठानं विधाय तत्फलत्वेन 'पुर एनं दधते' (तै० सं० २।१।२।९) इत्यामनन्ति । देवशब्दो दान दीपन-द्योतनानामन्यतममर्थमाचष्टे । यज्ञस्य दाता दीपयिता द्योतयितायमग्निरित्युक्तं भवति । दीपनद्योतनयोरेकार्थत्वेऽप्यस्ति धातुभेदः । यद्यप्यग्निः पृथिवीस्थानस्तथापि देवान् प्रति हविर्वहनाद् द्युस्थानो भवति । देवशब्ददेवताशब्दयोः पर्यायत्वान्मन्त्रप्रतिपाद्या काचिदग्निव्यतिरिक्ता देवता नान्वेषणीया । होतृशब्दस्य ह्वयतिधातोरुत्पन्नत्वेन देवानामाह्वातारमिति । और्णवाभनामकस्तु मुनिर्जुहोतिधातोरुत्पन्नो होतृशब्द इति मन्यते । अग्नेश्च होतृत्वं होमाधिकरणत्वेन द्रष्टव्यम् । रत्नशब्दो द्वितीयाध्याये मघमित्यादिष्वष्टाविंशतौ धननामसु पठितः (निघ० २।१०) रमणीयत्वाद् रत्नत्वम् । दधातिधातुरत्र दानार्थवाचीति । तदिदं निरुक्तकारस्य यास्कस्य मन्त्रव्याख्यानम् ।

अथ व्याकरणप्रक्रियोच्यते । अगिधातोर्गत्यर्थात् (धा० १।१४३) 'अङ्गेर्नलोपश्च' (उ० ४।५०) इत्यौणादि-सूत्रेण नि-प्रत्ययः, इदित्त्वान्नुमागमेन प्राप्तस्य नकारस्य लोपश्च भवति । अङ्गति स्वर्गं गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः । तत्र 'धातोः' (६।१।१६२) इत्यकार उदात्तः । 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) इति प्रत्ययगत इकारोऽप्युदात्त । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५८) इति द्वयोरन्यतरमुदात्तमवशेष्येतरस्यानुदात्तत्वं प्राप्तम् । तत्र धातुस्वरे प्रथमतोऽवस्थिते सति पश्चादुपदिश्यमानः प्रत्ययस्वरोऽवशिष्यते । 'सति शिष्टस्वरो बलीयान्' इति हि न्यायः । ततोऽन्तोदात्तमग्निप्रातिपदिकम् । 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) इत्यमित्येतद्द्वितीयैकवचनमनुदात्तम् । तस्य 'अमि पूर्वः' (६।१।१०७) इति यत् पूर्वरूपं तदुदात्तम् ; 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) इति सूत्रितत्वात् ।

अग्निशब्दो धातुजन्मेति मते सेयं प्रक्रिया सर्वापि द्रष्टव्या। मतद्वयं यास्केन प्रदर्शितम्। 'नामान्याख्यातजानि शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणाना चैके'। (नि० १।१२) इति। गार्ग्यस्य मतेऽग्निशब्दस्याखण्डप्रातिपदिकत्वात् 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि० सू० १।१) इत्यन्तोदात्तत्वम्। पूर्वोक्तेष्वग्रणीरित्यादिनिर्वचनेषु प्रकृतिप्रत्ययादशेषप्रक्रिया यथोचितं कल्पनीया। एतदेवाभिप्रेत्य यास्क आह—'अथ निर्वचनम्। तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याता तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमानेऽप्यक्षरवर्णसामान्यान् निर्ब्रूयात्, नत्वेव न निर्ब्रूयात्।' (नि० २।१) इति। अस्यायमर्थः—तत् तत्र निर्वचनीयपदसमूहमध्ये येष्वग्न्यादिपदेषु पूर्वोक्तरीत्या स्वरसंस्कारौ समर्थौ व्याकरणसिद्धौ स्याताम्। स्वर उदात्तादिः। संस्कारो नि-प्रत्ययादिः। किञ्च तौ स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। शब्दस्यैकदेशः पूर्वोक्तोऽगिधातुः प्रदेशः। तत्र भवो गुणो गतिरूपोऽर्थः। तेनान्वितौ। तान्यग्न्यादिपदानि तथा व्याकरणानुसारेण निर्ब्रूयात्। तच्च निर्वचनमस्माभिः प्रदर्शितम्। अथ पूर्वोक्तवैलक्षण्येन कश्चित् स्वेन विवक्षितोऽर्थो नान्वितस्तस्मिञ्छब्देऽनुगतो न भवेत्। तस्यैव व्याख्यानम्—'अप्रादेशिके विकारे' इति। अग्रनयनादिरूपः क्रियाविशेषो विकारः। स च प्रदेशेनाग्निशब्दैकदेशेनात्र नाभिधीयत इत्यप्रादेशिकः। एवं सति यः पुमान् अर्थनित्यः स्वविवक्षितेऽर्थे नियतो निर्बन्धवान्। ब्राह्मणानुसारेण वा देवतान्तरविशेषणत्वेन योजयितुं वा स निर्बन्धः। तदानीं स पुमान् केनचिद् वृत्तिसामान्येन स्वविवक्षितमर्थं परीक्षेत तस्मिञ्छब्दे योजयेत्। वृत्ति क्रिया, तद्रूपेण सामान्यं सादृश्यम्। अस्माभिश्चाग्रनयनादिरूपं क्रियात्वसामान्यमुपजीव्याग्रणीत्वाद्यर्थो योजितः। तदिदं यास्काभिमतं निर्वचनम्। स्थौलाष्ठीविरक्षरसामान्यान् निर्वक्ति। अक्नोपनशब्दस्यादौ निषेधार्थमकाररूपमक्षरं विद्यते। अग्निशब्दस्याप्यादावकारोऽस्ति। तदिदमक्षरसाम्यम्। शाकपूणिस्तु वर्णसामान्यान्निर्ब्रूते। दग्धशब्दाग्निशब्दयोर्गकाररूपवर्णेन साम्यम्। सर्वथापि निर्वचनं न त्याज्यम्।

'ईळे' इत्येतत् पदं कृत्स्नमप्यनुदात्तम्, तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यतिङन्तादग्निशब्दात् परस्य 'इळे' इत्यस्य तिङन्तस्य निघातविधानात्। पदद्वयसंहिताकाले स्वीकारस्य धातुगतस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६६)

इति स्वरितत्वम्। तस्मादूर्ध्वभाविन एकारस्य तिङ्प्रत्ययरूपस्य 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (१।२।३९) इत्यैकश्रुत्य प्रचयनामकं भवति। पुरः शब्दोऽन्तोदात्तः 'अयं पुरो भुवः' (तै० सं० ४।३।२।१) इत्यत्र तथैवाम्नातत्वात्। 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' (५।३।३९) इति पूर्वशब्दादसप्रत्ययः पुरादेशश्च। ततोऽत्र प्रत्ययस्वरः। धाञो निष्ठाया 'दधातेर्हिः' (७।४।४२) इत्यादेशे सति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो हितशब्दः। तत्र समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते तदपवादत्वेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (६।२।२) इत्यादिनाव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा 'पुरोऽव्ययम्' (१।४।६७) इति गतिसंज्ञाया 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तत ओकार उदात्तः। अवशिष्टानामनुदात्तस्वरितप्रचयाः पूर्ववद् द्रष्टव्याः। आद्याक्षरस्य संहितायां प्रचयस्वरप्राप्तौ 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (१।२।४०) इत्यतिनीचोऽनुदात्तः।

'यजयाच०' (पा० सू० ३।३।९०) इत्यादिना यजतेर्नङ्प्रत्यये सत्यन्तोदात्तो यज्ञशब्दः। विभक्तेः सुप्स्वरेणानुदात्तत्वे सति पश्चात् स्वरितत्वम्। देवशब्दः पचाद्यजन्तः। स च फिट्स्वरेण प्रत्ययस्वरेण चित्स्वरेण वान्तोदात्तः। ऋत्विक्शब्द ऋतौ यजतीति विग्रहे सति 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।२।५९) इति निपातितः। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० सू० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। विभक्तिस्वरः पूर्ववत्। होतृशब्दस्तृन्प्रत्ययान्तः, नित्स्वरेणाद्युदात्तः। स्वरितप्रचयौ पूर्ववत्। रत्नशब्दो 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० सू० २।३) इत्याद्युदात्तः। तथा चाम्नायते 'रत्नं धाता' (ऋ० सं० ४।३५।८) इति। रत्नानि दधातीति विग्रहः। समासत्वादन्तोदात्तो रत्नधाशब्दः। यद्वा कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। तमप् प्रत्ययस्य पित्स्वरेणानुदात्तत्वे सति स्वरितप्रचितौ संहितायामाद्याक्षरस्य प्रचयो द्वितीयाक्षरस्य सन्नतरत्वम्।

वेदावतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः।
विज्ञातं वेदगाम्भीर्यमथ संक्षिप्य वर्ण्यते॥ १॥

हिन्दीभाषान्तर

पुरोहित, यज्ञ के दैवी ऋत्विज् (देवों को), बुलाने वाले तथा रत्नों के श्रेष्ठ दाता अग्नि की स्तुति करता हूँ।

टिप्पणियाँ

१. अग्निम्—अगि (जाना) + नि, 'अङ्गेर्नलोपश्च' (उ० ४।२०, ४।५२) अङ्गति ज्वालारूपेणोर्ध्वं गच्छतीति अग्निः, अथवा अङ्ग्यतेऽसाविति। मा० धा० वृ० १.९१, वे० म० ४.५०, पे० सू० ४.५२। अग्नि शब्द का निर्वचन अनेक प्रकार से किया गया है, जिसका विवरण यास्क के निरुक्त में मिलता है। अग्र + नी + क्विप् (पा० ३।२।६१), अङ्ग + नी + क्विप्। स्थौलाष्ठीवि के अनुसार नञ् + क्नूयी (शब्द करना, गीला करना) + क्विन्। शाकपूणि के मत मे अग्नि शब्द में तीन धातुओ का समावेश है—इण गतौ, अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु या दह भस्मीकरणे—इण् से बनने वाले अयन, अञ्ज् तथा दह से क्रमशः अकार, गकार का ग्रहण किया जाता है। इसके साथ णीञ् (ले जाना) धातु का नी भी जुड़ा है, जिसे ह्रस्व कर दिया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् अग्नि शब्द की संरचना अज् धातु से करते हैं, क्योंकि लैटिन और ग्रीक भाषाओं मे समान अर्थ वाली धातु अगो विद्यमान है। यूरोपियन भाषाओं में समानार्थक शब्द हैं—लैटिन—इग्निस, स्लावी—ओग्नि, लिथुआनी—उग्निसरज़वेन्ता, लेट्टिश—उग्गुनुस मात, रूसी—अगोन, बुल्गारी—अग्नीवो (चकमक पत्थर)।

२. ईळे—लौकिक संस्कृत में ईडे। ऋग्वेद में दो स्वरो के मध्य में स्थित डकार को ळकार पढ़ने का नियम है—'अज्मध्यस्थ डकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः'। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो में इस धातु के अर्थ में बहुत मतभेद है—यास्क, याचना करना अर्थ करते हैं—ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा। यास्क के टीकाकार दुर्ग के अनुसार प्रस्तुत संदर्भ में यहाँ याचना करना अर्थ है। धातुपाठ में ईड का अर्थ स्तुति करना है। महाभाष्य में—'ईडिः स्तुति चोदना याच्ञासु दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते'—स्तुति, याचना, उकसाना और प्रेरणा। गेल्डनर के मत से ईड का अर्थ आह्वान करना, बुलाना, विनती करना। ब्लूमफील्ड के अनुसार यह धातु इष् (इच्छा करना) का विकसित रूप है और यह वृ (वरण करना) का पर्याय है, अतएव अर्थ होगा वरण करना।

३. पुरोहितम्—पुरः—भारतीय विद्वान् पूर्व + अस्। पाश्चात्य विद्वाना के अनुसार पूर्व, पुरः, पुरा आदि प अथवा पृ धातु से बनते हैं। हितः (धा + क्त)।

हित का प्रारम्भिक रूप धित था, जो आज भी युवधित, मित्रधित जैसे शब्दा में दृष्टिगत होता है। ध के स्थान पर ह और ह के स्थान पर भ का परिवर्तन होता है। न्यग्रोध, वीरुध, एधि, जुहुधि, शाधि आदि मे ह के स्थान पर ध दिखायी पड़ता है। तुलनीय—न ह वा अपुरोहित य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं 'पुरो दधीत' (पुरः + धा)।

४. यज्ञस्य—यज + नङ्, का सम्बन्ध 'ऋत्विजम्' से है न कि 'पुरोहितम्' से, क्योंकि सम्बन्धकारक जिस शब्द से सम्बद्ध रहता है प्रायः उसके पहले आता है, तथा दोनो शब्द एक ही पाद में स्थित नी हैं। यज्ञ के समान शब्द—अवेस्ता—यस्न, ग्रीक—हाग्नोस, गायिक—यस्नह्मा।

५. देवम्—यह ऋत्विज का विशेषण है, पुरोहित का नही। भारतीय व्याख्याता इसकी व्युत्पत्ति दिव् द्योतित होना + अच्—दीव्यतीति करते हैं। पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार दिव = स्वर्ग से इसका सम्बन्ध है। मूल रूप में इस शब्द का अर्थ स्वर्ग या स्वर्ग का पुत्र था, बाद मे यह देवता अर्थ में स्वीकृत हुआ। इस दृष्टि में देव शब्द का निर्माण इस प्रकार होगा—दिव् + अण् ['तस्येदम्' (४।३।१२०) या 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२), 'देवब्रह्मणोरनुदात्तः' (१।२।३८) निर्देश से गुण]। यास्क—"देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा" (निरु० ७.१५)।

६. ऋत्विजम्—ऋतु + यज् + क्विन्, ऋतौ यजति। ऋ० सं० १०।२।१, यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति, ऐ० ब्रा० ऋत्विज ऋतुयाजान् यजन्ति आदि।

७. होतारम्—हू + तृन्। ध्यातव्य है कि मन्त्र के प्रथम पाद में अग्नि को पुरोहित कहा गया है। दूसरे चरण में ऋत्विज। तीसरे पाद में अग्नि को होता कहकर ऋषि उसके याज्ञिक पौरोहित्य का प्रतिपादन करता है। और्णवाभ के अनुसार यह शब्द 'हु = यज्ञ करना' धातु से बनता है—जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभ. (निरु० ७।४)। यास्क और उनके अनुकारी ह्वे या हू से इसकी व्युत्पत्ति बताते हैं। ऐ० ब्रा० होता शब्द की निष्पत्ति 'आवह' से मानता है—यदन्यो जुहोति, अथ योऽनु चाह यजति च, कस्मात् तं होतेत्याचक्षते इति ? यद् वाव स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतुत्वम् (१।२) मैकदोनेल और कीथ और्णवाभ की व्युत्पत्ति को

ठीक मानते हैं। बाद में मैकदोनेल ने अपने 'वेदिक रीडर' में 'हू' धातु से इसको व्युत्पन्न माना है।

८. रत्नधातमम्—रत्नानिदधातीति रत्नधाः, अतिशायी रत्नधा इति रत्नधातमः। रत्नदाताओ में श्रेष्ठ या रत्न धारण करनेवाले में उत्तम। रत्न + धा + तमप।

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त ।

स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ २ ॥

पदपाठः

अ॒ग्निः । पूर्वे॑भिः । ऋषि॑ऽभिः । ईड्यः॑ । नूत॑नैः । उ॒त । सः । दे॒वान् । आ । इ॒ह । व॒क्ष॒ति ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

अयम् अग्निः पूर्वेभिः पुरातनैः भृग्वङ्गिरप्रभृतिभिः ऋषिभिः ईड्यः स्तुत्यो नूतनैः उत इदानीन्तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। स अग्नि स्तुतः सन् इह यज्ञे देवान् हविर्भुज आवक्षति। 'वह प्रापणे' (धा० १–९८५) इति धातुः। आहवत्वित्यर्थः। पूर्वेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) इति भिस ऐसादेशाभावः। 'पुर्व पर्व मर्व पूरणे' (धा० १–५६८–७०) इति धातुः। पूर्वतिधातो रन् प्रत्यय औणादिकः। इन्-प्रत्ययान्तः ऋषिशब्दः। 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) इति निपातनाल्लघूपधागुणाभावः। कित्प्रत्ययो वात्र ज्ञेयः (३०४–५५९)। तौ शब्दौ नित्स्वरेणाद्युदात्तौ। ईड्यशब्दस्य ण्यत्प्रत्ययान्तत्वात् 'तित्स्वरितम्' (६।१।१८५) इति स्वरिते शेषानुदात्तत्वे च प्राप्ते तदपवादत्वेन 'ईडवन्द०' (६।१।२१४)इत्यादिनाद्युदात्तत्वम्। 'नवस्य नू आदेशो त्नप्तनप्खाश्च'(५।४।३०।६) इति वार्तिकेन नवशब्दस्य नू इत्यादेशः तनन् प्रत्ययश्च महावार्तिके विहितः। ततो नित्स्वरेणाद्युदात्तः। अवशिष्टस्वरा अग्न्यादिषु नूतनान्तेषु पूर्ववदुन्नेयाः। उतशब्दो यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनानेकार्थत्वादौचित्येनात्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः। 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' (नि० १–४) इति निपातत्वम्। तर्हि 'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० ४–१२) इत्युकारस्योदात्तः प्राप्त इति चेन् न, प्रातःशब्दवदन्तोदात्तत्वम्। यथा प्रातःशब्दोऽन्तोदात्तत्वेन स्वरादिषु

(१।१।३७) पठित एवमुतशब्दस्यापि पाठो द्रष्टव्यः । स्वरादेराकृतिगणत्वात् । यद्वा 'एकादीनामन्तः' (फि० ४-१४) इत्यन्तोदात्तः । स इत्यत्र फिट्स्वरः । देवशब्दः पूर्ववत् । देवानित्यस्य नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि०' (८।३।९) इति रुत्वम् । 'अत्रानुनासिक०' (८।३।२) इत्युनुवृत्तौ 'आटोऽटि नित्यम्' (८।३।३) इत्याकारः सानुनासिकः । 'भो भगो०' (८।३।१७) इति रोर्यकार । स च 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इति लुप्यते । तस्यासिद्धत्वात् न पुनः सन्धिकार्यम् । आङो निपातत्वादाद्युदात्तत्वम् । इदमो ह-प्रत्यये सति निष्पन्नत्वात् इहशब्दे प्रत्ययस्वरः । वहतिधातोर्लोडर्थे छान्दसो लृट् । तस्य स्य-प्रत्ययगतस्य यकारस्य लोपोऽपि छान्दसः, यद्वा लेटि 'सिब्बहुलम्०' (३।१।३४) इति सिप्-प्रत्ययः । 'लेटोऽडाटौ' (३-४-९४) इत्यडागमश्च । ततो वक्षतीति सम्पद्यते । तस्य तिङन्तत्वान्निघातः । संहितास्वराः पूर्ववत् ॥

हिन्दीभाषान्तर

अग्नि, प्राचीन और नवीन ऋषियों द्वारा स्तुति के योग्य है, वह यहाँ देवो को ले आये ।

टिप्पणियाँ

१. पूर्वेभिः—पूर्वकालिक, प्राचीन । पूर्व + अन् + भिस् (सायण) । सायण के अनुसार 'पूर्व पर्व अर्व पूरणे' धातु है (पूना संस्करण) । 'माधवीय धातुवृत्ति' में 'पुर्व पर्व फर्व मर्व पूरणे' (१७३) पाठ है । ध्यातव्य है कि काशकृत्स्न धातु पाठ मे 'पूर्व पर्व मर्व पूरणे' (१-२६५) पाठ है । 'पुर्व' पाठ युक्तिसंगत और उचित है । भानुजिदीक्षित के अनुसार पूर्व शब्द— पूर्व + अच् (नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः, ३-१-१३४)—पूर्वति । दुर्ग के धातुपाठ की मनोरमा मे कहा गया है कि 'पुर्व' धातु है, मैत्रेय के अनुसार यह 'पुर्व' ही है—ह्रस्वमध्यपवर्गीयबकारोऽयम् । ······दन्तौष्ठ्योयमिति मैत्रेयः । 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) नियम से भिस् के स्थान पर ऐस् नहीं हुआ । अनेक स्थानो पर प्राचीन और नवीन दोनो प्रकार के ऋषियो का उल्लेख मिलता है, दे० ऋ० सं० ७।२२।९, ६।२१।५, ३।३२।१३ ।

२. ऋषिभिः—ऋषियो द्वारा । ऋष = प्रवहित होना; अनुभव, अनुभूति की दशा में पहुँचना; अतएव ऋषि । 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' ।

यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषयः। श० ब्रा० ६।१।१।१।

३. ईड्यः—स्तुति, प्रशंसा के योग्य। ईड् + ण्यत्।

४. नूतनैः—नवीन, नये। नव + तनन्।

५. देवाँ एह—देवान् + आ + इह। देवन् स् आ इह<देवाः ए आ इह<देवाँः आ इह<देवाँ एह।

६. वक्षति—ले आये। वह + लोट् के अर्थ में लट्।

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे।
य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

पदपाठः

अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्न॒व॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे। य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानो रयिं धनम् अश्नवत् प्राप्नोति। कीदृशं रयिम्? दिवेदिवे पोषमेव प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम्। यशसं दानादिना यशोयुक्तम्। वीरवत्तमम्, अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। सति हि धने पुरुषाः सम्पद्यन्ते। रयिशब्दो मघमित्यादिधननामसु पठितः (नि० २-१०)। तत्र फिट्स्वरः। अश्नोतेर्धातोर्लेटि व्यत्ययेन तिप्। 'इतश्च लोपः' इतीकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ'(३-४-९४) इत्यडागमः। ततोऽश्नवदिति भवति। तस्य निघातः। घञन्तत्वात् पोषशब्द आद्युदात्तः। एवशब्दस्य निपातत्वेऽपि 'एवादीनामन्तः' (फि० ४।१४) इत्यन्तोदात्तत्वम्। वकारान्ताद्दिवशब्दात् परस्याः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्' (७-१-३९) इत्यादिना शेभावे सति 'सावेकाचः' (६-१-१६८) इत्यादिना, 'ऊडिदम्पदादि' (६-१-१७१) इत्यादिना वा तस्योदात्तत्वम्। 'नित्यवीप्सयोः' (८-१-४) इति द्विर्भावे सत्युत्तरभागस्य 'अनुदात्तं च' (८-१-३) इत्यनुदात्तत्वम्। यशोऽस्यास्तीति विग्रहे सति 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५-२-१२७) इत्यच्प्रत्ययः। चित्स्वरं

व्यत्ययेन बाधित्वा मध्योदात्तत्वम्। फिट्स्वरेणान्तोदात्ताद्वीरशब्दादुत्तरयोर्मतुप्तमपोः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' (६-१-१७६) इति तु न, सावर्णान्तत्वात् 'न गोश्वन्' (६-१-१८२) इति प्रतिषेधात्॥

हिन्दीभाषान्तर

धन, सम्पत्ति और यशस्वी, श्रेष्ठ वीर अग्नि द्वारा प्रतिदिन प्राप्त करे।

टिप्पणियाँ

१. रयिम्—धन, वित्त। भाषा-विज्ञानियों के अनुसार यह शब्द रि से बना है, और इसका सम्बन्ध रा से है। रा का अर्थ देना है अतएव अधिकार, सम्पत्ति।

२. अश्नवत्—प्राप्त करे, पाये। भारतीय व्याख्याता इसे वर्तमानकाल का रूप मानते हैं। अश्=व्याप्त करना, वेद में यह प्रायः आत्मनेपदी है। अश्+नु+अ+त<अश् नो अ त्<अश्नवंत्, संस्कृत में अश्नुवीत।

३. दिवेदिवे—प्रतिदिन। इसी आशय में 'द्यविद्यवि' का भी प्रयोग हुआ है।

४. यशसम्—यशस्वी, कीर्ति से युक्त। कुछ भारतीय व्याख्याता इसे सज्ञा मानते हैं, पर अन्य इसे विशेषण के रूप में स्वीकारते हैं। वह 'रयिम्' और 'पोषम्' दोनो की विशेषता बताता है।

५. वीरवत्तमम्—वीरों से युक्त जनों में श्रेष्ठ। वी धातु का अर्थ है प्रजनन, अतएव शक्तिसम्पन्न जन। भाषा-विज्ञानी इसका सम्बन्ध भारोपीय भाषा के मूल-शब्द विरोस् से जोड़ते हैं। विरोस् प्राकृत भारोपीय भाषा के प्रयोक्ता थे।

इस मन्त्र में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑।
स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति॥ ४॥

पदपाठः

अग्ने॑। यम्। य॒ज्ञम्। अ॒ध्व॒रम्। वि॒श्वतः॑। प॒रि॒ऽभूः। असि॑। सः। इत्। दे॒वेषु॑। ग॒च्छ॒ति॒॥ ४॥

सायणभाष्यम् ४

हे अग्ने, त्वं य यज्ञं विश्वतः सर्वासु दिक्षु परिभूः परितः प्राप्तवान् असि, स इत् स एव यज्ञो देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे गच्छति। प्राच्यादिचतुर्दिगन्तेष्वा-हवनीय मार्जालीय-गार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेष्वग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रियादि-धिष्ण्यव्याप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरम्। हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति। अग्निशब्दस्य पाष्ठिकम् (६।१।१९८) आमन्त्रितात्द्युदात्तत्वम्। न विद्यते ध्वरोऽस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सु-भ्याम्' (६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। विश्वत इत्यत्र तसिलः प्रत्ययस्वरत्वं बाधित्वा पूर्ववर्णस्य 'लिति' (६।१।१९३) इत्युदात्तत्वम्। परिभूरित्यत्राव्ययपूर्व-पदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते तदपवादत्वेन कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। असीति तिङन्तस्य 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६) इति निघाताभावः॥

हिन्दीभाषान्तर

अग्नि! जिस पूजा और याग को चारो ओर से व्याप्त कर स्थित हो, वह निश्चय ही देवो के समीप पहुँचता है।

टिप्पणियाँ

१. यज्ञम्, अध्वरम्—यज्ञ शब्द का अर्थ अध्वर शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक है। सम्भवतः यज्ञ में प्रार्थना पर अधिक बल दिया जाता था और अध्वर में अनुष्ठान पर। अध्वर का सम्पादन मुख्यतः अध्वर्यु करता था—ओल्डेनबर्ग। यज्ञ और अध्वर का अनेक स्थानो पर साथ-साथ प्रयोग मिलता है। दे०—१।१२८।४, १।४४।३.४।९।७, ८।१०।४, ऋ० सं०। अध्वर के लिए दे०—खोदा, अध्वर एण्ड अध्वर्यु, वि० इं० ज०, ३-२-१९६५।

२. विश्वतः परिभूरसि—विश्वतः, विश्व + तसिल् चारो ओर। परितो भव-तीति, परि + भू + क्विप्। तु०—त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। १।९७।६ ऋ० स०। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परिता बभूव, १।३२।१५ ऋ० सं०। सौमिक यागो में आहवनीय, मार्जालीय, गार्हपत्य, दक्षिण तथा धिष्ण्य (होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, नेष्टृ, पोतृ और ब्राह्मणाच्छंसी नामक ऋत्विजों से सम्बद्ध अग्नि) अग्नि स्थापित किये जाते हैं। आनुष्ठानिक

रूप में अग्नि सम्पूर्ण यज्ञ को व्याप्त कर स्थित रहता है। देवता के रूप में भी वह सर्वत्र व्यापक एवं विभु है—

> त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः।
> यत् सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुररान्न नेमिः परिता बभूव ॥
>
> —ऋ० सं० १।१४१।९
>
> जात आपृणो भुवनानि रोदसी अग्नेता विश्वा परिभूरसित्मना।
>
> —ऋ० स० ३।३।१०
>
> अग्ने नेमिररॉं इव देवास्त्वं परिभूरसि, आ राधश्चित्रमृञ्जसे।
>
> —ऋ० स० ५।१३।६
>
> देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहानो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान्।
>
> —ऋ० सं० १।१२।२

स्कन्दस्वामी के अनुसार परिभू का अर्थ परिग्रही (पकड़ने वाला, स्वीकारने वाला)—परि पूर्वो भवतिः सर्वत्र परिग्रहे परिग्रही भवसि।·· देवास्तमेव परिगृह्णन्ति नान्यमित्यर्थः।

३. इत्—अवधारण अर्थ में अव्यय। स्कन्दस्वामी—इच्छब्द एवार्थे। जिस प्रकार कत् और कश्चित् क से निर्मित है उसी तरह इत् इ से। यह अपने पूर्ववर्ती शब्द से सम्बद्ध रहता है। परवर्ती संस्कृत में इत् उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः चेत् तथा स्वित् में यह विद्यमान है। तु०, इदा, इत्था आदि।

४. देवेषु गच्छति—देवान् गच्छति तथा देवेषु तिष्ठति—देवो के समीप जाता है और वहां स्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि वह देवो की ओर केवल जाता है—तु०—नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति—ऋ० सं० १-१२५-५। यद् वै सत्येन ह्रयते तत् तु देवान् गच्छति, श० ब्रा० २।३।१।३२।

अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः।
दे॒वो दे॒वेभि॒राग॑मत् ॥ ५ ॥

पदपाठः

अग्निः । होता॑ । कविऽक्र॑तुः । सत्यः । चित्रश्र॑वःऽतमः । देवः । देवेभिः । आ । गमत् ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम् ५

अयम् अग्निः देवः अन्यैः देवैर्हविर्भोजिभिः सह आगमत् अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु । कीदृशोऽग्निः ? होता होमनिष्पादकः । कविक्रतुः कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनः, न तु मेधाविनाम् । क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम । ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा । सत्यः अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः । चित्रश्रवस्तमः श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः, अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः । कविक्रतुश्चित्रश्रवस्तम इत्यत्रोभयत्र बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सत्सु साधु सत्यम् । 'सत्यादशपथे' (५-४-६६) इत्यत्रान्तोदात्तो हरदत्तेन निपातितः । लोडन्तस्य गच्छत्विति शब्दस्य छत्वाभावः । उकारलोपश्छान्दसः ततो रूपं गमदिति भवति । स्पष्टमन्यत् ॥

हिन्दीभाषान्तर

(देवताओं का) आवाहन करने वाला, कवि की प्रज्ञा से युक्त, सत्य तथा पूज्य यशस्वियों में श्रेष्ठ अग्निदेव देवताओं के साथ (यहाँ) आये ।

टिप्पणियाँ

१. कविक्रतुः—कविः क्रतुः यस्य सः (बहु०) । सायण के अनुसार कवि शब्द 'कु शब्दे' धातु से बनता है—कौतीति कविः—कु + इ (अच इः, उ० ४ । १३४) । दशपादी उणादिवृत्ति में—कु शब्दे या कुङ् अव्यक्ते शब्दे धातु में इन् प्रत्यय लगाकर कवि शब्द की व्युत्पत्ति दी गयी है—(इन् १।४६ उ०)—कौति, कवते, कूयते वा कविः काव्यकृत् विद्वान् शब्दकारः । काशकृत्स्न धातुपाठ के व्याख्याता चन्नवीरकवि कुङ् शब्दे—कवते इति—, कु शब्दे—कौतीति—, कुङ् शब्दे—कुवते इति—इन सभी धातुओं से कवि शब्द की निष्पत्ति स्वीकारते हैं । यास्क कुङ्—कवते—तथा क्रमु धातु से कवि शब्द की संरचना मानते हैं—कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु० १२।१३) । निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा क्रम या कुङ धातु में इन

प्रत्यय लगाकर कवि शब्द की सिद्धि मानते हैं (इन् सर्वधातुभ्यः उ० ४।११४)। कवि शब्द निघण्टु (३।१५) में मेधावी शब्द के पर्यायो मे पठित है। यास्क कवि का अर्थ मेधावी तथा क्रान्तद्रष्टा करते हैं—मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति (निरुक्त० १२।१३)। कवि का अर्थ है बुद्धिमान, मेधावी, प्रज्ञावान् क्योंकि वह भूत, वर्तमान और भविष्य के पदार्थों को अपनी विलक्षण मति से एक साथ देखता है—'अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगपद् दर्शनं यस्य स क्रान्तदर्शनः'—उव्वट; 'अतीतानागतदूरेवर्त्तिपदार्थाना यस्य युगपज्ज्ञानं स कविः'—महीधर; वा० स० २।४। सायण को यहाँ क्रान्तदर्शन अर्थ ही अभीष्ट है। सम्भवतः उनकी दृष्टि में मेधाविता और क्रान्तदर्शनता विभिन्न विषयक हैं। तु० सायण, ऋ० सं० १।११७।२३; ५।११।३। स्कन्दस्वामी भी क्रान्तद्रष्टा अथवा क्रान्तकर्मा अर्थ करते हैं—क्रान्तं गतं सर्वत्राप्रतिहतं प्रज्ञानं कर्म वा यस्य स कविक्रतुः। वेंकटमाधव क्रान्तप्रज्ञ अर्थ स्वीकारते हैं। कविक्रतु के लिए दे०—स हि यो मानुषा युग सीदद्धोता कविक्रतुः—ऋ० सं० ६।१६।२३ क्रतवः—सायण के अनुसार इस शब्द का अर्थ महायज्ञ है। इस अर्थ के अतिरिक्त उव्वट, महीधर संकल्प अर्थ भी स्वीकारते हैं। रॉथ इसका अर्थ शक्ति तथा मैकदोनेल सामर्थ्य करते हैं। पेत्रोगार्द कोश का अनुसरण करते हुए मोनियर विलियम्स अन्तर्दृष्टि, शक्ति या विचारणा अर्थ उपयुक्त समझते हैं। वस्तुतः क्रतु शब्द का अर्थ करना सरल नही है। व्यक्ति, पदार्थ या धारणा में स्थित वे अनुभव-विधाएँ जिनसे तत्तद्वस्तुओ मे प्रभविष्णुता या शक्तिशालिता आती है, क्रतु को बोधगम्य बनाने में समर्थ हैं। शारीरिक तथा बौद्धिक सामर्थ्य का भी यह शब्द द्योतक है। सायण ने एक अन्य स्थल पर इसका अर्थ प्रज्ञा किया है—ऋ० १।२५।१२—'सुक्रतुः शोभनप्रज्ञः' सा०। यज्ञ अर्थ में क्रतु शब्द प्रायः ऋग्वेद में नहीं व्यवहृत हुआ है। श० : 'स यदेव मनसाकामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुः' ४।१।४।१, कदाचित् क्रतु के मौलिक अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। ग्रीक शब्द 'क्रेतोस' (शक्ति, बल) से यह तुलित हो सकता है। अवेस्ता में प्रयुक्त 'ख्रतु' (कर् बुद्धि) भी इसी का समानधर्मा है। यहाँ बुद्धि, प्रज्ञा अर्थ अधिक युक्तिसंगत है। इसकी व्युत्पत्ति है : करोति क्रियते वा क्रतुः कृञ् + कतु (उ० १।८०)। [क्रतु के लिए देखिए। खोंदा, 'इपिथेट्स इन दि ऋग्वेद', पृ० ३७ आदि, पाद टिप्पणी, ११]।

२. सत्यः—सच्चा, सत्य। सायण अन्यत्र—ऋ० सं० १।१४५।५—इस शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—सत् क्रियमाणं कर्म तत्र साधुः। सत् सुभवो भव। सत् फलं तदर्हतीति वा। सत् में यत् प्रत्यय लगाकर सत्य शब्द की सिद्धि नही स्वीकारी जा सकती; क्योकि यहाँ यह अन्तोदात्त है। यत् प्रत्यय होने पर 'यतोऽनावः' से आदि अक्षर मे उदात्त होता है। इसीलिए हरदत्त पदमंजरी में कहते हैं कि सत्य शब्द य-प्रत्ययान्त है—सत्+य—अतएव पाणिनि ने 'सत्यादशपथे' (५।४।६६) मे सत्य को अन्तोदात्त पढ़ा है—सत्सु साधु सत्यम्, प्राग्धितीये यति प्राप्तेऽस्मादेव निपातनाद् यः। अन्तोदात्तो हि सत्यशब्दः—सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० सं० १०।८५।१), ऋतञ्च सत्यञ्च (ऋ० सं० १०।१९०।१), इति।

स हि सत्यो यं पूर्वेचिद् देवासश्चिद् यमीधिरे। ऋ० सं० ५,२५।२।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परं निधानम्॥

मु० उ० ३।१।६।

३. चित्रश्रवस्तमः—चिनोति, चीयते वेति चित्रम् (अमिचिनिदिशसिभ्यः क्त्रः उ० ४।१७२) श्रूयते इति श्रवः, चित्रं श्रवो यस्य सः चित्रश्रवाः, अतिशायी चित्रश्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः। विविध अतिशायिनी कीर्ति से युक्त। श्रवस् शब्द अब केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओ में ही उपलब्ध है—उच्चैःश्रवा, भूरिश्रवाः, वाजश्रवाः। स्कन्दस्वामी 'चायृ पूजानिशामनयो' से चित्र शब्द बनाकर पूजनीय अर्थ करते हैं। आगे चलकर वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ विचित्र भी करते हैं। श्रवस् का अर्थ इनके अनुसार, अन्न, धन या कीर्त्ति है।

४. गमत्—गम्+लेट्+तिप्, ए० व०। सायण द्वारा सही व्युत्पत्ति अन्यत्र दी गयी है—गमेर्लेटस्तिप्। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३।४।९७) इतीकारलोपः। बहुलं छन्दसि (२।४।७३) इति शपो लुक्। लेटोऽडाटौ (३।४।९४) इत्यडागमः। आगमा अनुदात्ताः (महाभाष्य ३।१।३।७) इति तस्यानुदात्तत्वे धातुस्वर एव शिष्यते।

यदुङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सुत्यमङ्गिरः॥ ६॥

पदपाठः

यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रम् । करिष्यसि । तव । इत् । तत् । सत्यम् । अङ्गिरः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

अङ्गेत्यभिमुखीकरणार्थो निपात. । अङ्गाग्ने हे अग्ने, त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थम्, यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तद् भद्रं तवेत् तवैव सुखहेतुरिति शेष । हे अङ्गिर. ! अग्ने ! एतच्च सत्य न त्वत्र विसंवादोऽस्ति । यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तो सत्याम् उत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति। भद्रशब्दार्थे शाख्यायनिनः समामनन्ति 'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रं' इति । अङ्गशब्दस्य निपातत्वेऽप्यभ्यादित्वाद् अन्तोदात्तत्वम् । 'दाश्वान् साह्वान्०' (३-१-१२) इतिसूत्रेण 'दाशृ दाने' (धा० १-८६७) इति धातोः क्वसुप्रत्ययो निपातितः । तत्र प्रत्ययस्वरः । आमन्त्रितस्याग्निशब्दस्य पदात् परत्वेनाष्टमिळानुदात्तत्वं (८-१-१९) न शङ्कनीयम्, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८-१-१८) (१-१८) इति पर्युदस्तत्वात् । तत. षाष्ठिकम् (६-१-१९८) आद्युदात्तत्वमेव । भद्रशब्दस्य नब्विषयत्वेन (फि० २-१३) आद्युदात्तत्वप्रसक्तावपि 'भदि कल्याणे' (धा० १-१२) इति धातोरुपरि रक्प्रत्ययेन (उ० २-२९) निपातनाद् अन्तोदात्तत्वम् । अस्मिन् वाक्ये यच्छब्दप्रयोगात् 'निपातैर्यद्यदिहन्त' (८-१-३०) इति निघाते प्रतिषिद्धे स्यप्रत्ययस्वरेण सति शिष्टेन करिष्यसि शब्द उपान्त्योदात्तः । तवेत्यत्र 'युष्मदस्मदोर्ङसि' (६-१-२११) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'अङ्गिरा अङ्गाराः' इति यास्कः (नि० ३-१७) ऐतरेयिणोऽपि प्रजापतिदुहितृध्यानोपाख्याने समामनन्ति—'येऽङ्गाराः आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् ।' (ऐ० ब्रा० ८-१०) इति । तस्मादङ्गिरोनामकमुनिकारणत्वात् अङ्गाररूपस्याग्नेरङ्गिरस्त्वम् । अत्र पदात् परत्वेनाष्टमिकानुदात्तत्वम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

अग्नि ! तुम यजमान का जो भी भला करोगे, अंगिरा ! तुम्हारा वह (मन्तव्य) सत्य ही होता है ।

टिप्पणियाँ

१. अङ्ग—वस्तुतः यह शब्द ऋग्वेद में अवधारणार्थक है—तु० सायण—अङ्गेति निपात एवार्थे, ऋ० सं० १०. ४. ४। सभी भारतीय व्याख्याता तथा सायण भी अ० स० १. १६. २, २. ३. २ आदि ऋ० सं० ३. ३३. १, भी अङ्ग को आमन्त्रण के अर्थ को बताने वाला निपात मानते हैं—अङ्गेत्यामन्त्रणे। ऋ० सं० १०. १२०. ७ में इसे प्रसिद्धि अर्थ वाला कहा गया है—अङ्गेति प्रसिद्धौ। सम्भवतः अनुवर्ती युग में यह सम्बोधन अथवा पूजार्थक निपात के रूप में स्वीकारा गया।

२. दाशुषे—दाश् देना + क्वसु निपातनात्सिद्ध, द्वित्व और इट् के अभाव का निपातन, दाश्वस् च० ए० व०। दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च (६. १. १२)। द्वित्वरूप ददाशुषे का कम से कम चार बार ऋग्वेद में प्रयोग मिलता है। इसी तरह विविद्वान् भी मिलता है।

३. अङ्गिरः—अङ्गारेभ्यः सृतः इत्यङ्गिराः—अगि (गतौ) + असि (इरुडागम)—अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च (उ० ४. २४१); अङ्गार + सृ + असि—सृ गतौ, अङ्गारशब्दोपपदे धातुलोपो निपात्यते, उपपदान्तलोपः, उपधेत्वं च (द० उ० वृ०)। ये अङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्, ऐ० ब्रा० ३.३४।

त्रिसांवत्सरिकं सत्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
आहरत् सहितः साध्यैर्विश्वेदेवैः सहेति च॥
तत्र वाग् दीक्षणीयायामाजगाम शरीरिणी।
तं दृष्ट्वा युगपत् तत्र कस्याथ वरुणस्य च॥
शुक्रं चस्कन्द तद् वायुरग्नौ प्रास्यद् यदृच्छया।
ततोऽर्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अङ्गारेष्वङ्गिरा ऋषिः॥

—बृहद्देवता ५.९७–९९

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥ ७॥

पदपाठः

उप । त्वा । अग्ने । दिवेऽदिवे । दोषाऽवस्त । धिया । वयम् । नमः । भरन्तः । आ । इमसि ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम् ७

हे अग्ने, वयम् अनुष्ठातारो दिवेदिवे प्रतिदिनम् दोषावस्तः रात्रावहनि च धिया बुद्धया, नमो भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः। उपशब्दस्य निपातस्वरः (फि० ४-१२) । 'त्वामौ द्वितीयायाः' (८-१-२३) इति युष्मच्छन्दस्यानुदात्तस्त्वादेशः । [दोषोवस्तः] दोषा शब्दो रात्रिवाची वस्तरित्यहर्वाची । द्वन्द्वसमासे कार्त्तकौजपादित्वात् (६-२-३७) आद्युदात्तः । 'सावेकाचः' (६-१-१६८) इति धियो विभक्तिरुदात्ता । नम इति निपातः । भरन्त इत्यत्र शपः पित्त्वाच्छतुर्थसार्वधातुकत्वाच्चानुदात्तत्वे सति धातुस्वरः शिष्यते । इमसीत्यत्र— 'इदन्तो मसि' (७-१-४६) इत्यादेशो निघातश्च ॥

हिन्दीभाषान्तर

अन्धकार को प्रकाशित करने वाले अग्नि ! हम कर्म या स्तुतियों द्वारा नमस्कार करते हुए तुम्हारे पास आते हैं ।

टिप्पणियाँ

१. उप एमसि—उपेमसि, अनुवर्ती संस्कृत में उपेमः । मस के सदृश ऋग्वेद में मसि भी मिलता है ।

२. दोषावस्तः—भारतीय व्याख्याता इसे सम्बोधन पद मानते हैं—स्कन्दस्वामी, रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयितः । माधव, दोषाया आच्छादयितः । दोषा निशा भवति । दोषेति रात्रेर्नाम वस्ता आच्छादयिता । रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तम आच्छादयितरित्यर्थः । भरत, दोषा रात्रि तस्या विवासयितः, तमोनाशकेत्यर्थः । सायण ऋ० सं० ४.४.९ में इसे वैकल्पिक रूप में सम्बोधन मानकर अर्थ करते हैं और ऋ० सं० ७.१५.१५ में केवल सम्बोधन मानते हैं ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सायण इसे द्वन्द्व स्वीकारते हैं । पर यदि इसे द्वन्द्व माना जाय तो उदात्त प्रथम पद के प्रथम अक्षर में नहीं हो सकता । भट्टभास्कर का

अनुकरण करते हुए सायण कार्त्तकौजपादयश्च नियम का आश्रय ग्रहण कर उपर्युक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यदि 'कार्त्तकौजपादि' को आकृतिगण भी मान लिया जाय तो भी प्रश्न उलझा ही रहता है, क्योंकि इस स्थिति में उदात्त स्वर प्रथम पद के द्वितीय अक्षर में होगा। शाकल्य के अनुसार पदपाठ मे द्वन्द्व अवगृहीत नही होता। 'दोषावस्तः' अवगृहीत है, अतएव यहाँ द्वन्द्व सम्भव नही है। वस्तुतः अन्य प्रमाणो से भी—आश्व० श्रौ० ३.१२.४, शा० गृ०, ७.५.४—'दोषावस्त:' सम्बोधन पद ही सिद्ध होता है, द्वन्द्व नही। दोषावस्तः के लिए डे० प्रिसेस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ८, पृ० ९१-९६।

३. धिया—धी—विचार, स्तुति, धार्मिक विचार, भक्ति, श्रद्धा, कर्म आदि।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।

वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

पदपाठः

राजन्तम्। अध्वराणाम्। गोपाम्। ऋतस्य। दीदिविम्। वर्धमानम्। स्वे। दमे ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

पूर्वमन्त्रे त्वामुपेम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम्। कीदृशं त्वाम्? राजन्तम् देदीप्यमानम्। अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानाम्। गोपाम् रक्षकम्। ऋतस्य सत्यस्यावश्यम्भाविनः कर्मफलस्य दीदिविम् पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम्। आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते। स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः वर्धमानम्। राजन्तं वर्धमानमित्यत्रोभयत्रपूर्ववद्धातुस्वरः शिष्यते। दीदिविंशब्दस्य 'अभ्यस्तानामादिः' (६-१-१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। दम-शब्दो वृषादित्वात् (६-१-२०३) आद्युदात्तः ॥

हिन्दीभाषान्तर

यज्ञ के शासक, ऋत के देदीप्यमान रक्षक, अपने घर में बढने वाले (अग्नि! हम तुम्हारे पास आते हैं)।

टिप्पणियाँ

१. राजन्तम्—राज् (दीप्तौ—प्रकाशित होना) + शतृ, द्वि० ए० व० । शासन करने वाले को । प्रायः सम्बन्धवाचक शब्द सम्बन्धी शब्द का पूर्ववर्त्ती होता है। अतएव भारतीय व्याख्याता—अध्वराणा गोपाम् और ऋतस्य दीदिवम् अन्वय करते हैं । परन्तु यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है कि राजन्तम् को सम्बन्धवाचक शब्द की आवश्यकता है । अतएव अध्वराणा राजन्तम् अन्वय करना ठीक प्रतीत होता है । इसी दृष्टि से स्कन्दस्वामी अर्थ करते हैं—राजन्तम् ईशानम् । कस्य ? अध्वराणा यज्ञानाम् । गोपा रक्षितारं ऋतस्य यज्ञस्यैव । दीदिविम् अत्यर्थदीप्तम् । वर्धमानं स्व आत्मीये दमे यज्ञगृहे । ऋ० सं० १-४५-४ मे पुनः राजन्तमध्वराणाम् आता है, वेंकटमाधव इसका अर्थ करते हैं—ईशानं यज्ञानाम् ।

२. गोपाम्—रक्षक ।

३. ऋतस्य—ऋत का अर्थ है प्राकृतिक विधान, नैतिक नियम । ऋत के कारण सूर्य अपनी गति मे रहता है, दिन, रात, मास, ऋतु और संवत्सर निरन्तर आवर्त्तित होते रहते हैं। यज्ञ भी विधिपरक है और सृष्टि-प्रक्रिया का प्रज्ञापक है, अतएव उसे भी ऋत कहते हैं । अग्नि यज्ञ का रक्षक इसलिए कहा गया है कि वह न केवल विघ्नो से बचाता है, अपितु उसके अभाव में यज्ञ के अनुष्ठान असम्भाव्य हैं ।

४. दीदिवम्—दिव् + क्विन् दीव्यतीति । दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य (३-४-५७)। अत्यन्त प्रकाशित होने वाला, देदीप्यमान । भट्टोजि—क्विन्नित्यनुवर्तमाने दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्येति । दीव्यतेरौणादिकः क्विन्प्रत्ययः वलिलोपः ।

५. दमे—दम उपशमने + घञ् (नोदात्तोपदेशस्य, पा० ७.३.३४ इति वृद्धि-निषेधः) । ग्रीक, दोमोस् ; लैटिन, दोमुस् ; अवे, दम् ; लिथुआनी, बुटस् ; चर्च-स्लावी, दोमु; सर्वोक्रेटी, डोम् ; बोहेमियन, दुम्; पोलिश, डोम् ।

इस मन्त्र के प्रथम और तृतीय पाद मे एक-एक अक्षर कम है, अतएव इसे विराट् गायत्री कहा गया है—द्वाभ्यां विराट स्वराजौ, पिं० ३-६० ।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

पदपाठः

सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः । भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥

सायणभाष्यम् ९

हे अग्ने ! स त्वं नः अस्मदर्थं सूपायनः शोभनप्राप्तियुक्तो भव । तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशराहित्यार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत् । अस्मच्छब्दादेशस्य न इत्येतस्य 'अनुदात्तं सर्वम्' (८।१।१८) इत्यनुदात्तत्वम् । 'चादयोऽनुदात्ता' (फि० ४-१६) इति इवशब्दोऽनुदात्तः । 'इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं न वक्तव्यम्' (२।१।४।२) इति समस्त पितेवेति शब्दो मध्योदात्तः । [सूपायनशब्दस्य] शोभनमुपायनं यस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (७।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । सचस्वेत्यत्र पदात्परत्वं नास्तीति न निघातः, सार्वधातुकानुदात्तत्वे सति धातुस्वरावशेषः ॥

हिन्दीभाषान्तर

अग्नि ! तुम हमारे लिए सुगम बनो; जैसे पिता अपने पुत्र के लिए (सुगम होता है) तथा हमारे कल्याण के लिए हमसे संसक्त रहो ।

टिप्पणियाँ

१. पितेव—पिता के सदृश । यह समस्त पद है, अतएव इसे अवगृहीत कर पदपाठ में अलग किया गया है । इव उदात्तस्वररहित और अपने पूर्व पद से सम्बद्ध सर्वत्र मिलता है । इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इव अपने पूर्ववर्ती पद के साथ समास बनाता है । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इस परम्परा का पदपाठ में सर्वत्र पालन किया गया है ।

सूनु—अवे, हुनुस्; गा, सुनुस्, लिथु, सुनुस; प्राचीन नार्स, सुन्र्; सोन्र्; डेनिश, सोन्, स्वीडिश, सन्; प्रा. इं., सुनु; म. इं., सुने, सोने; प्रा. उ. ज., सुन् (उ); म. उ. ज., सुनुः न. उ. ज., सोहन्; चर्चस्लावी, सिनु; सर्वोक्रेटी, बोहेमियन, पोलिश, रूसी, सिन्, सीन् ।

पितेव—पुत्र के लिए पिता के समान । तु०—

वयं स्याम मार्तुन सूनवः, ऋ० सं० ७।८१।४

पितेव सोम सूनवे सूशेवः, ऋ० सं० ८।४८।४

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम् ।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः ॥

—ऋ० सं० २।१।९

अग्नि मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरमित् सखायम् ।

—ऋ० सं० १०।७।३

२. सूपायनः—सु + उप + इण् (गतौ + युच्) (छन्दसि गत्यर्थेभ्यः, ३।३।१२९), सु सुखेन उपायनम् उपगमनं प्रापण यस्य सः। सुगम, सुप्राप्य, सरलता से पहुँच के योग्य। भट्टभास्कर—सूपायनः सूपचरणः सुखेनोपचरणीयः परिचरणीयो वा भव""""शोभनोपायो वा। सायण अन्तिम व्याख्या को यहाँ स्वीकारते हैं, यद्यपि वे ऋ० सं० १०।१८।११ में सूपायना का अर्थ करते हैं—शोभनोपगमना सूपचारिका, अ० सं० १८।३।५० में—सूपायनास्मै भव सूपासर्पणा—सूपायना सुखेनोपगन्तुमर्हा सूपसर्पणा शोभनोपसर्पणयुक्ता च भव। स्कन्दस्वामी—सूपायनः सूपगमः सुखोपसर्पो भव। वेंकटमाधव—सूपचरः।

३. सचस्वा—छन्दोगत लय की दृष्टि से दीर्घ अन्यथा सचस्व षच् सेचने अथवा सेवने आत्मनेपदी है और षच् समवाये उभयपदी। प्रायः इस धातु का अर्थ साथ मे लगना, मिलना, संसक्त होना है। षच् + लोट् + थास्।

४. स्वस्तये—सु + अस् + क्तिन्, च० ए० व०। ऋग्वेद मे स्वस्ति अव्यय के रूप मे नही है, अपितु इसके रूप चलते हैं—स्वस्तिः, स्वस्तिम्, स्वस्तौ, स्वस्तौ आदि। इसी दृष्टि से भट्टभास्कर—स्वस्तय इति विभक्त्यन्त प्रतिरूपोऽव्ययः, और सायण ऋ० सं. २।३८।१ मे, यद्यपि स्वस्तिशब्दो विभक्त्यन्तनिर्दिष्टः शब्दपरस्तथाप्यपर्यवसानादर्थपरो भवति—कथन उचित नही प्रतीत होता। यह पदपाट मे अवगृहीत नहीं होता, क्योंकि अस्ति की स्वतन्त्र संज्ञा के रूप में उपलब्धि नही है।

इन्द्रसूक्तम्

मं० १ सू० ३२

प्रथममण्डले द्वात्रिंशत्तमं (सप्तमेऽनुवाके द्वितीयं) सूक्तम्
(प्रथमाष्टके द्वितीयाध्याये षट्त्रिंशत्सप्तत्रिंशत्
अष्टात्रिंशतः वर्गाः)

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

सायणभाष्यम्

'इन्द्रस्य नु वीर्याणि' इति पंचदशर्च द्वितीयं सूक्तम् । आङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः । त्रिष्टुप छन्दः । इन्द्रो देवता । 'इन्द्रस्य पञ्चोना' इत्यनुक्रमणिका । अग्निष्टोमे माध्यन्दिने सवने निष्केवल्यशस्त्रे 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि' इति निविद्धानीयं सूक्तम् । 'निष्केवल्यस्य' इति खण्डे 'इन्द्रस्य नु वीर्याणीत्येतस्मिन्नैन्द्री निविदं दध्यात्' (आश्व० श्रौ०, ५.१५) इति । विषुवत्यपि तस्मिन् शस्त्रे एतद् विनियुक्तम् । 'विषुवान् दिवाकीर्त्यः' इति खण्डे सूत्रितम्—'इन्द्रस्य नु वीर्याणीति एतस्मिन्नैन्द्रीं निविदं शस्त्वा (आश्व० श्रौ० ८.६) इति । महाव्रते निष्केवल्येऽप्येतदेव विनियुक्तम् । 'राथन्तरो दक्षिणः पक्षः' इति खण्डे 'चतस्रः सतीः षड् बृहतीः करोतीन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऐ० आ० ५. २. २) इति ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒
या॒नि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री ।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒
प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥

पदपाठः

इन्द्र॑स्य । नु । वी॒र्या॑णि । प्र । वो॒च॒म् । यानि॑ । च॒कार॑ । प्र॒थ॒मानि॑ । व॒ज्री । अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणाः॑ । अ॒भि॒न॒त् । पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

वज्री वज्रयुक्त इन्द्रः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि वा यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार। तस्येन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि। कानि वीर्याणि इति तदुच्यते। अहिं मेघम्। अहन्। हतवान्। तदेतदेकं वीर्यम्। अनु पश्चादपो जलानि ततर्द। हिंसितवान्। भूमौ पातितवानित्यर्थः। इद द्वितीयं वीर्यम्। पर्वतानां सम्बन्धिनीर्वक्षणाः प्रवहणशीला नदीः प्राभिनत्। भिन्नवान्। कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थः। इदं तृतीयं वीर्यम। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। वीर्याणि। 'शूरवीर विक्रान्तौ'। ण्यन्तादचो यदिति यत् (पा० ३-१-९७) णेरनिटीति (पा० ६-४-५१) णिलोपः। तित्स्वरितमिति (पा० ६-१-१८५) स्वरितत्वम्। यतोऽनावः (पा० ६-१-२१३) इत्याद्युदात्तत्वं न भवति। आद्युदात्तत्वे हि सुशब्देन बहुव्रीहौ आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (पा० ६-२-११९) इत्यनेनैवोत्तरपदाद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वाद्वीरवीर्यौ च (पा० ६-२-१२०) इति पुनस्तद्विधानमनर्थकं स्यात्। अतोऽवगम्यते यतोऽनाव (पा० ६-१-२१३) इत्याद्युदात्तत्वं वीर्यशब्दे न प्रवर्तत इति। अतः परिशेषात्तित्स्वरितम् (पा० ६-१-१८५) इति प्रत्ययस्य स्वरितत्वमेव। वोचम्। अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (पा० ३।१।५२) इति च्लेरङादेशः। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (पा० ६-४-७५) इत्यडभावः। चकार। णलि लित्स्वरेण प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। यद्वृत्तयोगादनिघातः। अहन्। लङि इतश्चेतीकारलोपं हल्ङ्याब्भ्यः (पा० ६-१-६८) इति तकारलोपः। अहिम्। आङ्पूर्वाद्धन्तेः आङि श्रियनिभ्यां ह्रस्वश्च (उ० ४-१३७) इतीण्प्रत्ययः। आङो ह्रस्वत्व च शब्देन वेञो डित् (उ० ४।७२) समाने ख्यश्चोदात्त (उ० ४-१३६) इति डित्वं पूर्वपदान्तोदात्तत्वं चानुकृष्यते। ततष्टिलोपे पूर्वपदस्योदात्तत्वम्। उतृदिर् हिंसानादरयोः। तिङ्ङतिङ इति निघातः। वक्षणाः। वक्ष रोषे। क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च (पा० ३-२-१५१) इति युच् चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वर।

हिन्दीभाषान्तर

अब (मैं) इन्द्र के पराक्रमो का कथन करूँगा, जिन्हें वज्रधारी ने पहले किया था। (उसने) अहि को मारा, जल का भेदन किया (तथा) पर्वतो को काटकर नदियो को बहाया।

टिप्पणियाँ—भारतीय व्याख्याताओं ने इन्द्र की अनेक व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं :—

इन्धी दीप्तौ (प्रदीप्त होना, प्रकाशित होना) <रन्, इन्धे (भूतानि) इति इन्द्रः—स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रः, प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध, यद्धैन्ध तस्मादिन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्, परोक्षकामा हि देवाः; श० ब्रा० ६।१।१।२। [तद् येदेनं प्राणैः समैन्धंस्तद् इन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते, निरु० १०।१]

मध्य प्राण इन्द्रियों के द्वारा अन्य प्राणों को समिद्ध करता है, अतएव उसे परोक्ष (इन्द्रियातीत) रूप में इन्ध कहते हैं। व्यवहार्थ जगत् में यह इन्ध ही इन्द्र है।

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते, परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः; श० ब्रा० १४।६।११।२, बृ० उ० ४।२।२।

दाहिनी आँख में स्थित पुरुष का परोक्ष नाम इन्ध है, प्रत्यक्ष जगत् में यही इन्द्र है।

इन्धे भूतानि। निरु० १०।१; भूतानि प्राणिदेहान् इन्धे जीवचैतन्यरूपेणान्तःप्रविश्य दीपयतीतीन्द्रः, सायण, ऋ० सं० १।३।४। इन्धते, इध्यते वा तेजोभिरिति इन्द्रः, द० पा० उ० बृ० ८।४६।

इदि परमैश्वर्ये (शासन करना, प्रभुता स्थापित करना) + रन्; इन्दति, इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः, निरु० १०।१; स्वमायया जगद्रूपत्वं परमैश्वर्यम्, तद्योगादिन्द्रः, सायण, ऋ० सं० १।३।४—अपनी शक्ति से जगद्रूप परम ऐश्वर्य से युक्त (मायाशब्द के अर्थ के लिए दे० खोंडा, फोर स्टडीज़ इन दि लैंग्वेज आफ़ दि वेदाज़ हेग, १९५९ में, 'माया' लेख)। इस परम ऐश्वर्य का प्रतिपादन—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, ऋ० सं० ६।४७।१८, श० ब्रा० १४।५।५।१९; बृ० उ० २।५।१९ में है। इन्द्रः—ऋज्रेन्द्र इति रन्नन्तो निपातितः, सायण–माधवीयाधातुवृत्ति, १।५३; इन्दति शासनं करोतीति इन्द्रः, चन्नवीरकवि, काशकृत्स्नधातुपाठ १।९, भानुजिदीक्षित, अ० को० १।४१।

इदम् (उपपद) + दृश्, इदं पश्यति इति इन्द्रः—इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखने वाला—

स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिती ३ । तस्मादिन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः, ऐ० आ० २।४।३ । इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखने के कारण इन्द्र का परोक्ष अभिधान इदन्द्र है। औपमन्यव इस निर्वचन को स्वीकारते हैं--इदं दर्शनाद् इति औपमन्यवः; निरु० १०।१ । सायण--इदम् इत्यापरोक्ष्यमुच्यते, विवेकेन हि परमात्मानमापरोक्ष्येण पश्यति, ऋ० सं० १।३।४ ।

इदम् + कृञ्, इदम् करोति इति इन्द्रः--इस जगत् का स्रष्टा। आग्रायण- इस निर्वचन के प्रतिपादक हैं—इदम् करणाद् इति आग्रायणः, निरु० १०।१ । सायण—इन्द्रो हि परमात्मरूपेणेदं जगत् करोति, ऋ० सं० १।३।४ ।

इरा + दॄ (विदारना, विदीर्ण करना), इरा दृणातीति, निरु० १०।१-- इरामन्नमुद्दिश्य तन्निष्पादकजलसिद्ध्यर्थं दृणाति मेघं विदीर्णं करोति, सायण, ऋ० सं० १।३।४ । निरुक्त पर दुर्ग की टीका भी देखिए।

इरा + दा (देना), इरा ददाति; निरु० वही; सायण–इरामन्नं वृष्टिनिष्पादनेन ददाति, ऋ० सं० वही ।

इरा + धा (धारण करना, पोषण करना) इरा दधाति निरु० वही-- सायण, इरामन्नं तृप्तिकारणं सस्यं दधाति जलप्रदानेन पुष्णाति, ऋ० सं० वही।

इरा + दॄ, इरां दारयति, निरु० वही—सायण, इरामुत्पादयितुं कर्षकमुखेन भूमिं विदारयति, ऋ० सं० वही ।

इरा + धृ (धारण करना) इरा धारयति, निरु० वही—सायण, पोषणमुखेनेरा धारयति विनाशराहित्येन स्थापयति, ऋ० सं० वही ।

इन्दु + द्रु (जाना), इन्दवे द्रवति, निरु० वही—सायण, इन्दुः सोमो वल्लीरसः, तदर्थं यागभूमौ द्रवति, धावति, ऋ० सं० वही ।

इन्दु + रम् (क्रीडा करना, रमना, काँपना), इन्दौ रमते, निरु० वही— सायण, सोमे रमते क्रीडति, ऋ० सं० वही ।

इन् (ईश्वर) + दृ (भये), या द्रु (गतौ), इञ्छत्रूणा दारयिता वा द्रावयिता वा, निरु० वही—सायण, इन शब्दस्येश्वरवाचकस्य अकारलोपे सति नकारान्तम् इन् इति पदं भवति । दृ 'भये' इति धातुः । स च परमेश्वरः शत्रूणा दारयिता भीषयिता वा । 'द्रु गतौ' इति धातुः । शत्रूणां द्रावयिता पलायनं प्रापयिता, ऋ० सं० वही ।

इन्+टङ् (आदर करना), आदरयिता च यज्वनाम्, निरु० वही--सायण, यज्वना यागानुष्ठायिनामादरयिता भयस्य परिहर्ता, ऋ० सं० वही।

बर्गेन्य; श० ब्रा० आदि में स्वीकृत--इन्धी दीप्तौ-धातु से इन्द्र शब्द की संरचना मानते हैं--(रिलीजन ऑफ् वेद, भा० २, पृ० १६६)। मैकडोनेल इन्-दु बूँदो का गिरना--को इन्द्र शब्द की रचना का आधार स्वीकारते हैं। (वे० भा०, पृ० ६६; वे० री०, पृ० ४४)। फादर जिमरामन इन्, इन्व--शक्ति रखना, शासन करना--से इन्द्र शब्द की रचना को उचित बताते हैं। ध्यातव्य है कि इन् या इन्व धातु भारतीय धातु पाठों में उपलब्ध नहीं होती।

२. वीर्याणि--वीरता के कार्य, पराक्रम, विक्रम। वीर विक्रान्तौ + यत्।

३. प्र वोचम्--उद्घोषणा करूँगा, उच्च स्वर से कहूँगा। प्र + वच् + लुङ्।

४. चकार--कृ + लिट् + तिप्, प्र० पु०, ए० व०, किया था।

५. प्रथमानि--पहले, पूर्वकाल में। प्रथ (प्रख्याने) + अमच्, प्रथेरमच् (द० उ० ७.४६, पं० उ० ५.३७)। दे०--प्रथेरट् च (द० उ० ७.२९) इति सिद्धे स्वरार्थं सूत्रम्, प्र० कौ० टी० भाग २, पृ० ६३१। प्रथन्तेऽस्मादिति प्रथमम्। यास्क--प्र + तम,--प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति, निरु० २.६; चतुर्थ, षष्ठ आदि के सादृश्य के कारण प्रथम व्यवहृत होने लगा। तु० अवेस्ता 'फ्रतमो', प्राचीन पारसी-फ्रतम।

६. वज्री-वज्र धारण करने वाला। वज्र-यास्क-वृजी वर्जने (छुड़ाना, अलग करना, निषेध करना),--वज्रः कस्मात्। वर्जयतीति सतः निरु० ३.२। वज् (गतौ) + रन, निपातनात्, ऋज्रेन्द्राग्रवज्र···(द० पा० उ ८.४६, पं० उ० २.३१, सायण, ऋ० सं० १।८।३)। व्रज् (गतौ) + रन् निपातनात्, द० पा० उ० वृ० वही, सायण वही। भानुजिदीक्षित केवल 'व्रज गतौ' से ही इस शब्द की सिद्धि मानते हैं, अ० को० टी० ३.१८४। देवराजयज्वा--वृगक्तेतुमण्यन्तात् रक्, गुणे, प्राप्तस्य रेफस्य लोपः। वर्जयति प्राणैः शत्रून्, अन्ये वर्जयतिमेव विनाशमाहुः विनाशयति शत्रून्--नि०, २.२०।

७. अहन्--मारा, हन् हिंसागत्योः + लङ्।

८. अहिम्--सर्प, मेघ आदि, वृत्र। अहि की अनेकधा व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गयी है : (१) इण् (गतौ--गमन करना) + इन् (उणा० ४।११४)।

(२) (आङ्० + इन् (हिंसा करना,गमन करना) + इण् (उणा० ४।१३३) । देखिए---अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (निरु० २।५।३) । (३) अहि (गमन करना) + इन् (उणा० ४।११४) । अह् (व्याप्त करना) + इन्--अह्नोति व्याप्नोति आकाश दिगन्तराणि वा---आकाश या दिशाओं को व्याप्त करने वाला । हन् + इण्--हिः (मारने वाला), नञ् + हिः--अहिः । असुरवाचक अहि शब्द आद्युदात्त होता है जैसे इस मन्त्र मे अथवा 'अहन्नहि पर्वते शिश्रियाणम्' ऋ० १।३२।२ मे । निघण्टु (१।१०।२१) में अहि शब्द मेघनामों में पठित है । ज्ञातव्य है कि वृत्र शब्द का भी परिगणन यहाँ किया गया है । अवेस्ता मे भी अहिवध का वर्णन है---यो जनत् अजीम द्रहाकॅम् (यो अहन् अहि दशकम्) हओम यश्त, यस्न ८ । वृत्र-युद्ध का निर्देश है, जिसमे इन्द्र वृत्र का वध कर जल को बहने के निमित्त उन्मुक्त कर देता है । तुलनीय--'अहन्निमन्वपस्ततर्द' ऋ० १।३२।१ 'नो अपो वव्रुवांसं वृत्रं जघान्' ऋ० २।१४।२ । लङ् लकार मे आगम में उदात्त होता है, अतः यहाँ 'अ' उदात्तस्वरयुक्त है ।

९. अपः---जल, आप्लृ (व्याप्तौ) + क्विप्, आप्नोतीति आपः, द० पा० उ० । आप्नोतेः क्विप् ह्रस्वत्वं च (७.१, पं० उ० २.५८, सि० कौ० १.७७) । अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्, श० ब्रा० १।१।१।१४ । २।१।१।४ । ४।५।७।७; तु० श० ब्रा० ३।१।१।९ । गौ० ५।१।२ । 'अप्रेऽप्रकेत सलिलं सर्वमा इदम्' ऋ० सं० १०।१२९।३; आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् । ऋ० सं० १०।१२१।७; आपो अग्रे विश्वमायन् । अ० सं० ४।२।६; आपो हवा इदमग्रे सलिलमेवास, श० ब्रा० ११।१।६। १ ।

१०. ततर्द--तृद् (हिंसानादरयोः + लिट् + तिप्, प्र० पु०, ए० व०, हिंसा करना, अनादर करना) टुकड़े-टुकडे कर दिया, काट डाला, छिन्न-भिन्न कर दिया ।

११. वक्षणाः---नदियों को । निघण्टु (१.१३) में नदी वाचक । वक्ष रोषे (क्रोध करना, क्रुद्ध होना)---युच् । क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च; पा० सू ३।२।१५१, सायण । ग्रासमान भी सायण का अनुकरण करते हुए इसी धातु से वक्षणा शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हैं, पर वक्ष धातु का अर्थ, उभार, चढ़ाव, फुलाव,

बढ़ाव आदि मानते हैं। उनके अनुसार वक्ष का मूल आशय शरीर का वह भाग है जिसमे वक्षस्थल, गर्भाशय या कोख है। गाय के सन्दर्भ में इसका अर्थ थन होगा। वक्षस्थल और कोख पर आधृत आलंकारिक अर्थ नदी-प्रवाह और अन्तरिक्ष होता है। पिश्चेल के अनुसार वक्ष्-उक्ष्, सींचना, गीला करना अतएव स्त्रीयोनि अर्थ है, और आलंकारिक अर्थ अन्तरिक्ष, याज्ञिकवेदि, सोमलता, पर्वत पर नदी का प्रवाह, गाय का थन और नदी का प्रवाह है। पिश्चेल का अर्थ विद्वानो को स्वीकार्य नहीं हुआ।

देवराज यज्वा के अनुसार वह् प्रापणे + युच् व्युत्पत्ति है—युच् बहुलम्, वहति प्राप्तिकर्मणः स्यात्—इति माधवः। युच्। प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा।

१२. अभिनत्–भिद्(विदारणे) + लङ् + तिप्, प्र०पु०, ए०व०। भेदन किया।

१३. पर्वतानाम्—पर्व (पूरणे) + अतच्, पर्वतीति–द० पा० उ० वृ० ६।१४, पां० उ० ३।१०३, भृदृशीङ्........इत्यादि सूत्र से। यास्क—पर्व शब्द की संरचना पृ (पालनपूरणयोः) और प्रीञ् (तर्पणे) से करते हैं, पर्व से युक्त पर्वत—पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणतेः प्रीणातेर्वा—निरुक्त १।६। देवराज यज्वा—पृ+ वनिप्—स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् (उ० ४।१०९) पृणान्ति पालयन्ति अवयविनं पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि। यद् वा प्रीणाते-र्बाहुलकात् (पा० ३।३।१), प्रीणयन्ति स्वाश्रयमिति। पर्व + तप्– मत्वर्थीय) —पर्वमरुद्भ्यां तप् वक्तव्यः (वा० ५।२।१२१)। पर्व का अर्थ है सन्धि, जोड। अनेक स्तरो और जोड़ों से युक्त होने के कारण पहाड पर्वत है। नि० १।१० में पर्वत मेघवाचक शब्दों के अन्तर्गत परिगणित है।

छन्द की दृष्टि से वीर्याणि को वीरिआणि अथवा वीरियाणि तथा अन्वपः को अनु अपः पढ़ना चाहिए।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना
अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ २॥

पदपाठः

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रम् । स्वर्यम् । ततक्ष । वाश्राःऽइव । धेनवः । स्यन्दमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अव । जग्मुः । आपः ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

पर्वते शिश्रियाणमाश्रितम् । अहि मेघम् । अहन् हतवान् । अस्मा इन्द्राय स्वर्यं सुष्ठु प्रेरणीयं यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यं त्वष्टा विश्वकर्मा वज्रं ततक्ष । तनूकृतवान् । तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ता आपः समुद्रमञ्जः सम्यगवजग्मुः प्राप्ताः । तत्र दृष्टान्तः । वाश्रा वत्सान् प्रति हम्भारवोपेता धेनव इव । यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत् । शिश्रियाणम् । श्रिञ् सेवायाम् । लिटः कानच् । द्विर्भावहलादिशेषेयङादेशाः । चित इत्यन्तोदात्तत्वम् । स्वर्यम् । ऋगतौ अस्मात् सुपूर्वात् ऋहलोर्ण्यदिति ण्यत् । संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति वृद्ध्यभावः । यद्वा स्वृ शब्दोपतापयोरित्यस्मात् ण्यति पूर्ववद्वृद्ध्यभावः । तित्स्वरितमिति स्वरितत्वम् । वाशयन्त इति वाश्राः वाश्ृ शब्दे । स्फायितञ्चीत्यादिना रक् (उ० २-१३) जग्मुः । उसि गमहनेत्युपधालोपः ॥

हिन्दीभाषान्तर

(इन्द्र ने) पर्वत में निवास करने वाले अहि को मारा । इस (इन्द्र) के लिए त्वष्टा ने गर्जन करने वाले वज्र को रचा । रँभाती हुई (और बछड़ों की ओर दौड़ती हुई) धेनुओं के समान बहती हुई जलराशि नीचे समुद्र की ओर तेजी से जाने लगी ।

टिप्पणियाँ

१. शिश्रियाणम्—श्रिञ् सेवायाम् (आश्रित रहना, निवास करना, प्रतिष्ठित रहना) । कानच् (लिट्) अभ्यास को द्वित्व, इयङ् (शेप के स्थान पर) आदेश । पर्वते शिश्रियाणम्—सभी व्याख्याता इन्द्र तथा वृत्र के संघर्ष के अर्थ को पर्वत के अर्थ का आधार स्वीकारते हैं । निघण्टु में पर्वत मेघ का वाचक है । यास्क ने निरुक्त में पर्वत का अर्थ गिरि तथा मेघ किया है (निरुक्त १।६, २।५) तु. पर्वतेषु क्षियन्तम्, ऋ० सं० २।१२।११ ।

२. त्वष्टा—त्वक्ष् तनूकरणे (तेज करना, निर्माण करना) + तृन् + त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः (निरु०, ८.२, सायण, १.१३.१०, मैकदोनेल वै० टी० वो०, पीटर्सन, वै० हि०, भाग २, पृ० ९८) तक्ष् तनूकरणे + तृन्-तक्षति (सायण, ऋ० सं० १।१३।१०)। त्विष् दीप्तौ (चमकना, तेज करना) + तृन्। त्वेषति—त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः (निरु० ८।२), सायण, माध० धा० वृ० १।७२३। नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ००—उ० उ० २।२।३, पं० उ० २।९५, सि० कौ० २।२६०—इत्यादि सूत्र से तृन् प्रत्ययान्त निपातन। तूर्ण + अशू व्याप्तौ तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः (निरु० ८।२), देवराज यज्वा, नि० ५।२।११। दे०, त्वष्टा देवशिल्पी है। वह देवों के शस्त्र-निर्माण के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि उसके अन्य शारीरिक अंगों का वर्णन नहीं उपलब्ध होता तथापि हाथों अथवा भुजाओं का, जिनसे वह शस्त्र-रचना करता है, प्रायः वर्णन किया गया है। १।८५।९ में उसे इन्द्र के वज्र का निर्माण करने का श्रेय दिया गया है, जिससे वृत्र का वध कर इन्द्र ने जलधाराओं को मुक्त किया—

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्यं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
यत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन् वृत्रं निरपमौब्जदर्णवम्॥

तुलनीय—त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष, ऋ० १।३२।२; तक्षन् त्वष्टा वज्रम्, ५।३१।४; त्वष्टा......वज्रं सहस्रभृष्टिं ववृतच्छताश्रिम्, ६।१७।१०। वह अनेक रूपों का निष्पादक है—देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः, ३।५५।१९। अन्यत्र उसे गर्भ में दम्पती का निर्माता कहा गया है—गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः, ऋ० १०।१०।५। त्वष्टा गर्भ में समस्त रूप का निर्माण करता है—त्वष्टा रूपाणि पिंशतु—१०।१८४।१। वह मनुष्यों, पशुओं के गर्भस्थ बीज को विकसित करता है (१।१८८।९)। त्वष्टा के विरुद प्रायः उसके गुणों का ही ख्यापन करते हैं; व्यक्तित्व का नहीं (देखिए, मैकदोनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० ११६; ओल्डेन बर्ग, Die Religion des Veda, १९२३, पृ० २३७ आदि भी देखिए)। विश्वरूप असुर त्वष्टा पुत्र कहा गया है (ओल्डेन बर्ग, वही, पृ० १४१; कीथ, रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ़ दि वेद एण्ड उपनिषद्, पृ० २०५) अनुवर्ती ग्रन्थों में भी वह समस्त रूपों की रचना करता है—देखिए, तै० ब्रा० १।४।७।१; श० ब्रा० ११।४।३।३; अ० वे० २।२६।१।

३. स्वर्यम्—सु + ऋ गतौ + ण्यत् (ऋहलोर्ण्यत्, पा० ३।१।१२४), सुष्ठु प्रेरणीयम्, सायण—अच्छी तरह से प्रेरणीय, फेंकने के योग्य। स्वृ शब्दोपतापयोः + ण्यत्, शब्दनीयं स्तुत्यम्, शब्द के योग्य, स्तुति के योग्य। तु०; अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय, ऋ० सं० १।६१।६; य ईं ज जान स्वर्यं सुवज्रम्, ऋ० सं० ४।१७।४; त्वष्टा ··· ततक्ष, वज्रम्, ऋ० सं० १।३२।७।

४. ततक्ष—तक्ष् तनूकरणे + लिट् + तिप्, प्र० पु०, ए० व०, तक्षण किया, गढ़ा। प्रारम्भ में तक्ष् और त्वक्ष् धातु सम्भवतः समीकृत थी, तक्ष् की त्वक्ष् अधिकतर सामर्थ्य, प्रभाव को बताती है।

५. वाश्राः—वाशृ शब्दे + रक्; शब्द करती हुई, रँभाती हुई। 'स्फायि-तञ्चि०००'—द० पा० उ० ८।३१, पं० उ० २।१३, सि० कौ० २।१७८। सायण, मा० धा० वृ० ४।५५।

६. धेनवः—धेट् पाने + नु, धयति; धेट् इच्च—द० उ० १।१४५, पं० उ० ३।३४। धिवि प्रीणने—धिनोति प्रीणयति इति धेनुः—धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११।४।

७ स्यन्दमानाः—स्यन्दू प्रस्रवणे + शानच्, प्रवाहित होती हुई।

८. अञ्जः—अव्यय, सीधे, तेजी से, शीघ्रता से—तु० अञ्जः वरासि विभ्वा अभवत्, ऋ० स० १।१९०।२; अञ्जसा शासता रजः १।१३९।४।

९. समुद्रम्—सम् + उत् + द्रु (गतौ) + ड (अन्येष्वपि दृश्यते, पा० ३।२।१०१)। सम् + मुद् (प्रीतौ हर्षे च) + रक् (स्फायितञ्चि००)। सम् + उदक् + रु (मत्वर्थीय)। सम् + उन्दी (क्लेदने—भिगोना, गीला करना) + रक् (द० उ०, स्फायितञ्चि, ८।३१; पं० उ० २।१३; सि० कौ० २।१७८।) समुद्रः कस्मात्—समुद्रवन्ति अस्मादापः, समभिद्रवन्ति एनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवतीति वा, समुनत्तीति वा—निरु० २।३। दे०, देवराजयज्वा, नि० १।३।१५।

छन्द की दृष्टि से स्वर्यम्, सुवर्यम् है।

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ३ ॥

पदपाठः

वृषाऽयमाणः । अवृणीत । सोमम् । त्रिऽकद्रुकेषु । अपिबत् । सुतस्य । आ । सायकम् । मघऽवा । अदत्त । वज्रम् । अहन् । एनम् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

वृषायमाणः वृष इवाचरन्निन्द्रः सोममवृणीत वृतवान् । त्रिकद्रुकेषु ज्योतिर्गौ-रायुरित्येतन्नामकास्त्रयो यागास्त्रिकद्रुका उच्यन्ते । तेषु सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्यांशमपिबत् पीतवान् । मघवा धनवानिन्द्रः सायकं बन्धकं वज्रमादत्त । स्वीकृतवान् । तेन च वज्रेण अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन् हतवान् । वृषायमाणः वृष इवाचरन् । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० ३।१।११) इति क्यङ् । अकृत्सार्वधातुकयोरिति दीर्घः । अदुपदेशाद्धातो-रन्तोदात्तत्वे क्यङन्ताद्धातोरन्तोदात्तत्वम् । सायकम् । षिञ् बन्धने । सिनोति इति सायकः । ण्वुल् । लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । प्रथमजा प्रथम जायते इति प्रथमजाः । जनसनखनक्रमगमो विट् (पा० ३।२।६७) विड्वनो (६-४-४१) रित्यात्वम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

बलवान् वृषभ के समान (इन्द्र ने) सोम को (पीने के लिए) चुना; (उसने) तीन यागों में सोम को पिया । मघवा ने मारक वज्र को स्वीकारा, (तथा उससे) अहियों में सर्वप्रथम जनमने वाले को इससे मारा ।

टिप्पणियाँ

१. वृषायमाणः—वृषा + क्यङ् , (वृषा इव आचरति, वृषायते) बली बैल, साँड़ के समान आचरण करता हुआ ।

२. अवृणीत—वृञ् वरणे + लङ् म० पु० ए० व० । चुना, वरण किया ।

३. सोमम्—सोम—ऋग्वेद में सोम से सम्बद्ध लगभग १२० सूक्त हैं । सोमलता से सम्भवतः ऋग्वेदीय जनों का भी पूर्ण परिचय नहीं था । यदि हिलब्रान्त का यह मत मान लिया जाय कि ऋ० सं० ३।५३।१४ में प्रयुक्त 'नैचाशाख' शब्द सोम का विशेषण है तो यह मानना पड़ेगा कि उसके पत्ते और टहनियाँ नीचे की ओर लटकी रहती थीं । यह

सोमलता पोरों से युक्त बतायी गयी है। सम्भवतः इसमें काँटे भी होते थे। सोम मुञ्जवान् पर्वत पर मिलता था। ब्राह्मणों मे सोम की दिशा उत्तर (तै० ब्रा० ३।११।५।२), पश्चिम (ऐ० ब्रा० १।८) तथा पूर्व (ऐ० ब्रा० १।३) कही गयी है। सोमरस का वर्ण अरुण, हरित या पिंगल, शोण या अरुष कहा गया है। सोम को अवेस्ता में हओम के नाम से वर्णित किया गया है। बल्ची भाषा मे इसे उमान, चीनी मे सिम या सुम कहा गया है। अँग्रेजी भाषा में एफ्रिडा बलगेरिस या साण्टिया बेल-विरोडी के नाम से इसे जाना गया है। लास्सन, म्यूर, हाग, मैक्समूलर, कीथ, मैकडोनेल सोम को सरकोस्टेमा विमिनेल, ऐस्क्लेपियस एसिडा या सरकोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा कहा है। राथ सरकोस्टेमा ऐसीडम को ही सोम के अधिक समीप बताते हैं। डॉ० एचीसन एफेड्रा पेचिक्लाडा को सोम मानते हैं। यह पौधा बलूचिस्तान, हरिरुद घाटी और ईरान के पार्वत्य प्रदेशों में बहुत मिलता है। एफ्रेडा की एक अन्य जाति हुम इबन्दक नाम से प्रसिद्ध है। मैक्समूलर का कथन है कि उक्त पौधे की पिसाई करने पर पर्याप्त मात्रा में रस निकलता है। वाट के अनुसार अफगानी अङ्गूर ही सोम है। राइस के मत में यह गन्ना है। मैक्समूलर और राजेन्द्र लाल मित्र के मत से सोम से यवसुरा का निर्माण किया जाता था। कतिपय अन्य विद्वान् इसे भाँग या सन मानते हैं। कर्मान और येज्द के पारसी जिस पौधे से हूम रस बनाते हैं, उसे हओम से अभिन्न मानते हैं। हिलब्रांत सोम को चन्द्रमा कहते हैं। अनुवर्ती युग में सोम के स्थान पर अन्य पौधों का प्रयोग यज्ञों मे किया जाता था (सोमलता के स्थान पर अन्य लताओं के प्रयोग से सम्बद्ध सन्दर्भ के लिए देखिये, पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, ज० के० आर० का० ओ० रि० ई० : अं० ३१, पृ० २३६)। इसी सोमलता का अधिदेव सोम है। इसकी रूपसंरचना अत्यन्त अस्पष्ट है।

४. त्रिकद्रुकेषु--कदि (अह्वाने रोदने च, 'वैक्लव्ये, वैकल्ये इति चन्द्रः' —क्षीरस्वामी, कन्दति कन्दते वा, शब्द करना, विकल होना) + कु + मृगऽवादयश्च, द० उ० १।१२१; पं० उ० १।३७, कद्रुः एव कद्रुकः, ह्रस्वार्थे स्वार्थे वा कन्। सायण के अनुसार आभिप्लव षडह यज्ञ में होने वाले ज्योति, आयु तथा गो नामक तीन याग, ज्योतिष्टोमगोष्टोमाख्यः त्रिकद्रुका इत्युच्यन्ते—अ० सं०

१८।२।६ सायण, ऋ० १०।१४।१६। ग्रिफिथ त्रिकद्रुक को तीन पानपात्र मानते हैं, पीटर्सन तीन प्याले, ग्रासमान तीन सोम के पात्र (ग्रह) वसतीवरी, एकधना, पूतभृत्। गेल्डनर के अनुसार सम्भवतः त्रिकद्रुक उस स्थान का नाम है, जहाँ इन्द्र ने सोमभरे तीन सरों को पीकर खाली कर दिया था—

त्री सरांसि मघवा सोम्या अपाः, ऋ० सं० ५।२९।८।

त्रीणि सरांसि पृश्नयः दुदुह्रे वज्रिणे मधु, ऋ० सं० ८।७।१०।

५. सायकम्—षो (अन्तकर्मणि—अन्त करना, मारना, स्यति) + ण्वुल्; ण्वुल्तृचौ, पा० ३।१।१३३; आतो युक् चिण्कृतोः, पा० ७।३।३३; युक्। सायक शब्द नि० (२।२०।१७) में वज्रवाचक शब्दों में परिगणित है। यहाँ यह विरुद के रूप में प्रयुक्त है, जो वज्र की मारकशक्ति का प्रख्यापन करता है। इन्द्र वज्र को लेकर वृत्र को तुरन्त मारता है। तुरन्त होने वाली मारणक्रिया ही सायक को वज्र की विरुदता में स्थापित करती है। सायण ने (देवराजयज्वा भी) षिञ् (बन्धने—बाँधना) + ण्वुल् से सायक शब्द की संरचना करते हैं। सायण के अनुसार सायक का अर्थ है बाँधने वाला (वज्र)। चाहे जो व्युत्पत्ति मानी जाय, सायक वज्र के विरुद रूप में ही प्रयुक्त है, यह निर्विवाद प्रतीत होता है।

६. मघवा—मंह अथवा मह + कनिन्,—मन्-विशप्सन् परिज्मन् मातरिश्वन्-मघवन्, द० उ० ६।५५, पं० उ० १।१४६। मंह धातु दान अर्थ में तथा मह पूजा अर्थ में प्रयुक्त होती है। नि०—मघ (मंहतिर्दानकर्मा + क, घञर्थे कविधानम्, ३।३।५८ वा०) धनवाचक शब्दों में परिगणित है (२।१०।१)—प्रशस्तं मघमस्यास्तीति—मघ + मतुप्। तु०—मघमिति धननामधेयम्, निरु० १।३।

यदि॑न्द्राह॑न्प्रथम॒जामही॑ना॒-

मान्मा॒यिना॒ममि॑नाः॒ प्रोत मा॒याः।

आत्सूर्यं॑ ज॒नय॒न्द्यामु॒षासं॑

ता॒दीत्ना॒ शत्रुं॒ न किला॑ विवित्से ॥ ४ ॥

पदपाठः

यत् । इन्द्र । अहन् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् । आत् । मायिनाम् । अमिनाः । प्र । उत । मायाः । आत् । सूर्यम् । जनयन् । द्याम् । उषसम् । तादीत्ना । शत्रुम् । न । किल । विवित्से ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

उत अपि च हे इन्द्र यत् यदा अहीना मेघाना मध्ये प्रथमजा प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन् हतवानसि । आत् तदनन्तरं मायिना माययोपेतानामसुराणा सम्बन्धिनीर्मायाः प्रामिनाः प्रकर्षेव नाशितवानसि । अनन्तरं सूर्यमुषसम् उषः-कालं द्यामाकाशं च जनयन्नुत्पादयन्नावरकमेघनिवारणेन प्रकाशयन् वर्तते । तादीत्ना तदानीम् । आवरकान्धकाराभावाच्छत्रुं घातकं वैरिणं न विवित्से किल । त्वं न लब्धवान् खलु । अहन् हन्तेर्लङि हल्ङ्याब्भ्य इति सिलोपः । अडागम उदात्तः । यद्वृत्तयोगादनिघातः । मायिनाम् । मायाशब्दस्य व्रीह्यादिषु पाठात् व्रीह्यादिभ्यश्च (पा० ५।२।११६) इति मत्वर्थीय इनिः । अमिनाः । मीञ् हिंसायाम् क्रैयादिकः । मीनातेर्निगमे (पा० ७।३।८१) इति ह्रस्वत्वम् । तादीत्ना । तदानीमित्यस्य पृषोदरादित्वाद्वर्णविपर्ययः । किल । निपातस्य च । (पा० ६-३-१३६) इति दीर्घत्वम् । विवित्से । विद्लृ लाभे । क्रादिनियमात् प्राप्त इट् व्यत्ययेन न भवति ॥

हिन्दीभाषान्तर

इन्द्र, (तुमने) जिस समय अहियो में सर्वप्रथम जनमने वाले को मारा, और माया करने वालों की माया को भलीभाँति नष्ट कर दिया, उस समय सूर्य, द्युलोक (तथा) उषा को जनमाते हुए (तुमने) निश्चित रूप से (किसी) शत्रु को नहीं पाया ।

टिप्पणियाँ

१. यत्-यदा, जिस समय ।

२. आत्—अन्य शब्दों के साथ सम्बद्ध होकर यह काल की निरन्तरता को द्योतित करता है—अतएव इसका अर्थ होगा, उसके तुरन्त बाद, तब ।

३. मायिनाम्–मायी, मायावी, माया करने वाले। मा माने, माङ् माने शब्दे च + य–माच्छाससिसूभ्यो यः (द० उ० ८।१२, पं० उ० ४।११८, सि० कौ० ४.५५९)। माया + इनि, व्रीह्यादिभ्यश्च, पा० सू० ५।२।११६।

४. अमिनाः—मीञ् (हिंसायाम्) + लङ्, प्र० पु०, ए० व०, मारा, नष्ट कर दिया।

५. सूर्यम्—सृ (गतौ) या षू प्रेरणे + क्यप्, राजसूयसूर्य.., पा० ३।१।१४। सरतेर्वा, सुवतेर्वा (निरु०, १२।२)। सूर्य शब्द सुवीर्य से भी व्युत्पन्न माना गया है—तं (इन्द्रम्) देवा अब्रुवन् सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत इति। तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्, तै० ब्रा० २।२।१०।४।

बृहद्देवता में सु + ईर (क्षेपे, फेंकना, प्रेरित करना) भी उपलब्ध है—

सूर्यः सरति भूतेषु सुवीरयति तानि वा।
सु ईर्यत्वाय यात्येषु सर्वकार्याणि सन्दधत् ॥७।१२८।

शंकर–सूर्यः सुष्ठु ईरयते रसान् रश्मीन् गुणान् धियो वा जगतः, बृ० उ० ५।१५। सूते श्रियमिति सूर्यः; सूतेः सुवतेर्वा सूर्यशब्दो निपात्यते, विष्णु स० ना० १०७। रसानां रश्मीनां प्राणाना च जगत ईरणात् सूर्यः, छां० उ०, ३।१७।७। तु०–शश्वत् सूर्यमानात् सूर्यः, मै० उ० ६।७।

हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि पठ्यते।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते ॥

—सूर्यसिद्धान्त, १२।२५

स्वर्, प्रकाश से, आधुनिक विद्वान्, सूर्य शब्द की निष्पत्ति मानते हैं। इस दृष्टि से गोपथ ब्रा० तुलनीय—एष ह वै सूर्यो भूत्वामुष्मिंल्लोके स्वरति, गो० ५।५।१४।

६. उषासम्—उच्छी विवासे–समाप्त करना, दूर करना; (समाप्तिर्विवासः, क्षीरस्वामी) + असि; उषाः कस्मादुच्छतीति, निरु० २.६। वश (कान्तौ, दीप्त होना, चमकना) वष्टि इति। आधुनिक जन इसे वस् मानते हैं। उष् (दाहे, जलाना) ओषत्यन्धकारम्। संहितापाठ में दसवाँ अक्षर होने के कारण 'उषसम्' का 'ष' दीर्घ हो गया है—एकादशिद्वादशिनोर्लघावष्टममक्षरम्। उदये संहिताकाले, ऋ० प्रा० ८.३६, दशमं चैतयोरेवम्, ८.३८।

७. तादीत्ना—तदीत्न से सम्बद्ध, तदानीम्। उस समय।

८. शत्रुम्—शद्लृ (शातने, काटना, विशीर्ण करना; 'शद्लृ शातने विशीर्णताया वर्त्तते'—मैत्रेय) + त्रुन् ('तृशदिभ्या त्रुन्'; सायण, मा० धा० वृ० १.५८४) अथवा क्रुन्, 'रुशातिभ्यां क्रुन्' द० पा० उ०, १.१५९, पं० उ० ४.११२। सि० कौ० ४.५५३। निरुक्त मे शत्रु शब्द शमु शान्तौ धातु से भी सिद्ध स्वीकारा गया है—इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा. २.५।

९. किला—किल, पूर्व शब्द पर बल देने वाला अव्यय, पाद मे आठवॉ अक्षर होने के कारण दीर्घ।

१०. विवित्से—विद्लृ (लाभे, प्राप्त करना) लिट्, प्र० पु०, ए० व०।

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंस-

मिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा-

हिः शयत उपपृक्पृथिव्याः॥ ५॥

पदपाठः

अहन्। वृत्रम्। वृत्रऽतरम्। विऽअंसम्। इन्द्रः। वज्रेण। महता। वधेन। स्कन्धांसिऽइव। कुलिशेन। विऽवृक्णा। अहिः। शयते। उपऽपृक्। पृथिव्याः॥ ५॥

सायणभाष्यम् ५

अयमिन्द्रो वज्रेण सम्पादितो यो महान् वधः तेन वज्रेण वृत्रतरम् अतिशयेन लोकानामावरकमन्धकाररूपम्। यद्वा। वृत्रैरावरणैः सर्वान् शत्रूंस्तरति तम्। वृत्रमेतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतांसं छिन्नबाहुर्यथाभवति तथा अहन् हतवान्। अंसच्छेदे दृष्टान्तः। कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतः छिन्नानि स्कन्धांसीव। यथा वृक्षस्कन्धाश्छिन्ना भवन्ति तद्वत्। तथा सति अहिर्वृत्रः पृथिव्या उपरि उपपृक् सामीप्येन संपृक्तः शयते शयनं करोति। छिन्नकाष्ठवद्भूमौ पततीत्यर्थः।

वृत्रतरम् । वृतु वर्तने स्फायितञ्चि (उ० १३-१२) इत्यादिना भावे रकप्रत्ययान्तो वृत्रशब्दः । वृत्रेणावरणेन सर्वं तरतीति वृत्रतरः । तरतेः पचाद्यच् (पा० ३-१-१३४) परादिश्छन्दसि बहुलम् (पा० ६-२-१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । तरपि तु व्यत्ययेन । व्यंसम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतस्वरितत्वे उदात्तस्वरितयोर्यणः (पा० ८-२-४) इति स्वरितत्वम् । वधेन । हनश्च वध इति भावे अप् । तत्सन्नियोगेन धातोर्वधादेशः । स चान्तोदात्तः । अन्त्यस्याकारस्य अतो लोपः (पा० ६-४-४८) इति लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्रत्ययस्योदात्तत्वम् । विवृक्णा । ओव्रश्चू छेदने । कर्मणि निष्ठा । यस्य विभाषा (पा० ७-२-१५) इतीट्प्रतिषेधः । आदितश्च (पा० ८-२-४५) इति परत्वान्निष्ठानत्वम् । ततो व्रश्चभ्रस्जेति० (पा० ८-२-३६) षत्वे प्राप्ते निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः । (पा० ८-२-६२) इति नत्वस्य सिद्धत्वेन झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति । कुत्वे तु कर्तव्ये तदसिद्धमेव (पा० ८-२ २१) इति चोः कुः (पा० ८-२-३०) इति कुत्वम् । शेश्छन्दसि बहुलमिति शेर्लोपः । गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतस्वरत्वम् । शयेत । बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः । पृथिव्याः । उदात्तयणो हल्पूर्वात् (पा० ६-१-१७४) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

हिन्दी-भाषान्तर

इन्द्र ने महान् अस्त्र वज्र से बाहुविहीन महान् शत्रु वृत्र को मारा। कुठार से काटे गये (वृक्ष के) तनों के सदृश (वह) अहि पृथ्वी से सटकर सो रहा है।

टिप्पणियाँ

१. वृत्रम्—यास्क ने इसकी अनेक व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

वृञ् (घेरना, आच्छादित करना), वृतु (वर्तने, बरतना), वृधु (वृद्धौ, बढ़ना) धातुओं से वृत्र बनता है।

वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्ततेर्वा, वर्धतेर्वा । यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते–निरु० २.५ ।

वृञ् धातु से वृत्र शब्द की संरचना का प्रतिपादन श० ब्रा० में है—वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये, यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी । स यदिदं सर्वं वृत्वा

शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम । १.१.३.४ । यदिमा लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, तै० सं० २.५.२ ।

वृतु और वृधु धातु से वृत्र शब्द यजुर्वेदीय संहिता और ब्राह्मण में उपलब्ध है—यदवर्तयत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् । स इषुमात्रमिषुमात्रं विष्वङ् विवर्धत, तै० स० २.५.२ । 'स यद् वर्त्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः । इषुमात्रमेव तिर्यङ् वर्धद्, इषुमात्रं प्राङ्' श० ब्रा० १.६.३.९.११ ।

वृञ् वरणे + क्त्रन्—'अमिचिमिभिदिशंसिभ्यः क्त्रन्' उ. । उद्धृत देवराजयज्वा, नि० १.१०.२८ । दशपादी उणादि मे या पंचपादी मे यह सूत्र क्त्र प्रत्यय करता है, और जिन धातुओ से क्त्र प्रत्यय होता है, उनका परिगणन प्रत्यक्ष है । इसमें वृञ् का अनुल्लेख है, अतएव देवराज की उपर्युक्त व्युत्पत्ति कैसे सम्भव है ? इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यातव्य है कि वृत्र शब्द अन्तोदात्त है; यदि क्त्रन् प्रत्ययान्त होगा तो नित् होने के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६.१.१९७) से वृत्र के प्रथम अक्षर में उदात्तस्वर होगा । वृतु गतौ + रक् (देवराजयज्वा), वृतु वर्तने + रक्, स्फायितञ्चि; द० उ०, ८.३१; पं० उ० २.१३; सि० कौ० २.१०८ । चन्नवीर वृतु वरणे धातु से वृत्र शब्द की निष्पत्ति मानते हैं—का० कु० ३.१०१ । वृधु वृद्धौ + क्त्रन्, बाहुलकात् (देवराज), यह प्रत्यय करने पर वृत्र आद्युदात्त हो जायगा । 'बहुल' का ही आश्रय लेना है तो रक् प्रत्यय क्या अनुचित है ?

नैरुक्त वृत्र को मेघ मानते हैं और ऐतिहासिक त्वाष्ट्र असुर—तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । आप् और ज्योति के मिश्रण से वर्षा होती है, अर्थ सामीप्य के लिए उसे युद्धवर्णन के रूप में प्रस्तुत किया गया है—अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति—नि० २.५ ।

२. वृत्रतरम्—वृत्र + तरम् 'महान् शत्रु' शत्रुओं में बड़ा, श्रेष्ठ ।

३. व्यंसम्—वि + अंस + घञ् (अकर्त्तरि च कारके, पा० ३.३.१९) । विगतौ विभिन्नौ वा अंसौ यस्य स व्यंसः ।

वि + अम् (गतौ, अयति अभ्यते वा) + सन् (उन्दमि गुधिकुषिभ्यः किच्च, द० उ० ९.२८; पं० उ० ३.६८ उज्ज्वलदत्त) । वि + अम + सन् (सि० कौ० ५.१०९, अमेः सन्; भानु० २.६.७८)

'अहन् वृत्र वृत्रतरं व्यंसम्' के अर्थ में विवाद है। सायण व्यंस और वृत्रतर को वृत्र का विशेषण मानते हैं और अर्थ करते हैं—(लोकों को ढँकनेवाले) अन्धकार के रूप में स्थित वृत्र को छिन्नबाहु कर मारा। ग्रिफिथ के अनुसार वृत्रतर = वृत्रों में अत्यन्त नीच: मैकदोनेल व्यंस को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हैं। ऋग्वेद में यह शब्द छह बार प्रयुक्त है, जिसमें पाँच बार व्यक्तिवाचक है। वृत्रतर का अर्थ मैकदोनेल की दृष्टि में भी वही है जो ग्रिफिथ मानते हैं। गेल्डनर 'वृत्रतरं व्यंसम्' का अर्थ महत्तम शत्रु करते हैं। पीटर्सन का भी यही मत है। परांजपे वृत्रविजेता अर्थ मानते हैं। वस्तुतः व्यंसम् को वृत्र का विशेषण मानना युक्तिसंगत है; क्योंकि आगे आयी हुई उपमा—'स्कन्धांसीव'—की सार्थकता इसी से है।

४. वज्रेण महता वधेन—महान् अस्त्र वज्र के द्वारा।

५. स्कन्धांसीव कुलिशेन विवृक्णा—कुलिशेन—कुठार, कुल्हाडी के द्वारा—कुलि + शीङ् (स्वप्ने, सोना), (अन्येभ्यो...वा० ३.२.१०१)। कुल + शद्लृ (शातने) + क ('आतोऽनुपसर्गे कः', पा० ३.२.३.)—क्षीरस्वामी। कुलपर्वतान् श्यति पक्षच्छेदेन तनूकरोति—स्कन्दस्वामी। कुल + णि + शद्लृ + ड (अन्येभ्यो...वा० ३.२.१०१)—मेघस्यान्तं पर्वतस्य वा समुच्छ्रिताः प्रदेशा कुलानीव, देवराज यज्वा, नि० २.२०.१२। कु + लिश अल्पीभावे (कुत्सितमीषद् वा लिशति) + कः (इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः, पा० ३.१.१३५)। कुलिश इति वज्रनाम कुलशातनो भवति, निरु० ६.४।

स्कन्धासि इव—स्कन्दिर गतिशोषणयोः) + घञ् (कर्मणि, पा० ३.३.१९) —स्कन्धो वृक्षस्य, समास्कन्नो भवति, निरु० ६.४। तना—तनों के सदृश।

विवृक्णा—वि + ओव्रश्चू (छेदने, काटना) + क्त, विवृक्णानि, (स्कन्धासि) काटे गये। कटे हुए।

६. अहिः शयते उपपृक् पृथिव्याः—उप + पृची (सम्पर्के) + क्विप्। पृक् का अर्थ है सम्पृक्त, मिला हुआ, सटा हुआ। तु०, वीरेषु वीरान् उप पृङ्धि, ऋ० सं० २.२४.१५। उप इदमुपपर्चनं आसु गोषु उप पृच्यताम्। पृथिव्याः आपृक् अमुया शयन्ते, १०.८९.१४।

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे
महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।
नातारीदस्य समृतिं वधानां
सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ ६ ॥

पदपाठः

अयोद्धाऽइव । दुःमदः । आ । हि । जुह्वे । महाऽवीरम् । तुविऽबाधम् । ऋजीषम् । न । अतारीत् । अस्य । सम्ऽऋतिम् । वधानाम् । सम् । रुजानाः । पिपिषे । इन्द्रऽशत्रुः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

दुर्मदो दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रः अयोद्धेव योद्धृरहित इव इन्द्रमा जुह्वे हि आहूतवान् खलु । कीदृशमिन्द्रम् । महावीरं गुणैर्महान् भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहूना बाधकमृजीषं शत्रूणामपार्जकम् । अस्यदृशस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनो ये शत्रुवधाः सन्ति तेषां वधाना समृतिं संगमं नातारीत् । पूर्वोक्तो दुर्मदः तरीतुं नाशक्नोत् । इन्द्रशत्रुः इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशो वृत्रः इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् रुजानाः नदीः समिपिपिषे सम्यक् पिष्टवान् । सर्वान् लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन नदीना कूलानि तत्रत्यं पाषाणादिकं च चूर्णीभूतमित्यर्थः । अयोद्धाऽइव । न विद्यते योद्धास्येति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं समासान्तविधेरनित्यत्वात् । (परि० ८४) नद्यृतश्च (पा० ५-४-१५३) इति कबभावः । जुह्वे । ह्वेञ् स्पर्धाया शब्दे च । अभ्यस्तस्य च (पा० ६-१-३३) इति सम्प्रसारणम् । उवङादेशाभावश्छान्दसः यद्वा छन्दस्युभयथेति सार्वधातुकसंज्ञाया हुश्नुवोः सार्वधातुके (पा० ४।६।८७) इति यणादेशः । अत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा (प० १०५) लक्ष्यानुरोधान्नाश्रीयते । इतरथा हि आजुह्वान इत्यादिषु यणादेशो न स्यात् । न चैवं सति सातये हुवे वाम् (ऋ० ६-७-१३) इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यम् । अनेकाच्त्वाभावात् । अनेकाच इति हि तत्रानुवर्तते । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । हिचेति

निघातप्रतिषेधः । महावीरं महांश्चासौ वीरश्च महावीरः । आन्महतः० (पा० ६-३-४६) इति आत्वम् । तुविबाधम् । बाधृ विलोडने । तुवीन् प्रभूतान् बाधते इति तुविबाधः पचाद्यच् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् समृतिम् । तादौ चेति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । रुजानाः रुजो भङ्गे । रुजन्ति कूलानीति रुजानाः नद्यः रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि (नि० ६-४) इति यास्कः । नद्यः रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि (नि० ६-४) इति यास्कः । अदुपदेशाल्लसार्वधातु-व्यत्ययेन शानच् । तुदादिभ्यः शः । नुमभावश्छान्दसः । अदुपदेशाल्लसार्वधातु-कानुदात्तत्वे विकरणस्वरः । पिपिषे । पिष्लृ सञ्चूर्णने । व्यत्ययेन लिट् । इन्द्रशत्रुः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

दर्पयुक्त, अशक्त योद्धा के सदृश (वृत्र ने) सबको पराभूत करने वाले (और) सोम की आखिरी बूँद तक को पी जाने वाले महावीर (इन्द्र) को ललकारा । (परन्तु वह वृत्र) उस (इन्द्र) के अस्त्रों की गति (प्रहार) से पार न पा सका । जिसका शत्रु इन्द्र है उस (वृत्र) ने (गिरकर) नदियों (के तटों) को पीस डाला ।

टिप्पणियाँ

१. अयोद्धेव दुर्मदः—अयोद्धा इव, सायण, बर्गेन्य, जिमरमान इसे बहुव्रीहि समास कहते हैं, न विद्यते योद्धा अस्येति । ग्रासमान, गेल्डनर, वाकरनागल, ओल्डेनबर्ग इसे तत्पुरुष मानते हैं, न योद्धा इति । तृन् प्रत्ययान्त शब्द नञ् (अ, अन्) के साथ समस्त होने पर विकल्परूप में अन्तिम वर्ण में उदात्तस्वर से युक्त होते हैं (विभाषा तृन्नतीक्ष्णशुचिषु, पा० ६.२.२६१; नञ्सुभ्याम्, ६.२.१७२)। विल्सन, अयोद्धा—जिसका जोड़ीदार कोई दूसरा योद्धा न हो; ग्रिफिथ, निर्बल योद्धा; पीटर्सन, असमर्थ योधा की तरह । दुर्मदः—सायण; विल्सन, दर्पयुक्त, मिथ्याभिमानी; ग्रिफिथ, पागल; पीटर्सन, नशे में धुत, मतवाला ।

२. जुह्वे—हु पुकारना, ललकारना + लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

३. ऋजीषम्—इस शब्द का प्रयोग केवल यहीं मिलता है । इन्द्र को ऋजीषी कहा गया है, ऋजीषी वज्री, ऋ० सं० ५.४०.४, दे० १०.९८.१। ऋजीषी का अर्थ है सोम का ऋजीष (तलछट) सहित पी जाने वाला । निरु० के

अनुसार छाने गये या स्वच्छ किये गये सोम के अवशिष्ट भाग को ऋजीष कहते हैं—यत् सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम् अपार्जितं भवति (९.७)—रसादन्यदसारमतिरिच्यते तद् ऋजीषम् (दुर्ग)। इन्द्र को ऋजीषी इसलिए कहा जाता है कि उसके घोड़ों को ऋजीष मिलता है—हर्योरस्य स भागः (निरु०), अश्वयोरस्येन्द्रस्य स भागो यदृजीषम् (दुर्ग)। अर्ज्यते तदिति ऋजीषम्, अर्ज अर्जने + ईषन्, अर्जेर्ऋज च, द० उ० ९.११, पं० उ० ४.२०, सि० कौ० ८.४७६। गेल्डनर, ग्रासमान, ऋञ्ज; निर्देश देना से ऋजीषी शब्द बनाते हैं।

४. तुविबाधम्—तुवीन् प्रभूतान् बाधते इति तुविबाधः-शक्तिशालीबाधक। तुवि (शक्तिसम्पन्न, प्रभूत, प्रचुर) + बाधृ (विलोडने) + अच् (पचादि)। तुवि नि० (३.१.२) में बहुनामों में पठित है। वृद्ध्यर्थक तवतेः सौत्राद्धातोः इ-प्रत्ययः।

५. अतारीत्—तॄ (तरणसम्प्लवनयोः) + लुङ् + प्र० पु०, ए० व०, पार किया।

६. समृतिम्—सम् + ऋ (गतौ) + क्तिन्, संगम। वधानां समृतिम्। शस्त्र की गति को (प्रहार को, तु. समर, अरि)।

७. रुजानाः—रुजो (भंगे, भंग करना, तोड़ना) + शानच् (व्यत्यय से); तटों को तोड़ने वाली नदियाँ—रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि, निरु० ६.१। नि० १.१३.८ में रुजाना नदीवाचक शब्दों में परिगणित है। सम्पिपिषे-पिष्, चूरचूर कर देना, पीसना, लिट् + प्र० पु०, ए० व०—को कर्तृवाच्य मानकर सायण रुजानाः को उसका कर्म मानते हैं। ब्लूमफील्ड, ओल्डेनबर्ग और गेल्डनर सम्पिपिषे को भाववाच्य मानकर 'रुजानाः' को 'इन्द्रशत्रुः' का विरुद मानते हैं। उपर्युक्त योरोपीय वेदवित् अपनी भ्रान्त उपपत्ति पर आधृत होकर अनेक व्याख्याभास प्रस्तुत करते हैं। ब्लूमफील्ड आवृत्ति लोर (हिपोलोजी) से रुजान + आस—भग्नमुख, रुजान + नास्, टूटी हुई नाक वाला अर्थ सिद्ध करते हैं। ओल्डेनबर्ग के अनुसार—रुजा + अनास् (वज्रप्रहार के कारण रुजा—पीड़ा से अनास्, मुखरहित या नासिकाविहीन); गेल्डनर, रुज + अनसे (अनस्, बैलगाड़ी को तोड़ने वाला); रुज + नास् (टूटी हुई नाक वाला)। पिटर्सन, गेल्डनर का अनुकरण करते हुए रुजानाः का अर्थ रथभंजक करते हैं।

८. इन्द्रशत्रुः—इन्द्रः शत्रुः (शातयिता) यस्य स इन्द्रः। इन्द्र है मारने वाला जिसका, जिसका शत्रु इन्द्र है।

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र-
मास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूष-
न्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ७ ॥

पदपाठः

अपात् । अहस्तः । अपृतन्यत् । इन्द्रम् । आ । अस्य । वज्रम् । अधि । सानौ । जघान । वृष्णः । वध्रिः । प्रतिऽमानम् । बुभूषन् । पुरुऽत्रा । वृत्रः । अशयत् । विऽअस्तः ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम् ७

अपात् वज्रेण छिन्नत्वात्पादरहितः अहस्तः हस्तरहितो वृत्रः इन्द्रमुद्दिश्य अपृतन्यत्। पृतनां युद्धमैच्छत्। द्वेषाधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवानित्यर्थः। अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे अधि उपरि वज्रं जघान इन्द्र आभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान्। अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः। वध्रिः छिन्नमुष्कपुरुषः वृष्णो रेतःसेचनसमर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभूषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा न शक्नोति तद्वदयमितिशेषः। सवृत्रः पुरुत्रा बहुष्ववयवेषु व्यस्तः विविधं क्षिप्तः ताडितः सन् अशयत् भूमौ पतितवान्। अपात्। बहुव्रीहौ पादशब्दस्यान्त्यलोपश्छान्दसः। अहस्तः। बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। अपृतन्यत्। सुप आत्मनः क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्येत्यन्त्यलोपः। बुभूषन्। सनिग्रहगुहोश्च (पा० ७।२।१२) इतीट्प्रतिषेधः। पुरुत्रा। देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् (पा० ५।४।५६) इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः। अशयत्। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। बहुल छन्दसीति शपो लुगभावः। व्यस्तः। असु क्षेपणे इत्यस्मात् कर्मणि क्तः। यस्य विभाषेतीट्प्रतिषेधः। गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। संहितायामुदात्तस्वरितयोर्यण् इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

पैरों, (तथा) हाथो से हीन (वृत्र) ने इन्द्र से समर करना चाहा; (इन्द्र ने) उस (वृत्र) के कन्धे पर वज्र से प्रहार किया। नपुंसक वृत्र

बलवान् के समान बनने की इच्छा करता हुआ—अनेक स्थानों में (अंगों द्वारा) बिखर कर सो गया।

टिप्पणियाँ

१. अपात्, अहस्तः—ब० व्री० समास, पैरो से रहित, हाथो से रहित। तु०—वृत्रोऽथ यदपात् समभवत् तस्मादहिः—श० ब्रा० १।६।३।९।

२. अपृतन्यत्—पृतनाम् आत्मन ऐच्छत्—पृतना + क्यच्—पृतन्य + लङ्, प्र० पु०, ए० व०। युद्ध करने की इच्छा की, लड़ना चाहा।

३. सानौ—षणु दाने + ञुण्, षण् सम्भक्तौ + ञुण् (सनोति, सनति), दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्, द० उ० १।८८, पं. उ० १।३, सि० कौ० १।३। सनोति ददाति सुखमिति सानुः, क्षीरस्वामी, अ० को० २।३।५। षणु + युण्, दृसनिजनि, भानुजिदीक्षित, अ० को०, वही। सानु समुच्छ्रितं भवति, समुन्नमिति वा, निरु० २।७। सानु पर्वत की चोटी को कहते हैं, क्योंकि वह ऊपर की ओर उठी होती है या ऊपर की ओर प्रेरित होती है। सायण, सानु सदृशे प्रौढस्कन्धे—सानु के समान दृढ़ कंधे, विल्सन सायण का अनुकरण करते हैं। ग्रिफ़िथ, कन्धे और पीटर्सन, पीछे, पीठ पर।

वज्रम् अस्य सानौ अधि जघान—(इन्द्र ने) वज्र से इसके कन्धे के ऊपर प्रहार किया।

४. जघान—हन् (हिंसागत्योः) + लिट्, प्र० पु०, ए० व०। मारा, वध किया, हना।

५. वध्रिः—नपुंसक, बधिया। प्रतिमानं बुभूषन्—प्रतिरूप बनने की इच्छा करता हुआ, जोड़ीदार होने की लालसा रखता हुआ।

६. पुरुत्रा—दे० वाक्-सूक्त ३, टिप्पणी।

७. अशयत्—शीङ् (स्वप्ने) + लङ्, प्र० पु०, ए० व० [सो गया, गिर पड़ा.।]

८. व्यस्तः—वि + असु (क्षेपे, फेंकना, बिखर जाना) + क्त—विविध स्थानों में गिरा हुआ, फेंका गया, प्रक्षिप्त।

नुदं न भिन्नममुया शयानं
मनोरुहाणा अति यन्त्यापः ।
याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठ-
त्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥ ८ ॥

पदपाठः

नुदम् । न । भिन्नम् । अमुया । शयानम् । मनः । रुहाणाः । अति । यन्ति । आपः । याः । चित् । वृत्रः । महिना । परिऽअतिष्ठत् । तासाम् । अहिः । पत्सुतःऽशीः । बभूव ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

अमुयामुष्यां पृथिव्यां शयानं पतितं मृतं वृत्रमापो जलानि अति यन्ति अतिक्रम्य गच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तः । भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव । यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्याः कूलं भित्त्वातिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत् । कीदृश्य आपः । मनोरुहाणाः । नृणा चित्तमारोहन्त्यः । पुरा वृत्रे जीवति सति तेन निरुद्धा मेघस्थिता आपो भूमौ वृष्टा न भवन्ति तदानीं नृणा मनः खिद्यते । मृते तु वृत्रे निरोधरहिता आपो वृत्रशरीरमुल्लङ्घ्य प्रवहन्ति तदा वृष्टिलाभेन तु मनुष्यास्तुष्यन्तीत्यर्थः । तदेतदुत्तरार्धेन स्पष्टीक्रियते । वृत्रो जीवनदशायां महिना स्वकीयेन महिम्ना याश्चित् या एव मेघगता आपः पर्यतिष्ठत् परिवृत्य स्थितवान् । अहिर्वृत्रो मेघः तासामपां पत्सुतः शी पादस्याधः शयानो बभूव । यद्यप्यपां पादो नास्ति तथाप्यद्भिर्वृत्रस्याभिलङ्घितत्वात् पादस्याधः शयनमुपपद्यते । भिन्नम् । रदाभ्यां निष्ठातो नः (पा० ८।२।४२) इति नत्वम् । अमुया । सुपां सुलुगिति सप्तम्या याजादेशः । शयानम् । शीङ् सार्वधातुके गुणः (पा० ७।४।२१) धातोर्ङित्त्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । रुहाणाः । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे । व्यत्ययेन शानच् । कर्तरि शपि प्राप्ते व्यत्ययेन शः । अनित्यमागमशासनमिति वचनान्मुमभावः । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरे प्राप्ते धातुस्वरः । महिना । मह पूजायाम् । सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११७) इतीन्, प्रत्ययः ।

व्यत्ययेन विभक्तेरुदात्तत्वम् । यद्वा महिना महिम्ना । महच्छब्दस्य पृथ्व्यादिषु पाठात्तस्य भाव इत्येतस्मिन्नर्थे पृथ्व्यादिभ्य इमनिज्वा (पा० ५।१।१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः । टेरिति टिलोपः । चित इत्यन्तोदात्तत्वम् । तृतीयैकवचने अल्लोपे सति उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्योदात्तत्वम् । मकार लोपश्छान्दसः । पत्सुतः शीः । पादस्याधः शेत इति पत्सुतःशी । क्विप् चेति क्विप । तसि पद्वन्नित्यादिना पादशब्दस्य पदादेशः । शस्प्रभृतिष्विति प्रभृतिशब्दः प्रकारवचन इति शलादोष-णीत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति (का० ६।१।६३) इत्युक्तत्वात् । मध्ये सु इति शब्दोपजनश्छान्दसः । यद्वा पादशब्दस्य सप्तमीबहुवचने पदादेशे कृत इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ५।३।१४) इति सप्तम्यर्थे तसिल् । लुगभावश्छान्दसः ॥

हिन्दीभाषान्तर

मन को आकर्षित करता हुआ जल, विभक्त नद के समान, इस (पृथ्वी) पर सोए हुए (वृत्र) को अतिक्रान्त करता हुआ बह रहा है । वृत्र अपने पराक्रम से जिस जल को चारो ओर से घेरे हुए था, अहि (आज) उसी (जल) के पैरों के नीचे सोने वाला बन गया है ।

टिप्पणियाँ

१. नदम्—णद् (अव्यक्ते शब्दे) + अच् (पचादि), बड़ी नदी जैसे शोणभद्र (सोन) को महानद कहते हैं । भिन्नम्-भिदिर् (विदारणे) + क्त । नदं न भिन्नम्—छिन्न-भिन्न, बटे हुए नद के समान (न उपमावाचक) ।

२. अमुया—अमू (अदस्) से संरचित । सायण, अमुष्यां पृथिव्याम्, इस पृथ्वी पर, विल्सन भी इसी अर्थ को मानते हैं । गेल्डनर, इस प्रकार से पड़ा हुआ—नग्न, अनावृत; पीटर्सन, उस अवस्था में ।

३. शयानम्-शीङ् (स्वप्ने) + कानच् । नदं न भिन्नममुया शयानम्—सायण का अनुगमन करते हुए विल्सन इसका अर्थ करते हैं—टूटे कगारवाले नद के सदृश इस पृथ्वी पर सोया हुआ । ग्रिफिथ—तट तोड़ने वाली नदी के समान…। पीटर्सन—टुकड़े-टुकडे होकर गिरे हुए वृषभ की तरह वह पड़ा हुआ था ।

पिश्चेल नद का अर्थ नड (नरकट) मानते हैं । नड अर्थ से दूसरा अर्थ 'पुरुष जननेन्द्रिय' भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । ओल्डेनबर्ग ने पिश्चेल के अर्थ को नहीं स्वीकारा ।

४. मनोरुहाणाः—मनः (मनश्चर) रुह (बीजजन्मनि, प्रादुर्भावे च) + कानच्, चढ़ती हुई; सायण चित्त पर चढते हुए। बो० रा० सें० पीटर्सबर्ग को, उसकी शक्ति पर (स्वामित्व) प्राप्त करते हुए; ग्रासमन, चहेते की तरह उठते हुए; गेल्डनर, हृदय को आकर्षित करते हुए; ओल्डेनबर्ग; मनु के लिए प्रवहित होते हुए; ग्रिफिथ, साहस ग्रहण करते हुए; पीटर्सन, मनुष्य की रक्षा के हेतु प्रवहित होते हुए।

५. पर्यतिष्ठत्—परि + स्था + लङ्, प्र० पु०, ए० व०—चारों ओर से स्थित हुआ, घेर लिया। महिना पर्यतिष्ठत्—महिमा से चारो ओर घेरकर स्थित हुआ।

६. पत्सुतःशी—पत्सु–पाद + सुप्–पाद को पत् आदेश, (पद्दन्०– पा० ६।१।६३) पत्सु + तसिल् (सप्तम्यर्थे) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते, पा० ५।३।१४) पत्सुतः + शीङ् (स्वप्ने) + क्विप्–तत्पुरुष समास। अथवा पत्सुतः—में सु का समावेश छान्दस् है। पदस्याधः शेते, पैरो के नीचे सोने वाला। बभूव—भू + लिट्, प्र० पु०, ए० व०।

नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रे-
न्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसी-
द्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥

नीचाऽवयाः। अभवत्। वृत्रऽपुत्रा। इन्द्रः। अस्याः। अव। वधः। जभार। उत्ऽतरा। सूः। अधरः। पुत्रः। आसीत्। दानुः। शये। सहऽवत्सा। न। धेनुः ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम् ९

वृत्रपुत्रा वृत्रः पुत्रो यस्या मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा नीचावया न्यग्भावं प्राप्ता हताभवत्। पुत्रं प्रहाराद्रक्षितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्ची पतितवतीत्यर्थः। तदानी-मयमिन्द्रोऽस्या मातुरधोभागे वृत्रस्योपरि वधो हननसाधनमायुधं जभार प्रहृतवान्। तदानीं सूः माता उत्तरापरिस्थितासीत्। पुत्रस्त्वधोभागस्थित–आसीत्। सा च

दानुर्दानवी वृत्रमाता शये । मृता शयने कृतवती । तत्र दृष्टान्तः । धेनुर्लोकप्रसिद्धा गौः सह वत्सा न । यथा वत्ससहिता शयनं करोति तद्वत् । नीचावयाः । वेति खादतीति वयो बाहुः । औणादिकोऽसिप्रत्ययः न्यञ्चौ वयसौ यस्याः सा नीचावयाः । न्यच् शब्दादुत्तरस्या विभक्तेः सुपां सुलुक्पूर्व...—तृतीयैकवचनादेशः । अच इत्यकारलोपे चाविति दीर्घत्वम् ' अञ्चेश्छन्दस्य सर्वनामस्थानम् (पा० ६।१।१७०) इति तस्योदात्तत्वम् । समासे लुगभावश्छान्दसः । बहुव्रीहौ पूर्ववदप्रकृतस्वरत्वम् । यद्वा नीचौ निकृष्टौ वयसौ यस्याः सा । पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः । वधः । हन्यतेऽनेनेति वधः । असुनि । हन्तेर्वधादेशः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । जभार । हृग्रहोर्भ इति भत्वम् । सूः । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । सूते गर्भं विमुञ्चतीति सूर्माता । क्विप् चेति क्विप् । दानुः । दो अवखण्डने । दाभाभ्यां नुः (उ० ३।३२)। शये । लटि लोपस्त आत्मनेपदेषु (पा० ७।१।४१) इति तलोपः । शीङ् सार्वधातुक इति गुणोऽयादेशः ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसका पुत्र वृत्र है, उस (माता) ने हाथों को नीचे कर लिया । इन्द्र ने उसके नीचे (वृत्र पर) अस्त्र का प्रहार किया । माता ऊपर थी, पुत्र नीचे । बछड़े के साथ (सोयी हुई) धेनु के सदृश (वृत्र की माँ) दानु सो रही है ।

टिप्पणियाँ

१. नीचावयाः—न्यञ्चौ (नि + अञ्च) वयसौ अथवा नीचौ (निकृष्टौ) वयसौ यस्याः सा । सा० वयस् का अर्थ बाहु करते हैं; क्योंकि मनुष्य उनसे अपने मुख में भोजन डालता है—वेति खादतीति वयो बाहुः । पीटर्सन, वयस् का अर्थ शक्ति, प्राणवत्ता मानकर अर्थ करते हैं—वृत्र की माता की समाप्त होती हुई प्राणशक्ति ।

वृत्रपुत्रा—वृत्रः पुत्रो यस्याः सा, ब० व्री० समास—जिसका पुत्र वृत्र है ।

२. जभार—भृञ् + लिट् । प्र० पु०, ए० व० । मारा, प्रहार किया । सा० अव का अर्थ नीचे करते हैं । पीटर्सन, अव को जभार के साथ मानकर—नीचे प्रहार किया । सूः—षू, पैदा होना । शये—शीङ् स्वप्ने + लट्, प्र० पु०, ए० व०—सो रही है ।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां
काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो
दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥१०॥

पदपाठः

अतिष्ठन्तीनाम् । अनिऽवेशनानाम् । काष्ठानाम् । मध्ये । निऽहितम् । शरीरम् । वृत्रस्य । निण्यम् । वि । चरन्ति । आपः । दीर्घम् । तमः । आ । अशयत् । इन्द्रशत्रुः ॥ १० ॥

सायणभाष्यम् १०

वृत्रस्य शरीरमापो विचरन्ति विशेषेण पर्याक्रम्य प्रवहन्ति । कीदृशं शरीरम् । निण्यम् । निर्नामधेयम् अप्सु मग्नत्वेन गूढत्वात्तदीयं नाम न केनापि ज्ञायते । एतदेव स्पष्टीक्रियते । काष्ठानामपां मध्ये निहितम् निक्षिप्तम् । कीदृशानां काष्ठानाम् । अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानाम् । अनिवेशनानामुपवेशरहितानाम् । प्रवहणस्वभावत्वादेतासा मनुष्यवन्न क्वापि स्थितिः सम्भवति । इन्द्रशत्रुः वृत्रो जलमध्ये शरीरे प्रक्षिप्ते सति दीर्घतमो दीर्घनिद्रात्मकं मरणं यथा भवति तथा आशयत् । सर्वतः पतितवान् । अतिष्ठन्तीनाम् । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अनिवेशनानाम् । निविशन्तेऽस्मिन्निति निवेशनं स्थानम् करणाधिकरणयोश्च (पा० ३।३।११७) इत्यधिकरणे ल्युट् । तद्रहितानां बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठाः पृषोदरादि । निहितम् । गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । अत्र यास्कः । अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघम् । शरीरम् । शृणातेः शम्नातेर्वा । वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्ति आप इति । दीर्घं द्राघतेस्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुरः इत्यैतिहासिकाः (नि० २।१६) इति ॥

हिन्दीभाषान्तर

कभी न रुकने वाली और कभी आराम न करने वाली जल-राशि के मध्य में पड़े हुए वृत्र के औंधे शरीर के ऊपर जल इधर-उधर बह रहा है। जिसका शत्रु इन्द्र है वह (वृत्र) घोर अंधकार मे सो गया।

टिप्पणियाँ

१. अतिष्ठन्तीनाम्—नञ् + स्था + शतृ, ष० ब० व०, न ठहरने वाली, निरन्तर बहने वाली। अनिवेशनानाम्—नञ् + विश् + ल्युट् (अन्)—आराम न करने वाली।

काष्ठानाम्—काश् (दीप्तौ—प्रकाशित होना, चमकना) + क्थन्—हनि-कुषि-नी-रमि-काशिभ्यः क्थन्(द० उ० ६।२७,पं० उ० २।२,सि० को० २।१६७), सा० भा० धा० वृ० १।४१८। काशन्ते दीप्यन्ते काष्ठा:—देवराज, नि० १।६।५। यहाँ काष्ठा जल के अर्थ में प्रयुक्त है। यास्क ने अनेक पदार्थों का, काष्ठ शब्द को, वाचक माना गया है। काष्ठा दिशो भवन्ति, काष्ठा उपदिशो भवन्ति, आदित्योऽपि काष्ठोच्यते। आज्यतोऽपि काष्ठोच्यते। आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। निरु० २।५। अनुवर्ती संस्कृत में 'काष्ठा के दिक्।' एक कालमान (२ क्षण = १ लव, २ लव = १ निमेष, १६ निमेष = १ काष्ठा), उत्कर्ष और स्थिति अर्थ होते हैं;अ० को० १।३।१,४।११;३।३।४१। मो० वि० डि० (पृ० २८१) में काष्ठा का अर्थ—दौड़ने के लिए स्थान, घुड़दौड़ का मैदान, वायु का बहाव, अन्तरिक्ष में बादल—है। ग्रिफिथ के अनुसार काष्ठा जलप्रवाह है, पीटर्सन नदी की धारा, लहर अर्थ उचित मानते हैं। परांजपे, काष्ठा का मूल अर्थ घुड़दौड़ का मैदान था, जिसमें काठ का विजयस्तम्भ रहता था। इस पर आधृत होकर किसी मार्ग, किसी सरणि को काष्ठा कहा जाने लगा। नदी का धारा-प्रवाह के रूप में एक सरणि या मार्ग है।

काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्—जलराशि—शुभ्र, चमचमाता जल-प्रवाह—के मध्य में स्थित (वृत्र का) शरीर।

२. निण्यम्—निर् + णीञ् (णी + प्रापणे, ले जाना, पहुँचाना) + यक्। देवराज यज्वा यत् प्रत्यय मानते हैं—निर् शब्दपूर्वात् नयतेः 'अघ्न्यादयश्च'—

इति यत् प्रत्ययः टिलोपो रेफलोपश्च निपात्यते (नि० ३।२५।१) द० उ०, पं० उ०, सि० कौ० (८।१४, ४।१२०, ४।१६१) में—अघ्न्यादयः शब्दा निपात्यन्ते यक् प्रत्यये निरुद्धाः, यगन्ता निपात्यन्ते, वृ०—यक् प्रत्यय का विधान है। यास्क के अनुसार निण्य का अर्थ निर्णाम है—निण्यं निर्णामम् (निरु० २।५)। यास्क के भाष्यकार दुर्ग निर्णाम का अर्थ करते हैं—वह प्रदेश या स्थान जो निचली तरफ झुकता हो—"निण्यं निर्णामं" येनासौ नीचैर्नमति तं प्रदेशम्। सायण, निर्नामधेयम्—नामरहित। निर्णाम श० ब्रा० में भी प्रयुक्त हुआ है--निर्णामौ पक्षयोः करोति। निर्णामौ हि वयसः पक्षयोर्भवतः। तस्मिन् निर्णामे एकामिष्टकामुपदधाति; येयं वयसः पततो निर्णामेत् (१०।२।१।५, २।१।६)—यहाँ सायण अत्यन्त झुका हुआ अर्थ करते हैं--नितरां नमति। इस सन्दर्भ में एकलिङ्ग झुका हुआ, मुड़ा हुआ अर्थ मानते हैं। से० बु० ई०, भाग ४३, पृ० ३०१।३०२। बौ० श्रौ० ३०।१० में आये निर्णाम का अर्थ, कैलेंड भी, झुका हुआ, मुड़ा हुआ प्रस्तुत करते हैं--इन्डेक्स ऑफ् वर्ड्स, पृ० ४३। ग्रॉसमान–गुप्तस्थान अर्थ कर इस सन्दर्भ का अर्थ करते हैं—वृत्र से दूर। गेल्डनर निण्य का अर्थ--गुह्य भाग मानते हैं। पीटर्सन, वृत्र का गुह्य स्थान अर्थ प्रस्तुत करते हैं। लानमान के अनुसार निण्य शब्द के अर्थ आन्तर, छिपा हुआ, गुप्त है, यहाँ पर--छिपा हुआ है। मेयर हाफ़र भी इन्हीं अर्थों को स्वीकारते हैं--क० इ० डि० १०, पृ० १६१। यदि निरुक्तकार का अर्थ निर्णाम ठीक है तो श० ब्रा०, बौ० श्रौ० में निर्णाम शब्द के अर्थ यह सिद्ध करते हैं कि निण्य का अर्थ झुका हुआ, मुड़ा हुआ, करना उचित है। स्पष्ट है कि वृत्र का शरीर, इन्द्र के वज्र-प्रहार से झुक गया होगा, मुड़ गया होगा और भूमि पर औंधा पड़ गया होगा।

विचरन्ति का अर्थ, यास्क के अनुसार–विजानन्ति—है। विजानन्ति का अर्थ है अच्छी तरह समझ लेना, प्राप्त कर लेना, पहचान लेना। वृत्रस्य निण्यं विचरन्ति आपः—वृत्र के औंधे पड़े हुए शरीर पर जल पहुँच गया। वृत्र के शरीर को जल पहचान गया।

३. दीर्घतम आशयद् इन्द्रशत्रुः—दीर्घं तमः–घोर अन्धकार। आशयत्—सो गया, पड़ गया। इन्द्रशत्रुः—जिसका (वृत्र का) शत्रु इन्द्र है। जिसका इन्द्र शत्रु है वह (वृत्र) घोर अन्धकार में सो गया।

यज्ञो में होने वाले स्तम्बयजुर्हरण [वेदि पर स्फ्य (काठ की तलवार) का प्रहार करने के अनन्तर जो मिट्टी निकलती है, उसे ले जाकर उत्कर (कूड़े का स्थान) में छोड़ने का अनुष्ठान] में विनियोजित मन्त्र—' ''बधान देव सवितः परमस्यां परावति शतेन पाशैः'—तै० सं० १।१।९, मै० सं० १।१।१०; 'बधान देव सवितः परमस्या पृथिव्या शतेन पाशैः',–का० सं० १।२५, का० सं० १।९–में प्रयुक्त 'परम परावत्' या 'परम पृथिवी' का अर्थ है—घोर अंधकार–सवितारमाहान्धे तमसि बधान, श० ब्रा० १।२।४।१६। वेदि से मिट्टी लेकर उत्कर में छोड़ने का अनुष्ठान शत्रु को अन्धकार मे डालने का प्रतीक है। अतएव वृत्र का अन्धकार मे सोना, उसकी समाप्ति का संकेत करता है। ध्यातव्य है कि अनेक वैदिक सन्दर्भों–ऋग्वेद में भी–में वृत्र अथवा वृत्र के सजातीय अन्य पदार्थों, व्यक्तियों का सम्बन्ध अन्धकार से है। अन्धकार की आवरकता और वृत्र की आवरकता मे कोई भेद नहीं है।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्
निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्-
वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥ ११ ॥

पदपाठः

दासऽपत्नीः। अहिऽगोपाः। अतिष्ठन्। निऽरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव गावः। अपाम्। बिलम्। अपिऽहितम्। यत्। आसीत्। वृत्रम्। जघन्वान्। अप। तत्। ववार ॥ ११ ॥

सायणभाष्यम् ११

दासपत्नीः। दासो विश्वोपक्षयहेतुर्वृत्रः पतिः स्वामी यासामपां ता दासपत्नीः। अत एवाहि गोपाः। अहिर्वृत्रो गोपा रक्षको यासां ताः। गोपनं नाम स्वच्छन्देन यथा न प्रवहन्ति तथा निरोधनम्। एतदेव स्पष्टीक्रियते। आपो निरुद्धा अतिष्ठन्निति। तत्र दृष्टान्तः। पणिनेव गावः। पणिनामकोऽसुरो गा अपहृत्य बिले

स्थापयित्वा बिलद्वारमाच्छाद्य यथा निरुद्धवांस्तथेत्यर्थः। अपां यद्बिलं प्रवहणद्वारमपिहितं वृत्रेण निरुद्धमासीत् यद्बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान् हतवानिन्द्रोऽपववार अपवृतमकरोत्। वृत्रकृतमपां निरोधं परिहृतवान्। हतवान्। अत्र यास्कः। दासपत्नीर्दासाधिपत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः। अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेर्वृत्रं जघिवानप ववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा यद्वावृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते (नि० २।१७) इति। दासपत्नी। दसु उपक्षये। दासयतीति दासो वृत्रः। पचाद्यच्। चितः (६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। दासः पतिर्यासां विभाषा सपूर्वस्य (पा० ४।१।३४) इति ङीप्। तत्सन्नियोगेनेकारस्य नकारः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा दासस्य पालयित्र्याः। पत्यावैश्वर्ये (पा० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अहिगोपाः गुपू रक्षणे। गोपायतीति गोपाः। आयादय आर्धधातुके वा (पा० ३।१।३१) इत्यायप्रत्ययः। ततः क्विप्। अतो लोपः। वेरपृक्तलोपाद्वलिलोपो बलीयानिति पूर्वं यकारलोपः (पा० ६।१।६६-६७) न चाचः परस्मिन्नित्यतो लोपस्य स्थानिवत्वम्। न पदान्तद्विर्वचनेति प्रतिषेधात्। अहिर्गोपा यासाम्। पूर्ववत्स्वरः। निरुद्धाः। रुधिरावरणे। झषस्तथोर्धोऽधः (पा० ८।२।४०) इति निष्ठातकारस्य धकारः। गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। जघन्वान् हन्तेर्लिटः क्वसुः। अभ्यासाच्च (पा० ७।३।५५) इत्यभ्यासादुत्तरस्य हकारस्य कुत्वम्। क्रादिनियमप्राप्तस्येटो विभाषागमहनेत्यादिना (पा० ७।२।६८) विकल्पविधानादभावः। संहितायां नकारस्य रुत्वानुनासिकावुक्तौ॥

हिन्दीभाषान्तर

पणि के द्वारा (रोकी गयी) गायों के समान (वह) जल अवरुद्ध पड़ा था, (जिसका) पति दास है, (और) जिसका रक्षक अहि है। जल का बिल जो आवृत था, (इन्द्र ने) वृत्र को मारकर उसे अनावृत कर दिया।

टिप्पणियाँ

१. दासपत्नीः—दासः–दसु (उपक्षये, नाश) + (णिच्) (पचादि), दास का अर्थ है, असुर, राक्षस, समाज के हित का विनाशक, कर्म का समापक–तु०–दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि, निरु० २।५। मेयर हाफर–असुर, राक्षस, बर्बर, परिचारक (क० इ० डि० १।३८)। दास, दस्यु शब्द, ऋग्वेद मे, आर्यों के समस्त शत्रुओं—असुर तथा मानव—के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर, जैसा कि सायण को अभिमत है, स्पष्टतः प्रतीति होती है कि अनार्य जातियो की ओर संकेत किया है। ग्रॉसमन भी इसी मत में आस्था रखते हैं। रॉथ इसका अर्थ राक्षसो की सन्तान करते हैं।

ऋग्वेद मे दास शब्द ६१ बार तथा दस्यु शब्द ८४ बार प्रयुक्त हुआ है। इन शब्दो के सम्यग् अर्थबोध में विद्वद्वर्ग एकमत नहीं है। कतिपय विद्वान् दास दस्यु को आर्यों का अनार्य शत्रु मानते हैं (कैम्ब्रिज हिस्ट्री, पृ० ८४-८६; कीथ; रिलीजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद, पृ० २३४; रेगोजिन, वैदिक इण्डिया, पृ० २८३)। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार उपर्युक्त शब्द अधिकांशतः द्रविडो के लिए प्रयुक्त हुए हैं (इण्डो आर्यन ऐण्ड हिन्दी, पृ० ४७) राबर्ट शेफर शारीरिक संघटन पर आधृत हो इन्हे निषाद कहते हैं (एथनोग्रॉफी आफ एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० ९)। इन मतवादो के रहते हुए भी कहा जा सकता है कि वृत्र आदि के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि दास शब्द का प्रयोग असुर पिशाचो के लिए भी हुआ है। ऋग्वेद मे वृत्र को छह नेत्रों एवं तीन सिरो से युक्त कहा गया है (षडक्षं त्रिशीर्षाणम्, १०।९९।६ तुलनीय : 'थ्रि. कमृदॅम् ख्षवृश् अषीम्' (त्रिकमूर्धानम्, षडक्षम्)—अवेस्ता, हओम यश्त, यस्न ९, (दास का अवेस्ता में समान शब्द 'दाह')। यद्यपि यह ठीक है कि इन्द्र का 'अमानुष', 'मायावी' असुरो के साथ जो युद्ध-वर्णन है उसके पीछे एक ऐतिहासिक एवं मानवीय संघर्ष की प्रतिध्वनि है, (डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, स्टडी इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० २५४), तथापि वैदिक वर्णना में दास-दस्यु शब्द का प्रयोग प्रायः असुरों के लिए हुआ है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार दास-दस्यु का अर्थ असुर स्वीकारना ही युक्तिपूर्ण एवं मान्य है (पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, उद्धृत, डॉ० गोविन्दचन्द्र

पाण्डेय वही पृ० २५३)। गिरीशचन्द्र अवस्थी, दस्यु-विवेचन तथा दासमीमांसा। यास्क के अनुसार पति शब्द का अर्थ है—रक्षक या पालक—पाता, पालयिता वा (निरु० १०।२।४)। इस दृष्टि से यहाँ अर्थ होगा दास ने जिन्हें घेरकर अपने वश में कर रखा है—दासः पतिर्यासां ताः, दासपत्नीः, ब० व्री० समास।

२. अहिगोपाः—अहिः गोपाः यासां ताः, अहि है गोपा (रक्षक) जिनका (वे जल)। गोपा के अर्थ के लिए दे०, अग्निसूक्त, ८ टिप्पणी। गुपू रक्षणे + क्विप् (सायण)। रक्ष धातु का पुराना अर्थ है—घेरना, रोकना—देवान् ह वै यज्ञेन यजमानास्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व इति, तद् यदरक्षन् तस्माद् रक्षांसि, श० ब्रा० १।१।१।१६। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त रक्ष का अर्थ सायण घेरना करते हैं; एगलिंग, रोकना। इस दृष्टि से अहिगोपा का अर्थ होगा; अहि द्वारा आवृत, घेरा गया, रोका गया (जल)।

दासपत्नी और अहिगोपा की उपर्युक्त अर्थ-संरचना को मन्त्र में प्रयुक्त 'निरुद्धाः' ('आपः' और 'गावः' दोनों का विशेषण) शब्द भी प्रमाणित करता है। पणि द्वारा गायों का निरोधन अनुप्रथा (माइथॉलोजी) में अनेकत्र प्रतिपादित है। उपमा की अर्थवत्ता भी दास०, अहि० के पूर्वोक्त अर्थ के परिसर में ही सम्भव है।

३. निरुद्धाः—नि + रुध् + क्त—रोका गया, घेरा गया, निरोध में पड़ा हुआ।

पणिना इव—यास्क पणि का अर्थ वणिक् करते हैं—पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनात्—पण (व्यवहारे, स्तुतौ च) + इन् ('इन्' द० उ० १।४६, पं० उ० ४।१२६; 'सर्वधातुभ्य इन्', सि० कौ० ४।५६७); वणिक् पण्य नेनेक्ति—पण्य + निज् (णिजिर् शौचपोषणयोः) + क्विप् (ण्य का लोप, पकार को वकार, पृषोदरादि)। लौकिक संस्कृत में वणिक् शब्द पण धातु से ही बनता है—पण = इजि (द० उ०, ४।८; पं० उ० २।७१; सि० कौ० २।२३८; पणेरिज्यादेश्च वः इति इजि प्रत्ययः, पकारस्य च वकारः, सायण, मा० धा० वृ०, १।२९१–९२)। आधुनिक लोग पणि का अर्थ लोभी, कृपण, मक्खीचूस करते हैं। मेयर हाफ़र—विद्वेषी असुरों की एक जमात का नाम पणि है। पणि के स्वामी को भी पणि कहते हैं। ऋग्वेद में एकवचन में पणि का प्रयोग पणियों के अधिपति के लिए हुआ है (क० इ० डि०, भाग ११।१९५)।

निरुद्धा आपः पणिनेव गावः—पणि द्वारा रोकी गयी गायों के समान।

८. बिलम्—डुभृञ् (धारणपोषणयोः) + क (कर्मणि)—बिलं भरं भवति बिभर्तेः (निरु०)। भृतमुदकादिभिरिति बिलम्। लौकिक संस्कृत में बिल भेदने + क (पा० ३।१।१३५)।

अपिहितम्—अपि + धा + क्त—ढँका हुआ, आवृत, घिरा हुआ। पिहित भी होता है—वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा। सि० कौ० सू० २।४।८२।

अपां बिलम्—जल का बिल। अपिहितं यद् आसीत्—जो ढँका था, घिरा था।

५. जघन्वान्—हन् + क्वसु—मारा। वृत्रं जघन्वान्—वृत्र को मारा। ववार—वृञ् + लिट्, प्र० पु०, ए० व०—अनावृत्त किया, मुक्त कर दिया, छोड़ा, खोला। अप तद् ववार—उस जल को मुक्त कर दिया, खोल दिया।

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र
सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोम-
मवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥ १२॥

पदपाठः

अश्व्यः। वारः। अभवः। तत्। इन्द्र। सृके। यत्। त्वा। प्रतिऽअहन्। देवः। एकः। अजयः। गाः। अजयः। शूर। सोमम्। अव। असृजः। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्॥ १२॥

सायणभाष्यम् १२

सृके वज्रे। सृको वृक इति वज्रनामसु पठितत्वात्। युद्धे देवो दीप्यमानः सर्वायुधकुशल एकोऽद्वितीयो वृत्रो यद्यदा त्वा त्वा प्रत्यहन् प्रतिकूलत्वेन प्रहृतवान् तत्तदानीं त्वमश्व्यो वारोऽश्वसम्बन्धी बालोऽभवः। यथाश्वस्य बालोऽनायासेन मक्षिकादीन्निवारयति तद्वद्वृत्रमगणयित्वा निराकृतवानित्यर्थः। किं च गाः पणिनापहृतास्त्वमजयः। जितवान्। हे शूर शौर्ययुक्तेन्द्र सोममजयः। जितवान्।

तथा च तैत्तिरीयाः त्वष्टा हतपुत्र इत्यस्मिन्नुपाख्याने समामनन्ति । स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोमममपिबत् (तै० सं० २।४।१२) इति । सप्तसिन्धून्—इमं मे गङ्गे (ऋ० १०।७५।५) इत्यस्यामृच्याम्नाता गङ्गाद्याः सप्तसंख्याका नदीः । सर्तवे सर्तुं प्रवाहरूपेण गन्तुं अवासृजः संत्यक्तवान् । वृत्रकृतं प्रवाहनिरोधं निराकृतवानित्यर्थः । अश्व्यः अश्वे भवः । भवे छन्दसीति यत् । यतोनाव इत्याद्युदात्तत्वम् । वारयति दंशमशकानिति वारः । पचाद्यच् । कपिलकादित्वाल्लत्वविकल्पेः (म० ८–२–१८) वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । प्रत्यहन् । यद्वृत्तान्नित्यमिति निघातप्रतिषेधः । तिङि चोदात्तवतीति गतेरनुदात्तत्वम् । अजयः । गा इत्यस्य वाक्यान्तरगतत्वात्तदपेक्षयास्य तिङ्ङतिङ इति निघातो न भवति । समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः (पा० १।१।१८।५) इति वचनात् । सर्तवे । तुमर्थे सेसेनिति (पा० ३।४।९) तवेन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

इन्द्र, जब (वृत्र ने) तुम्हारे वज्र पर पलट कर प्रहार किया, तब (तुम) अद्वितीय देव घोड़े की पूँछ के बाल बन गये । (तुमने) गायें जीती, वीर, (तुमने) सोम जीता और सात नदियों को बहने के लिए मुक्त किया ।

टिप्पणियाँ

१. अश्व्यः— अश्व + यत्—अश्व से सम्बद्ध, घोड़े का । वारः—वृञ् + अच् (पचादि) + घञ्—बाल, केश, यहाँ आलङ्कारिक प्रयोग—इन्द्र ने आत्मरक्षा के लिए फुर्ती से कार्य किया, या उसे एक ओर हटा दिया । 'बाला दंशवारणार्था भवन्ति'—(निरु० १।६ ।) अभवः—भू + लङ् । म० पु०, ए० व० ।

२. सृके—सृ (गतौ) + कक्–सृवृभूसुषिमुषिभ्यः कक् (सि०कौ० ३।३२८); सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित् (सृ + क; ससर्ति इति); द० उ० ३।१९ । सृक का, नि० २।२०।६ में, वज्रवाचक शब्दों में पाठ है ।

३. अजयः—जि + लङ्, म० पु०, ए० व०—जीत लिया । असृजः—सृज् + लङ्; म० पु०, ए० व०—मुक्त किया, छोड़ दिया । सर्तवे, सृ + तवे । बहने के लिए, प्रवहित होने के लिए, प्र-सरण, प्र-सार के लिए ।

४. सप्त सिन्धून्—सायण के अनुसार इसके दो अर्थ हैं (१) प्रसर्पित जल, (२) गङ्गा, यमुना आदि सात मुख्य नदियाँ । सायण के दूसरे अर्थ में

गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी नामक सात नदियो का संकेत है, तुलनीय—जलशुद्धि का पौराणिक मन्त्र—'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु'।

मैक्समूलर के अनुसार ऋग्वेदीय आर्यों का जीवन पंजाब एवं सैंधव घाटी में बीता। गंगा का ज्ञान सम्भवतः अत्यल्प था। ऋग्वेद में केवल १०।७५।५ में गंगा शब्द आया है। 'आर्य लोगो को गङ्गा से परिचय बहुत बाद में हुआ था' (पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, वैदिक भूगोल, भूगोल, भुवनकोष विशेषाङ्क, पृ० ४१)। ध्यातव्य है कि आर्यों को दक्षिण का कुछ भी परिचय न था। मैक्समूलर का विचार है कि पंजाब की पाँच नदियाँ एवं सिन्धु, सरस्वती ही सात नदियाँ हैं।

जिमरामॅन इन नदियों के शोध मे अनवहित हैं। टामस के अनुसार प्रारम्भिक 'सप्तसिन्धु' में ओक्सस (वक्षु) अवश्य रही होगी।

वस्तुतः लोग सात नदियो से प्रधान नदियो को समझते हैं। परन्तु सात प्रधान नदियो के अभिधान की व्यवस्था करना अत्यन्त दुष्कर है। मैक्समूलर का मत भी मान्य नहीं हो सकता क्योकि पञ्जाब की अन्य नदियों तथा सिन्धु की सहायक नदियो का भी ऋषियो ने उल्लेख किया है और उन्हें छोड़ने का किसी का कोई अधिकार नहीं है। सम्भवतः आर्य अपने मूलनिवास में सात नदियो से ही परिचित थे, अतः 'सब-नदी' के अर्थ में 'सात नदी' कहना उनका स्वभाव हो गया होगा। सब नदियो के अर्थ में ऋक्संहिता में 'सप्त-सिन्धवः' या 'सप्तस्रवतः' या ऐसे शब्द आये हैं; जिनका अर्थ है 'सात नदियाँ'। अतएव यहाँ 'सप्तसिन्धून्' का अर्थ समस्त नदी या जल होगा (देखिए, पं० चट्टोपाध्याय, वही, पृ० ४२-५०)। सप्त अवेस्ता में हप्त, लैटिन मे सेप्टम् और सप्तसिन्धु अवेस्ता में हप्तहेन्दु है।

नास्मै॑ वि॒द्युन्न त॑न्य॒तुः सि॑षेध॒

न यां मिह॒मकि॑र॒द्ध्रादु॒निं॑ च।

इन्द्र॑श्च॒ यद्यु॑यु॒धाते॒ अहि॑-

श्चो॒ता प॒रीभ्यो॑ म॒घवा॒ वि जि॑ग्ये ॥१३॥

पदपाठः

न । अस्मै । विऽद्युत् । न । तन्यतुः । सिषेध । न । याम् । मिहम् । अकिरत् । ह्रादुनिम् । च । इन्द्रः । च । युयुधाते इति । अहिः । च । उत । अपरीभ्यः । मघऽवा । वि । जिग्ये ॥ १३ ॥

सायणभाष्यम् १३

इन्द्रं निषेद्धुं वृत्रो यान्विद्युतादीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येनं निषेद्धुमशक्ताः । सोऽयमर्थोऽनेन मन्त्रेणोच्यते । अस्मै इन्द्रार्थं निर्मिता विद्युन्न सिषेध इद्रं न प्राप्नोत् । तथा तन्यतुः गर्जनम् । यां मिहं सेचनं यां वृष्टिमकिरत् वृत्रो विक्षिप्तवान् साऽपि वृष्टिर्न सिषेध । ह्रादुनिं चाशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवा सापि न सिषेध । इन्द्रश्चाहिश्च इन्द्रवृत्रावुभावपि युयुधाते युद्धकृतवन्तौ । तदानी विद्युतादयो न प्राप्ता इति पूर्वत्रान्वयः । उतापि च मघवा धनवानिन्द्रः अपरीभ्यः अपराभ्यः अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशाद्विजिग्ये विशेषेण जितवान् । सिषेध । षिधु गत्याम् । मिहम् । मिह सेचने । मेहति सिञ्चतीति मिह वृष्टिः । क्विप् चेति क्विप् । अकिरत् । कॄ विक्षेपे । तुदादिभ्यः शः । ऋत इद्धातोरितीत्वम् । अडागम उदात्तः यद्वृत्तयोगादनिघातः । युयुधाते । युद्ध संप्रहारे लिटि प्रत्ययस्वरः । जिग्ये । सन्लिटोर्जेः (पा० ७-३-५७) इत्यभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

जब इन्द्र और अहि का युद्ध हुआ, (तब) न तो बिजली, न गर्जन, न मेघ, न वज्र ही सफल हो सका, जिन्हें (वृत्र ने) उस (इन्द्र) के लिए फैलाया था, और मघवा (इन्द्र) ने (वृत्र द्वारा किये गये) अन्य प्रहारों पर भी विजय प्राप्त की ।

टिप्पणियाँ

१. तन्यतुः—तनु (विस्तारे) + यतुच् ऋतन्यञ्जि, सि० कौ० ४,४५०, तनु + यतु, ऋतन्यञ्जि, द० उ० वृ० १०।१२;—'यतुच्' इति युक्तः पाठः । तन्यतु पदस्यान्तोदात्तत्वदर्शनात्, युधिष्ठिर मीमांसक, टिप्पणी वही ।

सिषेध—षिधु (संराद्धौ) लिट्, प्र०पु०,ए० व० । सफल हुआ । मिहम्—मिह (सेचने) से यह शब्द बनता है, यही मेघ (और हिन्दी मेह) के मूल में है।

२. ह्रादुनिम्—इस शब्द का प्रयोग केवल यहाँ मिलता है अन्यत्र ह्रादुनी-वृत् मरुतों के विशेषण रूप में है (ऋ० सं० ५।५४।३) । ह्रादुनीवृत् विरुद तथा अनुवर्ती काल के निह्राद या ह्रादिनी जैसे शब्दों पर आधृत होकर कहा जा सकता है कि ह्रादुनी एक ऐसी वस्तु है जो वज्र के समान है। सायण का वज्र अर्थ इसी दृष्टि से उचित है। योरोपीय विद्वानो का अर्थ—उपल-वृष्टिगलत प्रतीत होता है—पराजपे ।

३. अकिरत्—कृ (विक्षेपे—छितराना, छिटकाना, बिखेर देना) + लङ्, प्र० पु०, ए० व०—फैला दिया । युयुधाते—युध् (लड़ना, प्रहार करना) + लिट , प्र० पु०, द्विव० ।

४. अपरीभ्यः—सा० (वृत्र द्वारा फैलायी गयी), अन्य (माया) । ग्रिफिथ, पीटर्सन, पराजपे—आने वाले दिन । विजिग्ये—वि + जि + लिट्, प्र०पु०,ए० व० ।

अहे॑र्या॒तारं॒ कम॑पश्य इन्द्र
हृ॒दि यत्ते॑ ज॒घ्नुषो॒ भीरग॑च्छत् ।
नव॑ च॒ यन्न॑व॒तिं च॒ स्रव॑न्तीः
श्ये॒नो न भी॒तो अत॑रो॒ रजां॑सि ॥ १४ ॥

पदपाठः

अहेः॑ । या॒तार॑म् । कम् । अ॒प॒श्य॒ः । इ॒न्द्र॒ । हृ॒दि । यत् । ते॒ । ज॒घ्नुषः॑ । भीः । अग॑च्छत् । नव॑ । च॒ । यत् । न॒व॒तिम् । च॒ । स्रव॑न्तीः । श्ये॒नः । न । भी॒तः । अत॑रः । रजां॑सि ॥१४॥

सायणभाष्यम् १४

हे इन्द्र जघ्नुषो वृत्रं हतवतस्तव चित्ते यद्यदि भीरगच्छत् न हतवानस्मीति बुद्धया भयं प्राप्नुयात् यर्ह्यहेर्वृत्रस्य यातारं हन्तारं कमपश्यः । त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावान्मा भूत्तव भयमित्यर्थः । यद्यस्मा-त्कारणात्त्वं नव च नवतीं च स्रवन्तीः एकोनशतसंख्याकाः प्रवहन्तीर्नदीः प्राप्य

रजांसि तत्रत्यान्युदकान्यतरः । तीर्णवानसि । तत्र दृष्टान्तः । श्येनो न । श्येन-नामको बलवान् पक्षीव । दूरगमनात्तव भयमासीदिति गम्यते । तद्भयं मा भूदि-त्यभिप्रायः । तच्च दूरगमनं ब्राह्मणे समाम्नातम् । इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति-मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत् (ऐ० ब्रा० ३।१५) इति । तैत्तिरीयाश्वमिनन्ति इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावतमगच्छदपराधमिति मन्यमानः, (तै० ब्रा० ६-१-७-४) इति । हृदि । पद्दन्नित्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः । ऊडिदमित्यादिना विभक्ते-रुदात्तत्वम् । जघ्नुषः । हन्तेर्लिटः क्वसु । षष्ठ्येकवचने वसोः सम्प्रसारणमिति सम्प्रसारणपरपूर्वत्वे । शासिवसिघसीनां चेति शत्वम् । न च षत्वतुकोरसिद्धः (पा० ६-१-३८) इति एकादेशस्यासिद्धत्वात् षत्वं न प्राप्नुयादिति वाच्यम् । संप्रसारणङीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः (का० ६-१-८६।१) इति असिद्धवद्भावस्य प्रतिषिद्धत्वात् । गमहनेत्यादिना (पा० ६-४-९८) उपधालोपः । न चासिद्ध-वदत्राभात् (पा० ६-४-२२) इति सम्प्रसारणस्यासिद्धवद्भावः । भिन्नाश्रयत्वात् । संप्रसारणं हि षष्ठ्येकवचने उपधालोपस्तु वसाविति भिन्नाश्रयत्वम् । स्रवन्तीः । स्रु गतौ । शप्श्यनोर्नित्यम् (पा० ७-१-८१) इति नुमागमः । शपः पित्त्वादनु-दात्तत्वम् । शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । अतरः । यद्वृत्तयोगादनिघातः ॥

हिन्दी-भाषान्तर

इन्द्र, (तुमने) अहि के किस अनुयायी को देखा ? जिससे मारने वाले, तुम्हारे हृदय में डर घुस गया, (और जिससे) भीत होकर निन्यान्बे नदियों तथा अन्तरिक्ष के स्थानों को (तुम) श्येन के सदृश पार कर गये ।

टिप्पणियाँ

१. यातारम्—या (प्रापणे) + तृच्, द्वि० ए० व०—सायण—मारने वाले को; विल्सन—विनाशक; से० पी० डी० ग्रामसमान पीटर्सन—प्रतिशोधी, बदला लेनेवाला; परांजपे—अनुयायी, अनुगामी ।

अपश्यः—दृश् + लङ् + म० पु०, ए० व०—देखा ।

२. जघ्नुष —हन् + क्वसु (जघ्निवम् , जघ्निवान्), ष० ब० व०—जघ्नुषः ते भीरगच्छत्—मारने वाले, तुम्हारे (हृदय में) भय प्रविष्ट हो गया । वृत्र को मारने के बाद इन्द्र डर गया था, यह तथ्य अनेक स्थानों पर वर्णित है (ऐ० ब्रा०, ३.१५, तै० ब्रा० १.६.७.४)—इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार,

सोऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयाचक्रे, स पराः परावतो जगाम, देवा ह वै विदाञ्चक्रुर्हतो वै वृत्रः, अथेन्द्रो न्यलेष्टेति, श० ब्रा० १.६.४.१।

३. स्रवन्तीः—स्रु (गतौ) + शतृ + ङीप्—सर्वदा गतिशील; अतएव नदियाँ। नि० १।१३.२७ में नदीवाचक।

श्येनः—श्यैङ् (गतौ; श्यायते इति) + इनच्; श्या—स्त्या—हृञ्—क्षिप्य इनच् (द०उ० ५.१२, पं० उ० २.४८, सि०कौ० २.२१३)। यास्क के अनुसार यह अत्यन्त गतिशील पक्षी है—श्येनः शंसनीयं गच्छति, निरु० ४.४। श्येनः··· श्यायतेर्गतिकर्मणः, निरु० १४। परांजपे श्येन शब्द का सम्बन्ध श्येत, गुलाबी, श्वेत से स्थापित करते हैं। श्येन खगराज है—श्येनो गृध्राणाम्, ऋ० सं० ९।९६।६१। ग्रासमान के मत में श्येन बाज या गृध्र है। अधिक सम्भावना यह है कि यह बाज है। श्येन और सुपर्ण एक स्थान पर अलग-अलग बताये गये हैं—मा त्वा श्येन उद्वधीत् मा सुपर्णः, (ऋ० सं० २.४२.२)। सुपर्ण श्येन का नाम प्रतीत होता है, जो स्वर्ग से धरती पर सोम लाता है। श्येन इन्द्र और मरुत् के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त है। इस सन्दर्भ में यही कथ्य है कि जिस तरह श्येन स्वर्ग से अन्तरिक्ष को पारकर सोम ले आया था, उसी गति से इन्द्र अन्तरिक्ष को पार कर गया। श्येन द्वारा सोम-आहरण—ऋ० ४.२७.१०.१४४.४, १०.७७.२ आदि।

भीतः—भी (डरना) + क्त = डरा हुआ। अतरः—तॄ (तरणसंप्लवनयोः) + लङ्, म० पु०, ए० व०—पार कर गये, तर गये।

इन्द्रो॑ या॒तोऽव॑सितस्य॒ राजा॒ शम॑स्य च शृ॒ङ्गिणो॒ वज्र॑बाहुः।
सेदु॒ राजा॑ क्षयति चर्षणी॒नाम॒रान्न ने॒मिः परि॒ ता ब॑भूव ॥ १५॥

पदपाठः

इन्द्रः॑। या॒तः। अव॑ऽसितस्य। राजा॑। शम॑स्य। च॒। शृ॒ङ्गिणः॑। वज्र॑ऽबाहुः। सः। इत्। ऊँ इति॑। राजा॑। क्षय॒ति॒। च॒र्ष॒णी॒नाम्। अ॒रान्। न। ने॒मिः। परि॑। ता। ब॒भू॒व ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम् १५

वज्रबाहुरिन्द्रः शत्रौ हते सति निःसपत्नो भूत्वा यातो गच्छतो जंगमस्यावसितस्य एकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य शमस्य शान्तस्य शृङ्गराहित्येन प्रहरणादावप्रवृत्तस्या-श्वगर्दभादेः शृङ्गिणः शृङ्गोपेतस्योग्रस्य महिषबलीवर्दादेश्च राजाभूत्। सेदु स एवेन्द्रश्चर्षणीना मनुष्याणा राजा भूत्वा क्षयति निवसति। ता तानि पूर्वोक्तानि जङ्गमादीनि सर्वाणि परिबभूव व्याप्तवान्। तत्र दृष्टान्तः। अरान्न नेमिः। यथा रथचक्रस्य परितो वर्तमान नेमिररान्नाभौ कीलितान्काष्ठविशेषान् व्याप्नोति तद्वत्। यातः या प्रापणे। याति गच्छतीति यात्। लटः शतृ सावेकाच इतिविभक्तेरुदा-त्तत्वम्। सः। सोऽचि लोपे चेदिति (पा० ६-१-१३४) संहिताया सोर्लोपः। ता। शेश्छन्दसि बहुलमिति शेर्लोपः। बभूव। भवतेर्लिटो णलि भवतेरः (पा० ७-४-७३) इत्यभ्यासस्यात्वम्। कृताकृतप्रसङ्गितया वुगागमस्य नित्यत्वाद्वृद्धेः पूर्वं वुगागमः। यद्वा। इन्धिभवतिभ्यां च (पा० १-२-६) इति लिटः कित्वाद्वृद्ध्यभावः। न चासिद्धवदत्रा भादिति (पा० ६-२-४२) तस्यासिद्धत्वादुवङादेशः शङ्कनीयः। वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ भवतः (पा० ६-४-२२-१४) इति तस्य सिद्धत्वात्। तिङ्ङतिङ इति निघातः॥

हिन्दीभाषान्तर

वज्रधारी इन्द्र चर, (और) अचर, शान्त (सींगरहित) तथा सींगवाले का राजा है। वही मनुष्यो का राजा (उसी तरह) सबमें व्याप्त होकर स्थित रहता है, जैसे रथ की नेमि में चारो ओर अरे (व्याप्त रहते है)।

टिप्पणियाँ

१. यातः—या (प्रापणे) + शतृ, ष० ए० व०, जगत्, जंगम, चर, स्थिर न रहने वाला। अवसितस्य—अव + सो (षो अन्तकर्मणि) + क्त अथवा अव + षिञ् (बन्धने) + क्त (परांजपे के अनुसार, सा धातु है अथवा सो)—अचर, स्थावर, स्थिर रहने वाला।

२. शमस्य—शान्त, सींग से रहित। शृंगिणः—शृंगमस्यास्तीति शृंगी तस्य वज्रबाहुः—ब० व्री० समास, वज्र जिसके हाथ में है। क्षयति—क्षि + लट्, प्र० पु०, ए० व०, निवास करता है या शासन करता है। चर्षणीनाम्—मनुष्यों का। परिबभूव—व्याप्त हो गया।

विश्वेदेवासूक्तम्

म० १ सू० ८९

प्रथममण्डले एकोननवतितमं (चतुर्दशेऽनुवाके पञ्चमं) सूक्तम्

(प्रथमाष्टके षष्ठाध्याये पञ्चदशषोडशौ वर्गौ)

गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । आदितः पञ्चानां सप्तम्याश्च जगती षष्ठ्या विराट्स्थाना ।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो-
ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे अस-
न्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ १ ॥

पदपाठः

आ । नः । भद्राः । क्रतव । यन्तु । विश्वतः । अदब्धासः । अपरिऽइतासः । उत्ऽभिदः । देवाः । नः । यथा । सदम् । इत् । वृधे । असन् । अप्रऽआयुवः । रक्षितारः । दिवेऽदिवे ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

'आ नो भद्राः' इति दशर्चं पञ्चमं सूक्तम् । गोतमस्यार्षं वैश्वदेवम् । आदितः पञ्चर्चः सप्तमी च जगत्यः षष्ठी 'स्वस्ति न इन्द्रः' इत्येषा विराट्स्थाना । 'नवकौ वैराजस्त्रैष्टुभश्च' (अनु० ९।५) इत्युक्तलक्षणयोगात् । अष्टम्याद्यास्तिस्त्रस्त्रिष्टुभः । तथा चानुक्रान्तम् —'आ नो दश वैश्वदेव तु पञ्चाद्याः सप्तमी च जगत्यः षष्ठी विराट्स्थाना' इति ॥ अग्निष्टोमे वैश्वदेवशस्त्रे उत्तमावर्जमेतत् सूक्तं वैश्वदेवनिविद्धानीयम् । सा तु प्रकृतौ विकृतौ च वैश्वदेवशस्त्रस्य परिधानीया । तथा सूत्रितम्— "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वत इति नव वैश्वदेवम्" इति 'अदितिर्द्यौरदिति-

रन्तरिक्षमिति परिदध्यात् सर्वत्र वैश्वदेवे" (आश्व० श्रौ० ५।१८) इति च। ब्राह्मणं च भवति—"सदैव पञ्चजनीयया परिदध्यात्" (ऐ० ब्रा० ३।३१) इति। महाव्रते निष्केवल्ये एतत् सूक्तम्। तथा च पञ्चमारण्यके सूत्र्यते—"आ नो भद्रीयं च तस्य स्थाने" (ऐ० आ० ५।३।२) इति॥

१. नोऽस्मान् क्रतवोऽग्निष्टोमादयो महायज्ञा विश्वतः सर्वस्मादपि दिग्भागादायन्तु। आगच्छन्तु। कीदृशाः क्रतवः। भद्राः समीचीनफलसाधनत्वेन कल्याणा भजनीया वा अदब्धासोऽसुरैरहिंसिता अपरीतासः शत्रुभिरपरिगताः। अप्रतिरुद्धा इत्यर्थः। उद्भिदः शत्रूणामुद्भेत्तारः। ईदृशाः क्रतवोऽस्मांस्तथागच्छन्तु। अप्रायुवोऽप्रगच्छन्तः स्वकीयं रक्षितव्यमपरित्यजन्तः। अत एव दिवेदिवे प्रतिदिवसं रक्षितारो रक्षां कुर्वन्त एवङ्गुणविशिष्टाः सर्वे देवा नोऽस्माकं सदमित् सदैव वृधे वर्धनाय यथा असन् भवेयुस्तथागच्छन्त्विति सम्बन्धः।

अदब्धासः। 'दम्भु दम्भे'। दम्भो हिंसा। निष्ठाया 'यस्य विभाषा' (पा० ७।२।१५) इतीट्प्रतिषेधः। नञ्समासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अपरीतासः। 'इण् गतौ'। पूर्ववत् कर्मणि निष्ठा। उभयत्र 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०)। वृधे। 'वृधु वृद्धौ'। सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप् (वा०—पा० ३।३।९४)। 'सावेकाचः' (पा० ६।१।१६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। असन्। 'अस् भुवि' लेट्यडागमः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुगभावः। तस्य अङित्वात् 'श्नसोरल्लोपः' (पा० ६।४।१११) इत्यकारलोपाभावः। अप्रायुवः। 'इण् गतौ' अस्मात् प्रपूर्वात् 'छन्दसीणः' (उणा० १।२) इत्युण्प्रत्ययः। नञ्समासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। जसि 'जसादिषुच्छन्दसि वा वचनं...'। (पा० ७।३।१०७-वा०) इति गुणस्य विकल्पितत्वादभावे तन्वादित्वादुवङ्॥[1]

[1] (शु० य० सं० १५।१४) भद्रा भन्दनीयाः 'भदि कल्याणे' कल्याणकारिणः—(महीधरः)। भद्रा भन्दनीयाः स्तुत्याः—(उव्वटः)। क्रतवो यज्ञाः सङ्कल्पा वा—(म०, उ०)। नोऽस्मान् प्रति, आयन्तु आगच्छन्तु यज्ञकर्त्तारो वयं भवेमेत्यर्थः (म०)। विश्वतोऽदब्धासः सर्वतोऽनुपहिंसिताः निर्विघ्ना इत्यर्थः—(म०)। अपरीतासोऽपरिज्ञाताः केनचित्—(उ०)। न परीता अपरीता अपरिगता अज्ञाताः केनचित्। फलानुमेया इत्यर्थः—(म०)उद्भिद उद्भिन्दन्ति प्रकटयन्त्युद्भिद उद्भेत्तारः यज्ञान्वराणां प्रकटीकर्त्तार इत्यर्थः—

हिन्दीभाषान्तर

कल्याणकारिणी, अप्रतारित, अप्रतिरुद्ध तथा अर्थसाधिका बुद्धियाँ हमारे समीप चारो ओर से आयें, जिससे निरलस एवं प्रतिदिन रक्षा करनेवाले देव सर्वदा हमारी वृद्धि के लिए हों।

टिप्पणियाँ

१. आ—उपसर्ग है और इसका संयोजन 'यन्तु' क्रिया के साथ होगा। वैदिक भाषा में उपसर्ग प्रायः प्रधान वाक्य के क्रियापद से दूर रहते हैं और उदात्त होते हैं। तु० 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२)।

२. क्रतवः—दे. १. ५ कविक्रतु पर टिप्पणी।

'क्रतवो यन्तु विश्वतः' मे स्वरिताङ्कित 'त' तथा अनुदात्त चिह्नयुक्त 'वि' के बीच में वर्ण अनुदात्त हैं। व्याकरण में इन्हें प्रचय कहा जाता है। इसका दूसरा नाम एकश्रुति भी है–'स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः' ऋ० प्रा० ३।१९।

३. अदब्धासः—छन्दोदृष्टि से पाठ मे 'विश्वतो अदब्धासः' पढ़ना होगा। जगती छन्द के प्रत्येक पाद में १२ वर्ण होते हैं। यहाँ द्वितीय पाद में ११ वर्ण हैं अतः खण्डाकार (अवग्रहीत) अ का पूर्ण उच्चारण करना चाहिए। दम्भु दम्भे + क्त, दब्ध, नञ् लगाकर अदब्ध। बहुवचन मे अदन्त शब्दो के, वेद में, दो रूप मिलते हैं, अदब्धाः, अदब्धासः–'दम्' धातु का अर्थ प्रवंचना करना है, अतः हि० भा० अप्रतारित।

अदब्धासः—'आज्जसेरसुक्' से जस् को 'असुक्' होगा। नञ्समास में पद का प्रथम अक्षर उदात्त होता है।

४. वृधे—वृधु वृद्धौ + क्विप्, च० ए० व०। 'सावेकाचः' से विभक्ति को उदात्त हुआ है। अर्थ है—वृद्धि के निमित्त।

(म०)। उद्गन्तारोऽन्येषां यज्ञक्रतूनां [? सङ्] कल्पानां वा—(उ०) असन् स्युर्भूयासुः–(उ०)। यथा ``` असन् भवन्ति तथा क्रतव आयन्त्वित्यर्थः–(म०) अप्रायुवः प्रकर्षेणायुवन्ति प्रमाद्यन्ति ते प्रायुवः। यौतेः क्विप् तुगभाव आर्षः न प्रायुवोऽप्रायुवः। अनलसा अस्माकं वृद्ध्यै भवन्त्वित्यर्थः (म०) अप्रमाद्यन्तः—(उ०) तथा दिवेदिवेऽहन्यहनि प्रत्यहं रक्षितारः पालकाः—(म०) दिवेदिवेऽहन्यहनि तथा भूयादिति वाक्यशेषः—(उ०)॥

५ देवा नः—यहाँ नः को स्वरित नहीं हुआ, यद्यपि वह उदात्त का उत्तरवर्ती है। उदात्त + अनुदात्त + उदात्त—की स्थिति में अनुदात्त को स्वरित नहीं होता।

६. असन्—अस् + भुवि + लेट्, प्र० पु०, ब० व०। लेट् मे अट् आगम होता है (दे० सा० भा०)। अप्रधान वाक्य की क्रिया होने से उदात्तयुक्त है। धातुओं में आगम 'अ' पर उदात्त होता है ॥ १ ॥

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्। देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥ २ ॥

पदपाठः

देवानाम्। भद्रा। सुऽमतिः। ऋजुऽयताम्। देवानाम्। रातिः। अभि। नः। नि। वर्तताम्। देवानाम्। सख्यम्। उप। सेदिम। वयम्। देवाः। नः। आयुः। प्र। तिरन्तु। जीवसे ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

भद्रा सुखयित्री भजनीया वा देवानां सुमतिः शोभना मतिरनुग्रहात्मिका बुद्धिरस्माकमस्त्विति शेषः। कीदृशाम्। ऋजूयतामृजुमार्जवयुक्तं सम्यगनुष्ठातारं यजमानमात्मन इच्छताम्। तथा देवानां रातिर्दानं नोऽस्मानाभिमुख्येन नितरां वर्तताम्। तदभिमतफलप्रदानमप्यस्माकं भवत्वित्यर्थः। वयं च तेषां देवानां सख्यं सखित्वं सख्युः कर्म वोपसेदिम प्राप्नुयाम। तादृशा देवा नोऽस्माकमायुर्जीवसे जीवितुं प्र तिरन्तु वर्धयन्तु।[२]

---

[२] (शु० य० सं० २५।१५) ऋजूयताम्—ऋजु अवक्रं यन्ति गच्छन्ति ऋजुयन्तस्तेषाम्। इणः शतृप्रत्ययः। अवक्रगामिनाम्—(म०)। ऋजुगामिनाम्—(उ०)। यद्वा—ऋजुमवक्र साधुं यजमानं कामयन्ते ते ऋजूयन्ति। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० ३।१।८)। ऋजूयन्ति ते ऋजूयन्तस्तेषाम्। क्यजन्ताच्छतृ। साधुं यजमानं कामयमानानामित्यर्थः—(म०)। यद्वा—ऋजुकामिनाम्। ऋजुं प्रगुणं यजमानं कर्तुं ये कामयन्ते तथोक्ता—(उ०)।

भद्रा। 'भदि कल्याणे सुखे च'। 'ऋज्रेन्द्राग्र०' (उणा० २।२८) इत्यादौ रन्प्रत्ययान्तो निपातितः। ऋजूयताम्। ऋजुमात्मन इच्छति ऋजूयति। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० ३।१।८)। तदन्ताल्लटः शतृ। 'शतुरनुमो०' (पा० ६।१।१७३) इत्यजादिविभक्तेरुदात्तत्वम्। रातिः। 'रा दाने'। 'मन्त्रे वृषेष०' (पा० ३।३।९६) इति क्तिन् उदात्तत्वम्। सख्यम्। 'सख्युर्यः' (पा० ५।१।१२६) इति भावे कर्मणि वा य प्रत्ययः। सेदिम। 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति वर्तमाने प्रार्थनाया लिट्। सत्वस्यानैमित्तिकत्वेन लिटि परत आदेशादित्वाभावात् 'अत एक हल्मध्ये' (पा० ६।४।१२०) इत्येत्वाभ्यासलोपौ। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घत्वम्। प्रतिरन्तु। प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः। तथा च यास्को व्याचख्यौ—"देवानां सख्यमुपसीदेम वयं देवा न आयुः प्रवर्धयन्तु चिरं जीवनाय" (निरु० १२।३९) इति॥

हिन्दीभाषान्तर

सरल हृदय (यजमान) को चाहते हुए देवों की कल्याणकारिणी सुमति तथा देवों का दान हमारी ओर प्रत्यावर्तित हो जाय। हम देवों की मैत्री प्राप्त करें और देव हमारी आयु को जीने के निमित्त बढ़ा दें।

टिप्पणियाँ

ऋजूयताम्—ऋजुमात्मन इच्छति ऋजूयति, ऋजूयन्ति, इति ऋजूयन्तस्तेषाम्। ऋजु + क्यच् + शतृ, ष० ब० व०। सरल हृदय यजमानों को अपना बनाने की इच्छा करनेवाले। महीधर—इसके अतिरिक्त—ऋजु अवक्रं यन्ति

देवानां भद्रा भन्दनीया सुमतिः कल्याणी मतिः। अभि नो निवर्ततामित्यनुषङ्गः। अस्मान् प्रत्यभिमुखीभवतु'''। किञ्च देवानां रातिर्दानमभि नोऽस्मान् प्रति निवर्तताम्—(उ०)। भद्रा कल्याणकारिणी देवानां सुमतिः शोभना बुद्धिर्नोऽस्मान् प्रत्यभिनिवर्ततामस्मदभिमुखीभवतु।'' किञ्च देवानां रातिर्दानं नोऽस्मानभिनिवर्तताम्। देवा अस्मभ्यं ददत्वित्यर्थः—(म०)। सख्यं सखिभावं, यजमानाः सन्तः—(उ०)। मैत्रीम्—(म०) उपसेदिम प्राप्नुयाम। सदेर्लिटि उत्तमबहुत्वे रूपम्, संहितायां दीर्घः (म०)। नोऽस्माकं भक्तानामायुः—(उ०)। नोऽस्माकं सखीनामायुः—(म०)॥

गच्छन्ति ऋजूयन्तस्तेषाम्—सरल भाव से गमन करनेवाले। उव्वट—ऋजुं प्रगुण यजमानं कर्तुं ये कामयन्ते ते तेषाम्, यजमान को प्रकृष्ट गुणों से समन्वित करने की कामना करनेवाले। यहाँ 'शतुरनुमो०' से विभक्ति को उदात्त हुआ है।

२. सेदिम—षद्लृ—विशीर्ण होना, गति, अवसादन अर्थ में + प्रार्थना में लिट्, उ० पु०, ब० व०। संहिता में दीर्घ छान्दस् है।

३. जीवसे—जीव + असे, तुमुन् अर्थ में—'तुमर्थे०' से। तुमर्थक प्रत्यय धातुओं से बने संज्ञा-शब्दों के चतुर्थी, द्वितीया, पञ्चमी, षष्ठी एवं सप्तमी के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यहाँ चतुर्थी में है॥ २॥

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्। अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥ ३॥

पदपाठः

तान्। पूर्वया। निऽविदा। हूमहे। वयम्। भगम्। मित्रम्। अदितिम्। दक्षम्। अस्रिधम्। अर्यमणम्। वरुणम्। सोमम्। अश्विना। सरस्वती। नः। सुऽभगा। मयः। करत्॥ ३॥

सायणभाष्यम् ३

तान् विश्वान् देवान् पूर्वया पूर्वकालीनया नित्यया निविदा वेदात्मिकया वाचा वयं हूमहे। निविदिति वाङ्नाम। यद्वा निविदा 'विश्वेदेवा सोमस्य मत्सन्' इत्यादिकया वैश्वदेव्या निविदा वयं हूमहे। आह्वयामः। देवानिति यत् सामान्येनोक्तं तदेव विव्रियते। भगं भजनीयं द्वादशानामादित्यानामन्यतमम्। मित्रं प्रमीतेस्त्रायकमहरभिमानिनं देवम्। "मैत्रं वा अहः" (तै० ब्रा० १।७।१०।१) इति श्रुतेः। अदितिम् अखण्डनीयामदीना वा देवमातरम्। दक्षं सर्वस्य जगतो निर्माणे समर्थं प्रजापतिम्। यद्वा प्राणरूपेण सर्वेषु प्राणिषु व्याप्य वर्तमानं हिरण्यगर्भम्। "प्राणो वै दक्षः" (तै० सं० २।५।२।४) इति श्रुतेः अस्रिधं शोषणरहितं सर्वदैकरूपेण वर्तमानं मरुद्गणम्। अर्यमणम्। अरीन् मन्देहादीनसुरान् यच्छति

नियच्छतीत्यर्यमा सूर्यः । "असौ वा आदित्योऽर्यमा" (तै० सं० २।३।४।१) इति श्रुतेः । तम् । वरुणम् । वृणोति पापकृतः स्वकीयैः पाशैरावृणोतीति रात्र्यभिमानिदेवो वरुणः । श्रूयते च–'वारुणी रात्रिः" (तै० सं० १।७।१०।१) इति । सोमं द्वेधात्मानं विभज्य पृथिव्या लतारूपेण दिवि च चन्द्रात्मना देवतारूपेण वर्तमानम् । अश्विना अश्ववन्तौ । यद्वा–सर्वं व्याप्नुवन्तौ । तथा च यास्कः–"अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत् कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृता वित्यैतिहासिकाः" (निरु० १२।१) इति । एवम्भूतान् सर्वान् देवानस्मद्रक्षणार्थमाह्वयाम इति पूर्वत्र सम्बन्धः । अस्माभिराहूता सुभगा शोभनधनोपेता सरस्वती नोऽस्मभ्यं मयः सुखं करत् करोतु ।[3]

हूमहे । ह्वेञो लटि 'ह्वः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति सम्प्रसारणम् । परपूर्वत्वे 'हलः' (पा० ६।४।२) इति दीर्घत्वम् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । अस्त्रिधम् स्त्रिधु शोषणे । सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप । बहुव्रीहौ, 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । मयस्करत् । करोतेर्लेटि अडागमः 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७६) इति विकरणस्य लुक् । 'अतः कृकमि···' (पा० ८।३।४६) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ।

हिन्दीभाषान्तर

हम (गोतम) उन भग, मित्र, अदिति, दक्ष, प्रतिकूल न होनेवाले (मरुद्गण ?), अर्यमन्, वरुण, सोम तथा अश्विनों को पूर्वकालिक निविद् (स्तुतिविशेष) द्वारा पुकारते हैं । शोभनधन वाली सरस्वती हमारे लिए सुख प्रदान करे ।

---

[3] (शु० य० सं० २५।१६) पूर्वया प्राचीनया, अकृत्रिमया स्वयम्भुवा निविदा वाचा वेदरूपया—(म०)। अस्त्रिधम् अच्युतसद्भावम्—दक्षस्यैतद्विशेषणम्—(उ०)। अस्त्रिधमिति भगादीनां विशेषणम्। न स्त्रेधते च्योतते सोऽस्त्रित् तमच्युतसद्भावम् ।·····शोभनं भगं यस्याः सा सुभगा भजनीया सरस्वती भगादिसहिता—(म०) ॥

टिप्पणयाँ

१. भगम्—आदित्य गण में भग का भी उल्लेख है—ऋ० २।२७।१ यह भाग्य का देवता है। अवेस्ता में 'वघ' शब्द उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ भाग्य है। स्लावभाषाओं (रूसी, पोलिश आदि) में इसी शब्द के समान 'बोग' शब्द मिलता है जिसका अर्थ देवता है। प्राचीन स्लाव-पुराकथाओं में 'बील बोग' (श्वेत देव) तथा 'जर्नी बोग' (कृष्ण देव) का वर्णन मिलता है–मार्टिन हाग, (एसेज़ ऑन रिलीजन ऑफ़ पारसीज़, पृ० २७३, पादटिप्पणी भी देखिए)।

२. मित्रम्—इस देवता का भी परिगणन आदित्यवर्ग में किया गया है। सम्भवतः यह दिन का अभिमानी देवता है। अवेस्ता का सौर देवता 'मिथ्र' और यह एक हैं। सम्भवतः मित्र शब्द का अर्थ सखा है। अवेस्ता में मिथ्र भी विश्वास का संरक्षक है। मित्र तथा वरुण प्रायः एकत्र स्तुत हुए हैं।

सजातीय शब्द—अवे० मिथ्र, प्रा० पा० मिष, एलम मिइश-श, अक्काद मि-इत्-रि, न० पा० मिह्र् (सं० मिहिर)।

३. अदितिम्—अ+दो अवखण्डने, कर्मणि क्तिन्। सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्; श० ब्रा० १०।६।५।५। अदिति के अर्थ के सम्बन्ध में प्रायः वैमत्य है। एक मत के अनुसार इसका अर्थ बन्धनों, पाशों से मुक्ति है एवं दूसरी दृष्टि से स्वातन्त्र्य, आनन्त्य है। अन्य विद्वान् इसे अविनश्वर अन्तरिक्षीय ज्योति मानते हैं। वैदिक प्रमाणों का आयाम अन्तिम अर्थ की पुष्टि करता है। आदित्यों का सम्बन्ध प्रकाश से है और यह उनकी जननी कही गयी है अतएव 'परमे व्योमन्' में स्थित 'ज्योतिष्मती' के रूप में इसका चित्रण समुचित ही है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का अभिमत है कि पहले अदिति देवी रूप में इतनी समादृत नहीं थी, जितनी अनुवर्ती युग में हुई। विश्व में मातृदेवी की पूजा का प्रभाव अत्यन्त प्राचीन है, उससे वैदिक जन भी मुक्त नहीं हो सका।

४. दक्षम्—यह भी आदित्य देवता है। यह बौद्धिक चातुर्य का अधिदेव है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह अदिति के पुत्र और पिता के रूप में वर्णित है।

५. अखिधम्—खिधु + क्विप् = खिध्, न खिध् = अखिध, द्वि० ए० व०। सायण ने इसका अर्थ शोषणरहित किया है, अन्य लोग भूल न करनेवाला, विफल न होनेवाला करते हैं। वस्तुतः अखिध् का अर्थ—जो हमारे लिए प्रतिकूल, विरोधी, द्वेष या प्रतिरोध-भाव नहीं रखता, जो हमारे प्रति मैत्री-भाव रखता है (दे०, खोदा, इपीथेट्स इन दि ऋग्वेद, पृ० १४१, २१०) अन्यत्र ऋ० ५।४६।४ में यह विष्णु तथा वात के विशेषण के रूप में आया है। उपर्युक्त दोनों देवता आनन्द और भोग के दाता हैं। यहाँ यह मरुद्गण के लिए प्रयुक्त हुआ है।

६. अर्यमणम्—अर्यमा भी सौर देवता है। इसका चित्रण सुहृद्, साथी के रूप में मिलता है। वस्तुतः मित्र की विशेषताएँ इसमें भी उपलब्ध होती हैं। विशेष रूप से मनुष्य के साथ इसके सम्बन्ध के विषय मे यह शान्ति, सन्धि, विवाह का देवता है। 'मन्नन्त' पुल्लिंग होने पर, मन् के 'म' पर उदात्त होता है, अतः 'अर्यमणम्' का 'म' उदात्त है।

७. वरुणम्—वरुण देवता का नाम भी आदित्यों में है। मित्र के साथ इसके साहचर्य का निर्देश किया जा चुका है। यह 'ऋत'—शाश्वत नैतिक नियम–का अधिदेव है। विद्वान् ग्रीक देवता 'यूरेनस' से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। अवेस्ता के अहुरमज्द और वरुण में नाम की समता तो नहीं है, पर चरित्रपरक समानता मिलती है [राथ; ह्विटनी]। विण्डिशमैन के अनुसार अहुरमज़्द विशुद्ध ईरानी है। स्पीगेल के मत में अहुरमज्द और वरुण में कोई साम्य नहीं है। ओल्डेनबर्ग वरुण को चन्द्रमा का प्रतिनिधि मानते हैं। मैकडोनेल इसे विस्तृत आकाश मानने के पक्ष में हैं। अपने समर्थन मे ऋ० सं० १।८९।३, तै० सं० १।८।१६।१, २।१।७।४ पर लिखित सायण भाष्य को भी प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मणों में वरुण को रात्रि का सूर्य कहा गया है : 'रात्रिर्वरुणः' ऐ० ब्रा० ४।१०, 'वारुणी रात्रिः' तै० ब्रा० १।७।१०।१ वृ, आवृत्त करना + उन्। 'उनर्व-न्नन्तानाम्' फि० सू० २।३२ से आद्युदात्त।

८ सोम—ऋग्वेद में सोम से सम्बद्ध लगभग १२० सूक्त हैं। सोमलता से सम्भवतः ऋग्वेदीय जनो का भी पूर्ण परिचय नहीं था। यदि हिलब्रान्त का यह मत मान लिया जाय कि ऋ० सं० ३।५।३।१४ में प्रयुक्त 'नैचाशाख' शब्द

सोम का विशेषण है तो यह मानना पड़ेगा कि उसके पत्ते और टहनियाँ नीचे की ओर लटकी रहती थी। यह सोमलता पोरो से युक्त बताई गयी है। सम्भवतः इसमें काँटे भी होते थे। सोम मुञ्जवान् पर्वत पर मिलता था। ब्राह्मणों मे सोम की दिशा उत्तर (तै० ब्रा० ३।११।५।२), पश्चिम (ऐ० ब्रा० १।८) तथा पूर्व (ऐ० ब्रा० १।३) कही गयी है। सोमरस का वर्ण अरुण, हरित या पिंगल, शोण या अरुष कहा गया है। सोम को अवेस्ता में हओम के नाम से वर्णित किया गया है। बलूची भाषा मे इसे उमान, चीनी मे सिम या सुम कहा गया है। अँग्रेजी भाषा में एफ्रिडा बलगेरिस या साण्टिया बेल-विरोडी के नाम से इसे जाना गया है। लास्सन, म्यूर, हाग, मैक्समूलर, कीथ, मैकदोनेल सोम को सरकोस्टेमा विमिनेल, ऐस्क्लेपियस एसिडा या सरकोस्टेमा ब्रेविस्टग्मा कहा है। राथ सरकोस्टेमा ऐसीडम को ही सोम के अधिक समीप बताते हैं। डॉ० एचीसन एफेड्रा पेचिक्लाडा को सोम मानते हैं। यह पौधा बलूचिस्तान, हरिरुद घाटी और ईरान के पार्वत्य प्रदेशों में बहुत मिलता है। एफ्रेडा की एक अन्य जाति हुम-इबंदक नाम से प्रसिद्ध है। मैक्समूलर का कथन है कि उक्त पौधे की पिसाई करने पर पर्याप्त मात्रा में रस निकलता है। वाट के अनुसार अफगानी अंगूर ही सोम है। राइस के मत मे यह गन्ना है। मैक्समूलर और राजेन्द्र लाल मित्र के मत से सोम से यवसुरा का निर्माण किया जाता था। कतिपय अन्य विद्वान् इसे भाँग या सन मानते हैं। कर्मान और येज्द के पारसी जिस पौधे से हूम रस बनाते हैं, उसे हओम से अभिन्न मानते हैं। हिलब्रान्त सोम को चन्द्रमा कहते हैं। अनुवर्ती युग में सोम के स्थान पर अन्य पौधों का प्रयोग यज्ञों में किया जाता था (सोमलता के स्थान पर अन्य लताओं के प्रयोग से सम्बद्ध सन्दर्भ के लिए देखिए, पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, ज० के० आर० का० ओ० रि० इं० : अं० ३१, पृ० २२६)। इसी सोमलता का अधिदेव सोम है। इसकी रूपसंरचना अत्यन्त अस्पष्ट है।

९. अश्विना—युग्मदेवता अश्विनौ। इनके वास्तविक रूप के सम्बन्ध में बहुत मतवैषम्य है। इनका सम्बन्ध अश्व से भी जोड़ा जाता है। ग्रीक 'दिओ-सकोरस', लातीनी 'कैस्तोर पोलुक्स' भी अश्वयुक्त देव हैं। सम्भवतः इनमें परस्पर साम्य है। कुछ विद्वान् इन्हें सूर्य के अग्रचारी प्रकाश के रूप में

स्वीकारते हैं। पूना के समीप गाजा नामक स्थान पर गुहाओं के उत्कीर्ण (रिलीफ) चित्रों में एक पुरुष है, उसके निकट दो नारियाँ और सामने दो अश्वारोही हैं। अश्व एवं अश्वारोही दोनों के सिर पर कलंगी है। पुरुष के पीछे प्रभामण्डल है। पुरुष रथ पर आरूढ़ है। अश्वारोहियो के समीप में कुछ कुत्सित नारियो एवं पुरुषों के चित्र हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि अश्विन् सूर्य के आगे चलनेवाले अश्वारोही हैं। निरुक्त मे कहा गया है कि अश्विन् पुण्यकर्मा राजा हैं। यह मत प्राचीन ऐतिहासिकों का है। वस्तुतः अश्व से उनका सम्बन्ध उनकी सौरात्मकता का द्योतक है ॥ ३ ॥

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं
तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुव-
स्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥ ४ ॥

पदपाठः

तत्। नः। वातः। मयःऽभु। वातु। भेषजम्। तत्। माता। पृथिवी। तत्। पिता। द्यौः। तत्। ग्रावाणः। सोमऽसुतः। मयःऽभुवः। तत्। अश्विना। शृणुतम्। धिष्ण्या। युवम् ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

वातो वायुस्तद् भेषजमौषधं नोऽस्मान् वातु प्रापयतु। यद् भेषजं मयोभु मयसः सुखस्य भावयितृ। माता सर्वेषां जननी पृथिवी भूमिरपि तद् भेषजम् अस्मान् प्रापयतु। पिता वृष्टिप्रदानेन सर्वेषां रक्षिता द्यौः द्युलोकोऽपि तद् भेषजम् अस्मान् प्रापयतु। सोमसुतः सोमभिषवं कृतवन्तो मयोभुवो मयसो यागफलभूतस्य सुखस्य। भावयितारो ग्रावाणोऽभिषवसाधनाः पाषाणाश्च तद् भेषजमस्मान् प्रापयन्तु। हे धिष्ण्या। धिषणा बुद्धिस्तदर्हावश्विनौ। युवं युवां तद् भेषजं शृणुतमाकर्णयतम्। यद् भेषजमस्माभिर्वाय्वादिषु प्रार्थ्यते,

यद् भेषजं देवाना भिषजौ युवामस्माकमनुकूलं यथा भवति तथा जानीतमित्यर्थः ।[४]

मयोभु । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (पा० १।२।४७) इति ह्रस्वत्वम् । वातु । 'वा गतिगन्धनयोः' अन्तर्भावितण्यर्थात् प्रार्थनाया लोट् । सोमसुतः । 'सोमे सुञः' (पा० ३।२।९०) इति भूते क्विप् । धिषणाशब्दाद् अर्हार्थे 'छन्दसि च' (पा० ५।१।६७) इति यः । वर्णलोपश्छान्दसः । 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इत्याकारः ।

हिन्दीभाषान्तर

वायुदेव उस सुखदात्री औषध को हमारे समीप पहुँचाएँ । माता पृथिवी उस (सुखदात्री औषध को हमारे समीप पहुँचाएँ) । पिता द्युलोक उस (सुखदात्री···) सोम को चुआनेवाले, सुखदायक पाषाण उस (सुखदात्री···) । ओ बुद्धिमान् अश्विनो ! तुम दोनो उसे सुन लो ।

टिप्पणियाँ

१. अश्विना—सम्बोधन, द्वि० व० । सम्बोधन-पद जहाँ वाक्य या पाद के प्रारम्भ में नहीं रहता, वहाँ उदात्त का अभाव होता है, अतएव 'अश्विना' में उदात्त नहीं है—'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) ।

---

[४] (शु० य० सं० २५।१७)—तद् भेषजं मयोभु सुखस्य भावयितृ नोऽस्माकं वातो वातु अनुगृह्णातु ।···तच्च हे अश्विनौ धिष्ण्या धारयितारौ युवं युवामपि शृणुतम् । श्रुत्वा चानुगृह्णीतम् (उ०) ॥ वातः पवनो नोऽस्माकं भेषजमौषधं हितं यथा तथा वातु 'वा गतिगन्धनयोः' लोट् । प्रवातु । अनुगृह्णात्वित्यर्थः । ददात्विति यावत् । कीदृशं हितम् । मयोभु मयः सुखं भवति यस्मात्तन्मयोभु सुखोत्पादकं हितं ददातु । माता जगन्निर्मात्री पृथिवी तद् हितं वातु । पिता पालको द्यौः स्वर्गस्तद् हितं वातु । सोमं सुन्वन्ति सोमसुतः सोमाभिषवकारिणो ग्रावाणो दृषदस्तद् भेषजं वान्तु ददतु । कीदृशा ग्रावाणः । मयोभुवः । मयः सुखं भावयन्ति ते मयोभुवः सुखस्य दातारः । हे अश्विना अश्विनौ युवं युवां तद् वातादिभ्यो भेषजप्रार्थनं शृणुतं युवामपि हितं दत्तमित्यर्थः । कीदृशौ युवाम् । धिष्ण्या धिष्ण्यौ गृहवद् धारयितारौ—(महीधरः) ॥

२. धिष्ण्या—छन्दस्परिमार्जन के निमित्त 'धिष्णिया' पढ़ा जायगा। धिषणा + अर्हार्थे य; द्वि० व०, प्रथमा सम्बोधन। 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) से आकारलोप। वर्णलोप छान्दस् है। खोदा के अनुसार इसके अर्थ उदार, दयालु, परोपकारी, शिष्ट आदि हैं (वही, पृ० ११७)। माता को 'म आता' एवं 'द्यौः' को दिऔः पढ़ना चाहिए, अन्यथा छन्दोभंग होगा ॥ ४ ॥

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑
धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे
र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ ५ ॥

पदपाठः

तम्। ईशा॑नम्। जग॑तः। त॒स्थुषः॑। पति॑म्। धि॒यं॒ऽजि॒न्वम्। अव॑से। हू॒म॒हे॒। व॒यम्। पू॒षा। नः॒। यथा॑। वेद॑साम्। अस॑त्। वृ॒धे। र॒क्षि॒ता। पा॒युः। अद॑ब्धः। स्व॒स्तये॑ ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम् ५

पूर्वार्धेनेन्द्रः स्तूयते, अपरार्धेन पूषा। ईशानमैश्वर्यवन्तम्, अतएव जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिं स्वामिनं धियञ्जिन्वं धीभिः कर्मभिः प्रीणयितव्यम्। एवम्भूतं तमिन्द्रमवसे रक्षणाय वयं हूमहे। आह्वयामः। पूषा नोऽस्माकं वेदसा धनाना वृधे वर्धनाय रक्षिता यथासत् येन प्रकारेण भवति तेनैव प्रकारेणादब्धः केनाप्यहिंसितः पूषा नोऽस्माक वेदसां धनाना वृधे वर्धनाय रक्षिता यथासत् येन प्रकारेण भवति तेनैव प्रकारेणादब्धः केनाप्यहिंसितः पूषा स्वस्तयेऽस्माकमविनाशाय रक्षिता भवतु।[५]

[५] (शु० य० सं० २५।१८)—ईशानं रुद्रम्।........ पतिमिव पतिम्। धिया बुद्ध्या सङ्कल्पमात्रेण जिन्वति प्रीणातीति धियञ्जिन्वम्। यद्वा धिया कर्मणा जिन्वति प्रीणातीति धियञ्जिन्वम्। अवसे अवनाय तर्पणाय किञ्च पूषा नोऽस्माकं वेदसां धनानाम् असद् भूयाद् वृधे वर्धनाय। रक्षिता च पायुः

तस्थुषः । तिष्ठतेर्लिटः क्वसुः । षष्ठ्येकवचने 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० ६।४।१३१) इति सम्प्रसारणम् । 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) इति षत्वम् । 'षष्ठ्याः पतिपुत्र०' (पा० ८।३।५३) इतिविसर्जनीयस्य सत्वम् । धियञ्जिन्वम् । जिविः प्रीणनार्थः । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० ३।३।११३) इति बहुलवचनात् । खच् । 'इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' (पा० ६।३।६८) इत्यमागमः । असत् । 'अस् भुवि' । लेट्यडागमः । 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुगभावः । पायुः । 'पा रक्षणे' । 'कृवापाजि०' (उणा० १।१) इत्युण् । स्वस्तये । सुपूर्वादस्तेर्भावे क्तिन् । छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति सार्वधातुकत्वाद् 'अस्तेर्भूः' (पा० २।४।५२) इति भूभावाभाव इति वृत्तावुक्तम् ।

(इति षष्ठेऽध्याये पञ्चदशो वर्गः)

हिन्दीभाषान्तर

चर (तथा) अचर के पति, मन्त्रों के प्रेरक उस ऐश्वर्यवान् इन्द्र को हम (गोतम) सहायता हेतु आवाहित करते हैं। जिससे रक्षक, पालक एवं अप्रतारित पूषा हमारे धनों की कल्याणकारिणी वृद्धि के लिए हो ।

टिप्पणियाँ

१. धियञ्जिन्वम्—धियं जिन्वतीति—धी + जिवि + खच् । द्वि० ए० व० । यजमान के मन को प्रसन्न करनेवाले । धिया जिन्वति ऐसा विग्रह भी किया

पाता च । अदब्धोऽनुपहिंसितश्चान्येन केनचित् स्वस्तये अविनाशाय । तथा हूमहे वयमित्यनुषङ्गः (उव्वटः) ॥

वयं तं प्रसिद्धमीशानं रुद्रं हूमहे आह्वयामः । कीदृशं तम् । जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च भूतजातस्य पतिं पालकम् । धियञ्जिन्वम्, धियं बुद्धिं जिन्वति प्रीणतीति धियञ्जिन्वस्तम् । अलुक् बुद्धिसन्तोषकारकम् । जिन्वतिः प्रीणानार्थः । किमर्थं हूमहे । अवसे अवितुं तर्पयितुम् । तुमर्थे असेप्रत्ययः । यथा येन प्रकारेण पूषा नोऽस्माकं वृधे वृद्धयै स्वस्तये कल्याणाय च असद् भवतु तथा हूमहे इत्यर्थः । कीदृशः पूषा । वेदसां धनानां ज्ञानानां वा रक्षिता रक्षकः । पायुः पालकः पुत्रादीनाम् । अदब्धोऽनुपहिंसितः—(महीधरः) ।

जा सकता है, तब अर्थ होगा, बुद्धि या कर्म से प्रसन्न होनेवाला। सायण इसी अर्थ को स्वीकारते हैं। 'धी' के लिए दे०, खोंदा, विजन आफ वैदिक पोएट्स, पृ० ६८-१७०। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार ऋग्वेद में धी शब्द का मन्त्र के अर्थ में बहुल प्रयोग हुआ है, अतः अर्थ होगा मन्त्रप्रेरक।

२. अवसे—अव् + असे तुमर्थक। देखिए मन्त्र २ में जीवसे पर टिप्पणी। सहायता के लिए।

३. पूषा—पुष्, पोषण करना, समृद्ध बनाना (मैकदोनेल, वै० मा०, पृ० ३७; ब्लूमफील्ड, रिलीजन आफ् दि वेद, पृ० १७०; एटकिन्स, पूषन् इन दि ऋग्वेद, पृ० ३६ आदि; खोंदा, स्टाइलिस्टिक रिपीटीशन इन दि वेद, पृ० ३७६) से निष्पन्न पूषा देवता का आदित्यवर्ग में उल्लेख हुआ है [पुष् + कनिन्, उणा० १।१५५] ऋग्वेद के ८ सूक्तों में इसकी स्तुति की गयी है। पूषा के अनेक विरुद हैं (सकल विरुदों के संग्रह के लिए देखिये—एस्० डी० एट्-किन्स, पूषन् इन दि ऋग्वेद, प्रिन्स्टन, १९४१, पृ० ९८ आदि)। वह पशुओं की रक्षा करता है और यदि पशु खो जायें तो उन्हें सुरक्षापूर्वक घर वापस लाता है। विद्वानो ने पूषा को चरवाहो का देवता कहा है। (ग्रिसवोल्ड, रिलीजन आफ् ऋग्वेद, पृ० ८३-८४; आर० एन० दाण्डेकर, पूषन् दि पास्टोरल गॉड आफ् दि वेद, न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, ५ (१९४२, पृ० ५७ आदि)। पूषा पशुसमूह एवं चरवाहो की रक्षा करता हुआ उनके संवर्धन, समृद्धि तथा भलाई में दत्तचित्त रहता है। (दे,० मैकदोनेल, वै० मा०, पृ० ३५ आदि; खोंदा, आस्पेक्ट्स आफ् अर्ली विष्णुइज़्म, पृ० १०१ आदि)। ऋ० ६।५५।५ में इन्द्र और पूषा को भाई कहा गया है। ८।४।१५-१६ में वह 'विमोचन' (मुक्तिदाता) के नाम से स्मृत हुआ है। पूषा प्रत्येक पथ का रक्षक है—पाथस् पाथः परिपतिम्–६।४९।८ 'अजाश्व' विरुद से ज्ञात होता है कि उसके रथ में बकरे जोते जाते थे। इस देवता का विवाह-संस्कार से भी सम्बन्ध है (ऋ० १०।८५)। पूषा का विवाह सूर्यसुता सूर्या से हुआ है।

४. वेदसाम्—विद् + असुन्–वेदस्, धन, ज्ञान। 'वेदसाम्' के प्रथम अक्षर में उदात्त है—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'—(पा० ६।१।१९७)।

५. स्वस्तये—सु + अस् + भावे क्तिन्। अविनाश के लिए—'स्वस्तीत्य-विनाशनाम' (निरु० ३।२१)। कल्याण के लिए। छन्द के परिमार्जनार्थ 'सु अस्तये' पढ़ना चाहिए। 'क्तिन्'—'रित' में उदात्त (मन्त्रे वृषेषपचमन०, पा० ३।३।९६)॥ ५॥

षष्ठी विराट्स्थाना

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ६ ॥

पदपाठः

स्वस्ति । नः । इन्द्रः । वृद्धऽश्रवाः । स्वस्ति । नः । पूषा । विश्वऽवेदाः । स्वस्ति । नः । ताक्ष्यः । अरिष्टऽनेमिः । स्वस्तिः । नः । बृहस्पतिः । दधातु ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

वृद्धश्रवा वृद्धं प्रभूतं श्रवः श्रवणं स्तोत्रं हविर्लक्षणमन्नं वा यस्य तादृश इन्द्रो नोऽस्माकम्। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम' (निरु० ३।२१)। स्वस्त्यविनाशं दधातु। विदधातु करोतु। विश्ववेदाः। विश्वानि वेत्ति, इति विश्ववेदाः। यद्वा—विश्वानि सर्वाणि वेदांसि ज्ञानानि धनानि वा यस्य। तादृशः पूषा पोषको देवो नोऽस्माकं स्वस्ति विदधातु। अरिष्टनेमिः। नेमिरित्यायुधनाम। अरिष्टोऽहिंसितो नेमिर्यस्य। यद्वा—रथचक्रस्य धारा नेमिः। यत्सम्बन्धिनो रथस्य नेमिर्न हिंस्यते सोऽरिष्टनेमिः। एवम्भूतस्ताक्ष्यस्तृक्षस्य पुत्र गरुत्मान् नोऽस्माकं स्वस्त्यविनाशं विदधातु। तथा बृहस्पतिर्बृहतां देवानां पालयिता नोऽस्माकं स्वस्त्यविनाशं विदधातु।[६]

[६] (शु० य० सं० २५।१९)—स्वस्ति स्वस्त्ययनम्।·········दधातु स्थापयतु।···वृद्धश्रवाः प्रभूतसाधनः महाशब्दो महाकीर्तिर्वा।···विश्ववेदाः सर्वज्ञो वा।·······अरिष्टनेमिः अनुपहिंसितासुः।—(उव्वटः)।

वृद्धश्रवाः बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। विश्ववेदाः। 'विद् ज्ञाने' 'विद्लृ लाभे'। आभ्यामसुन्प्रत्ययान्तो वेदस्शब्दः। 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (पा० ६।२।१०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। तार्क्ष्यः तृक्षस्यापत्यम्। 'गर्गादिभ्यो यञ्' (पा० ४।१।१०५) ञित्वादाद्युदात्तत्वम्। अरिष्टनेमिः। न रिष्टारिष्टा। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अरिष्टा नेमिर्यस्य तथोक्तः। बृहस्पतिः। 'तद् बृहतोः करपत्यो [श्चोरदेवतयोः]' ['सुट् तलोपश्च]' (पा० ६।१।१५७-गणसूत्रम्) इति सुट्-तलोपौ। 'उभे वनस्पत्यादिषु' (पा० ६।२।१४०) पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत् प्रकृतिस्वरत्वम्।

हिन्दीभाषान्तर

प्रभूत कीर्तिवाला इन्द्र हमारा कल्याण करे। समस्त धनो से युक्त पूषा हमारा कल्याण करे। अहिंसित चक्रपरिधि वाला तार्क्ष्य हमारा कल्याण करे। बृहस्पति हमारा कल्याण करे।

टिप्पणियाँ

१. वृद्धश्रवाः—श्रूयते इति श्रवः, श्रु+असुन्, "सर्वधातुभ्योऽसुन" वृद्धं श्रवो यस्य सः। प्रभूत कीर्तिवाला, सायण इसका अर्थ प्रभूत अन्नवाला भी करते हैं। बहुव्रीहि समास के कारण पूर्वपद के अन्त में उदात्त हुआ है—'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० ६।२।१)।

२. विश्ववेदाः—विश्वानि वेदांसि यस्य—ब० व्री०, दे० 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (पा० ६।२।१०६) से पूर्वपद विश्व के 'श्व' को उदात्त हुआ है।

३. तार्क्ष्यः—तृक्ष+अपत्य अर्थ मे, अञ्। तृक्ष का पुत्र। ञित होने से आदि वर्ण में उदात्त है 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७)। पं० क्षे० च० चट्टोपाध्याय के मत से यह सूर्य है।

४. बृहस्पतिः—यह मन्त्रों का अधिदेवता है। इसका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति भी है। इसका शारीरिक वर्णन नगण्य-सा है। इन्द्र के साथ संयुक्त

विराट् स्थाना। आदौ पादौ नववर्णौ तृतीयो दशकस्तुर्यो व्यूहेनैकादशकः—'नवको वैराजस्त्रैष्टुभश्च' इति वचनात्। इन्द्रो नोऽस्मभ्यं स्वस्ति अविनाशं शुभं दधातु। कीदृशः। वृद्धश्रवाः। वृद्धं महत् श्रवः कीर्तिर्यस्य सः। पूषा

रहने के कारण उनके अनेक विशेषण—मघवन्, वज्री—इसे भी प्राप्त हैं। गुहा-गुप्त धेनुओं को मुक्त करने में बृहस्पति का भी हाथ था। पति शब्द जिन तत्पुरुष समासों में रहता है, उनमें दो उदात्त होते है।

छन्द परिमार्जन के निमित्त—'स्वस्ति' को 'सुअस्ति', 'इन्द्रो' को 'इन्दरो', 'विश्ववेदाः' को विश्वएदाः' पढ़ना चाहिए। विराट्स्थाना के प्रत्येक पाद में १० वर्ण होते हैं ॥ ६ ॥

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः
शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः ।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो
विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥ ७ ॥

पदपाठः

पृषत्ऽअश्वाः । मरुतः । पृश्निऽमातरः । शुभम्ऽयावानः । विदथेषु । जग्मयः । अग्निऽजिह्वाः । मनवः । सूरऽचक्षसः । विश्वे । नः । देवाः । अवसा । आ । गमन् । इह ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम् ७

पृषदश्वाः। पृषद्भिः श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता अश्वा येषां ते तथोक्ताः। पृश्निर्नानावर्णा गौर्माता येषाम्। शुभंयावानः। शुभं शोभनं यान्ति गच्छन्तीति शुभंयावानः। शोभनगतय इत्यर्थः। विदथेषु यज्ञेषु जग्मयो गन्तारः। अग्निजिह्वा अग्नेर्जिह्वायां वर्तमानाः। सर्वे हि देवा हविः स्वीकरणायाग्नेर्जिह्वाया वर्तन्ते। तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्। मनवः सर्वस्य मन्तारः। सूरचक्षसः सूर्यप्रकाश इव चक्षः

नः स्वस्ति ददातु। कीदृशः। विश्ववेदाः। विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य विश्वं वेत्तीति वा विश्ववेदाः। तार्क्ष्यो रथो गरुडो वा नः स्वस्ति दधातु। कीदृशः अरिष्टनेमिः। अरिष्टा अनुपहिंसिता नेमिश्चक्रधारा पक्षो वा यस्य सः। बृहस्पतिर्देवगुरुर्नोऽस्मभ्यं ददातु—(महीधरः)।

प्रकाशो येषा त एवम्भूता मरुतो मरुत्सञ्ज्ञका विश्वेदेवाः सर्वे देवाः नोऽस्मानिहास्मिन् कालेऽवसा रक्षणेन सह आगमन् । आगच्छन्तु ।[७]

शुभंयावानः । 'या प्रापणे' । 'आतो मनिन्…' (पा० ३।२।७४) इति वनिप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० ६।३।१४) इति बहुलवचनाद् द्वितीयाया अप्यलुक् । गमन् । गमेः प्रार्थनाया लेट्यडागमः । 'इतश्च लोप. पर…' (पा० ३।४।९४) इतीकारलोपः । 'बहुलं छन्दसि' (पा०२।४।७३) इति शपो लुक् ॥

हिन्दीभाषान्तर

चितकबरी घोडियों वाले, पृश्नि नामिका मातावाले, शुभगंता (और) यज्ञों में गमनशील मरुद्गण, (तथा) सूर्यरूपी नेत्रो एवं अग्निरूपी जीभवाले वीर या मानने वाले विश्वेदेव (निखिल देव) यहाँ (यज्ञ में) हमारे लिए सहायता के साथ आएँ ।

टिप्पणियाँ

१. पृषदश्वाः—सायण 'पृषद्भिः युक्ता अश्वाः येषा ते तथोक्ताः'—श्वेत चित्तियो से युक्त घोड़ो वाले अर्थ करते हैं । उव्वट और महीधर भी इसी का अनुगमन करते हैं । महीधर ने एक अन्य अर्थ भी प्रस्तुत किया है—पृषत्यः अश्वा येषा ते, जिनके पास पृषती सञ्ज्ञक घोड़ियाँ हैं । निघण्टु में—'पृषत्यो मरुताम्'—मरुद्गण की घोड़ियाँ चितकबरी कही गयी हैं, अतः यही अर्थ ठीक लगता है । पृषदश्वा विशेषण प्रायः मरुतो के लिए प्रयुक्त हुआ है । (ऋ० १।८७।४, १।६।८, ७।४०।३)

२. मरुत —मरुतो का एक वर्ग है । इनका सम्बन्ध रुद्र से है । रुद्र के पुत्ररूप में इनका वर्णन हुआ है । इनकी माता 'पृश्नि' कही गयी है । कदाचित् यह गोरूपा है । इनकी पत्नी रोदसी देवी है जो सर्वदा इनके रथ पर आरूढ़

---

[७] (शु० य० सं० २५।२०)—पृषदश्वा मरुतः । पृषन्तः शबला अश्वा येषां ते पृषदश्वाः । पृश्निमातरः । पृश्निर्द्यौर्माता येषां त एवमुच्यन्ते । शुभं कर्तुं जनान् प्रति ये यान्ति ते शुभंयावानः । 'आतो मनिन्-क्वनिप् वनिपश्च' इति वनिप् । विदथेषु यज्ञेषु जग्मयो गमनशीलाः । 'आद-गम-हन्…' इति किः । य इत्थम्भूताः । मरुतस्ते अन्सा अन्नेन हविर्लक्षणेन आहूताः सन्त आगमन् आगच्छन्तु । इहेत्यनुषङ्गः । ये च अवसा गमन्निह । ये च सूरचक्षस आदित्यदर्शना विश्वेदेवास्ते च नोऽस्माकमवसागमन्निह यज्ञे—(उव्वटः) ।

रहती है। इन्द्र के सहचर के रूप मे वृत्रवध के अवसर पर मरुद्गण ने सहायता की थी। इनका मुख्य कार्य वृष्टि-प्रदान करना है।

३. पृश्निमातरः—सायण के अनुसार 'पृश्निर्माता येषा ते तथोक्ताः'—ब० व्री०। चितकबरी गौ जिनकी माता है वे मरुत्। पृश्नि का अर्थ चित्ती भी होता है—ऋ० १।१६०।३, ७।१०३।४। मैकडोनेल ने 'अर्चन्तो अर्क जनयन्त इन्द्रियम्, अधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः' ऋ० १।८५।२ की व्याख्या के समय, जिनकी माता पृश्नि है, अर्थ किया है। यह भी मरुतो के विरुद के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ चितकबरी गायो वाले भी सम्भव है। पृश्नि = चितकबरी। 'नि' से अन्त होनेवाले शब्द उदात्त होते हैं 'वर्णाना तण-तिनितान्तानाम्' (फि० सू० २।३३). अतः 'पृश्नि' का प्रथम वर्ण उदात्त है।

४. शुभंयावानः—शुभ + या + वनिप्, प्र० ब० व०। ग्रोदा के अनुसार यहाँ अर्थ करना चाहिए 'पाँत बाँधकर सुन्दरतापूर्वक गमन करनेवाले'।

५. विदथ—विध् पूजार्थक + थ = स० ब० व०। यज्ञ, दैवी पूजा। विद्वानो का मत है कि विदथ वि पूर्वक धा धातु से व्युत्पन्न हुआ है। 'विधा' का अर्थ है वितरण करना, व्यवस्थित करना, क्रमबद्ध करना, नियोजित करना, स्थापित करना, विहित करना, विधान बनाना। अतः इसका प्रारम्भिक अर्थ विधान, वितरण, नियम रहा होगा। वैदिक ऋषियो की विचारसरणि मे यज्ञ

जगती। मरुतो देवा अवसाऽन्नेन हविर्लक्षणेन हेतुना इह यज्ञे आगमन्ना-गच्छन्तु। पृषदश्वाः। पृषत्वा पृषतीसञ्ज्ञा अश्वा वडवा वाहनं येषां ते पृषदश्वाः। पुंवद्भावः। 'पृषत्यो मरुताम्' इति निघण्टुवचनात्। यद्वा पृषन्तः शबला अश्वा येषां ते पृश्निर्द्यौर्गौर्दितिः (? रदिति ?) वा माता जननी येषां ते पृश्निमातरः। शुभं कल्याणं यन्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति वा शुभंयावानः। 'आतो मनिन्....' (पा० ३।२।७४) इति वनिप् प्रत्ययः। विदथेषु यज्ञगृहेषु जग्मयो गमनशीलाः। 'आद्-गम-हन्....' (पा० ।३।२।१७१) इति किः। अग्निजिह्वाः। अग्निर्जिह्वा भोजनसाधनं येषां ते—'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः। हुताद इत्यर्थः। मन्यन्ते जानन्ति मनवः सर्वज्ञाः। सूरः सूर्यश्चक्षुः चक्षुर्येषां ते, सूर्यं चक्षते पश्यन्ति वा सूर्यचक्षसः। किञ्च न केवलं मरुतः विश्वे सर्वे देवाश्च नोऽस्माकं यज्ञे आगमन्, आगच्छन्तु—(महीधरः)॥

'विहित' था, अतः विदथ एवं यज्ञ एकार्थक हो गये। स्थित्यन्तर में विदथ व्यापार की पूर्णता के निमित्त प्रयुक्त होने लगा और इस प्रकार विदथ सभा का भी पर्याय बन गया। सभा में प्रभविष्णु व्यक्ति को 'विदथ्य' और 'सभेय' कहते हैं (पीटर्सन भा० १,पृ० १००)।

सायण ने अग्निजिह्वाः, मनवः, सूरचक्षसः को मरुत् का विशेषण मानकर—अग्निरूपी जिह्वावाले, सबको माननेवाले और सूर्यप्रकाश (मरुद्गण) अर्थ स्वीकारा है ॥ ७ ॥

अष्टमाद्यास्त्रिष्टुभः (८-१०)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥८॥

पदपाठः

भद्रम्। कर्णेभिः। शृणुयाम। देवाः। भद्रम्। पश्येम। अक्षऽभिः। यजत्राः। स्थिरैः। अङ्गैः। तुष्टुऽवांसः। तनूभिः। वि। अशेम। देवऽहितम्। यत्। आयुः ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

अस्ति सौम्यचरुस्तृतीयसवने। तेन चरुणा देवतामिष्ट्वा इष्टशेषे तस्मिन् बहुघृतमवनीय तस्मिन् वषट्कर्त्रा स्वकीया छाया द्रष्टव्या। सा यदि न दृश्येत तदानीं 'भद्रम्' इत्येका पठितव्या। 'त्वं सोम' इति खण्डे तथैव सूत्र्यते—"राज्ञा सोमेन तद्वयमस्मासु धारयामसि भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा इति च" (आ० श्रौ० ५।१९) इति। महानाम्नी व्रतेऽप्येषा भूमिस्पर्शने जप्या। सूत्रितं च 'एतद्विदम्' इति खण्डे—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः" (आश्व० श्रौ० ८।१४) इति ॥

हे देवता दानादिगुणयुक्ताः सर्वे देवाः कर्णेभिः अस्मदीयैः श्रोत्रैर्भद्रं भजनीयं कल्याणं वचनं शृणुयाम युष्मत्प्रसादाच्छ्रोतुं समर्थाः स्याम। अस्माकं बाधिर्यं कदाचिदपि मा भूत्। हे यजत्रा यागेषु चरुपुरोडाशादिभिर्यष्टव्या देवा

अक्षभिरक्षिभिरात्मीयैश्चक्षुभिर्भद्रं शोभनं पश्येम द्रष्टुं समर्थाः स्याम। अस्माकं दृष्टिप्रतिघातो मा भूत्। स्थिरैर्दृढैरङ्गैर्हस्तपादादिभिरवयवैस्तनूभिः शरीरैश्च युक्ता वयं तुष्टुवांसो युष्मान् स्तुवन्तो यदायुः षोडशाधिकशतप्रमाण विंशत्यधिकशतप्रमाणं वा देवहितं देवेन प्रजापतिना स्थापित तद् व्यशेम प्राप्नुयाम।[८]

कर्णेभिः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) इति भिस ऐस्भावः। अक्षभिः। 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० ७।१।७६) इत्यनङ् स चोदात्त। यजत्राः। 'अमिनक्षि०' (उणा० ३।१०५) इत्यादिना यजेरत्रन्प्रत्ययः। तुष्टुवास.। 'ष्टुञ् स्तुतौ'। लिटः क्वसुः। 'शर्पूर्वाः खयः' (पा० ७।४।६१) इति तकारः शिष्यते। अशेम। 'अशू व्याप्तौ।' लिङ्याशिष्यङ्। यदि तु तत्र परिगणन-मन्यव्यावृत्त्यर्थं तदानीं लिङि व्यत्ययेन शप्। देवहितम्। 'तृतीया कर्मणि' (पा० ६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

हिन्दीभाषान्तर

हे देव! हम (गोतम) कानों से अच्छा सुनें, यजनीय देवगण! हम (गोतम) आँखों से अच्छा देखें (और) हम (गोतम) दृढ़ाङ्ग—शरीर से तुम्हारी स्तुति करते हुए, देव स्थापित आयु प्राप्त करें।

---

८ (शु० य० सं० २५।२१)— "भद्रमनुकूलं कर्णेभिः कर्णाभ्याम्" अक्षभिरक्षिभ्याम्। हे यजत्रा यजनीयाः।"'स्थिरैः "अशिथिलैः,"'तुष्टुवांसो देवान् स्तुवन्तः। तनूभिः। भार्या—पुत्र—पौत्रादिकाभिस्तनूभि सहिताः। व्यशेमहि व्यश्नुवीमहि। देवहितं देवैर्यत् स्थापितं मनुष्याणामायुस्तद् व्यश्नुवीमहि—(उव्वटः)।

तिस्रस्त्रिष्टुभः। हे देवाः कर्णेभिः कर्णैर्भद्रं कल्याणमनुकूलं वयं शृणुयाम। हे यजत्राः। यजन्तं त्रायन्ते रक्षन्ति यजत्रा यजमानपालकाः। अक्षभिर्नेत्रै-र्भद्रं वयं पश्येम। 'बहुलं छन्दसि', 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० ७।१।७६) इति हलादौ अक्षिशब्दस्यानङादेशः। किञ्च देवहितं देवैः स्थापितं देवानां हितं देवोपासनयोग्यं वा, यदायुर्जीवनं तद् वयं व्यशेमहि व्यश्नुवी-महि प्राप्नुयाम। कीदृशा वयम्। स्थिरैर्दृढैरङ्गैरवयवैः करचरणादिभिः, तनूभिः शरीरैश्च पुत्रादिभिर्वा युताः, तुष्टुवांसो भवतः स्तुवन्तः सन्तः—(महीधरः)।

टिप्पणियाँ

१. कर्णेभिः—वेद में भिस् के स्थान पर अदन्त शब्दों को ऐस् होता भी है और नहीं भी होता, अतः कर्णैः, कर्णेभिः दोनों रूप मिलते हैं।

२. अक्षभिः—अक्षि + भिस्—'छन्दस्यपि दृश्यते' से 'अक्षि' के इकार को अनङ्। उसी अनङ् में उदात्त स्वर है। छन्द के परिमार्जनार्थ 'पश्येम अक्षभिः' पढ़ना चाहिए।

३. देवहितम्—देवैर्हितम्, तृ० तत्पु०, देव + धा + क्त, देवों द्वारा स्थापित या व्यवस्थित या निर्दिष्ट। तत्पुरुष में प्रायः द्वितीय पद में उदात्त होता है, पर क्तप्रत्ययान्त शब्दों के साथ समास होने पर पूर्वपद में उदात्त होता है, अतएव 'देव' के 'व' में उदात्त है—'तृतीया कर्मणि' (पा० ६।२।४८) ॥ ८ ॥

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा
यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति
मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥ ९ ॥

पदपाठः

शतम्। इत्। नु। शरदः। अन्ति। देवाः। यत्र। नः। चक्र। जरसम्। तनूनाम्। पुत्रासः। यत्र। पितरः। भवन्ति। मा। नः। मध्या। रिरिषत। आयुः। गन्तोः ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम् ९

हे देवा अन्त्यन्तिके मनुष्याणां समीपे आयुष्ट्वेन भवद्भिः कल्पिताः शरदः संवत्सराः शतमिन्नु शतं खलु। यस्मात् सृष्टिकाले मनुष्याणां शतं संवत्सरा आयुरिति युष्माभिः परिकल्पितं तस्मान्नोऽस्माकमायुर्गन्तोः कृत्स्नस्यायुषो गमनात् पूर्वं मध्या मध्ये मा रीरिषत मा हिंसीष्ट। कीदृशान्। नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां

जरसं जरा यत्र यस्यामवस्थाया चक्र कृतवन्तो यूयम्। यत्र च पुत्रासः पुत्राः पितरोऽस्माकं रक्षितारो भवन्ति। ईदृग्दशापपन्नानित्यर्थः।[१]

अन्ति। अन्तिकशब्दस्य 'कादिलोपो बहुलमिति वक्तव्यम्' इति कलोपः। यत्र। 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रो०' (पा० ६।३।१३३) इति संहितायां दीर्घः। चक्र। लिटि मध्यमबहुवचनस्य कित्त्वाद् गुणाभावे यणादेशः। द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति संहिताया दीर्घत्वम्। जरसम्। 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (पा० ७।२।१०१) इति जरसादेशः। मध्या। 'सुपां सुलुक०'

---

[१] (शु० य० सं० २५।२२)—शतमित् शतमपि शरदः अन्ति अन्तिके समीपे भवथ हे देवाः। अल्पकालमित्यभिप्रायः। ऋषिभिरुदितमेतत्। यत्र यस्मिन् शरदां शते नोऽस्माकं यूयं चक्र कृतवन्तो जरसं जरां तनूनां जरानिमित्तां शक्तिमित्यभिप्रायः किञ्च पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति तदुक्तम्—'तत्र वै प्रजापति प्रजाः ससृजे' इत्युपक्रम्य 'तस्माज्जनयित्वा बिभृही'ति। यत्र पितरो भवन्ति—१ तदप्युक्तमेव—'स यत्र म्रियते यत्रैनमग्नावभ्यादधाति तदेषोऽग्नेरधि जायते स एष पुत्रः सन् पिता भवति'। अथवा—पुत्रा एव पितॄणामौर्ध्वदैहिकं कुर्वाणाः पितरो यत्र सम्पद्यन्ते तदपि शरदां शतमन्तिक एवेति। मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः। मा रीरिषत मा हिंसीष्ट नोऽस्माकं मध्या मध्ये, अकाल एव, आयुः, गन्तोर्गन्तृ गमनशीलम्। उक्तं च—'सञ्छिन्नस्य सञ्छिन्नस्य तमुग्रदण्डं मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य। वर्षासु सिक्ता इव चर्मबन्धाः सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति॥' इति—(उव्वटः)।

हे देवाः शतमित् शतमपि शरदो वर्षाणि शतवर्षपर्यन्तं यूयमन्ति अन्तिके समीपे भवतेति शेषः। यत्र शरच्छते नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां यूयं जरसं जरां चक्र कुरुथ। करोतेर्लिटि मध्यमबहुवचनम्। द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति 'चक्रा' इत्यत्र संहितायां दीर्घः। 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति 'यत्रा' इत्यत्र दीर्घः। वार्धकावधि यूयं समीपे भवतेत्यर्थः। यत्रास्माकं जरायां पुत्रासोऽस्मत्पुत्राः पितरो भवन्ति। पुत्रवन्तो भवन्ति। यावदस्माकं पौत्रा भवन्तीत्यर्थः तावन्मध्या मध्ये नोऽस्माकमायुर्मा रीरिषत मा हिंसीष्ट। रिषतेर्हिंसार्थस्य णिजन्तस्य चङि रूपम्। कीदृशमायुः। गन्तोः। गन्तृ गमनशीलम्। तदुक्तम्—''सञ्छिन्नस्य…''॥ इति—(महीधरः)।

(पा० ७।१।३९) इति सप्तम्या डादेशः । 'रीरिषत । 'रीष् रुष् हिंसायाम्' । अस्माण्ण्यन्तान्माङि लुङि मध्यमबहुवचने च्लेश्चङि णिलोपोपधाह्रस्वद्विर्वचन-हलादिशेषसन्वद्भावेत्वदीर्घाः । छान्दसः पदकालीनो ह्रस्वः । गन्तोः । 'भावलक्षणे स्थेण०' (पा० ३।४।१६) इति गमेस्तोसुन्प्रत्ययः ॥

हिन्दीभाषान्तर

देवगण ! (हमारे) पास वर्ष के सौ ही हैं, जिसमें (तुम लोग) हमारे शरीरों की वृद्धावस्था कर देते हो, जिसमें पुत्र हो जाते हैं, (उस) जीवनगति के मध्य हमारी आयु को मत हिंसित करो ।

टिप्पणियाँ

१. शरदः—संवत्सर, वर्ष । शरद् यद्यपि ऋतुवाचक है, तथापि शरद् से संवत्सर का प्रारम्भ होने से यह वर्ष का वाचक भी हो गया । यह शब्द इस बात को द्योतित करता है कि आर्यों का वर्ष पहले शरद् ऋतु से प्रारम्भ होता था ।

२. गन्तोः—गम् + तोसुन्—गमन करने वाले का, अतएव हि० भा० में 'जीवन गति' ॥ ९ ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १० ॥

(इति षष्ठेऽध्याये षोडशो वर्गः)

पदपाठः

अदि॑तिः । द्यौः । अदि॑तिः । अ॒न्तरि॑क्षम् । अदि॑तिः । मा॒ता । सः । पि॒ता । सः । पु॒त्रः । विश्वे॑ । दे॒वाः । अदि॑तिः । पञ्च॑ । जनाः॑ । अदि॑तिः । जा॒तम् । अदि॑तिः । जनि॑ऽत्वम् ॥ १० ॥

सायणभाष्यम् १०

'अदितिर्द्यौरदितिः' इत्येषा अदितिदेवताके पशौ हविषो याज्या । सूत्रितं च—"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं न ते विष्णो जायमानो न जातः" (आश्व० श्रौ० ३।८) इति ।

अदितिरदीनाखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा सैव द्यौर्द्योतनशीलो नाकः। सैव अन्तरिक्षमन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्य ईक्ष्यमाणं व्योम। सैव माता निर्मात्री जगतो जननी। सैव पितोत्पादक। ततश्च स पुत्रो मातापित्रोर्जातः पुत्रोऽपि सैव। विश्वेदेवाः सर्वेऽपि देवा अदितिरेव। पञ्च जना निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः। यद्वा—गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि। तदुक्तं यास्केन—"गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः" (निरु० ३।८) इति। ब्राह्मणे त्वेवमाम्नातम्—"सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितृणां च" (ऐ० ब्रा० ३।३१) इति। तत्र गन्धर्वाप्सरसामैक्यात् पञ्चजनत्वम्। एवंविधाः पञ्चजना अप्यदितिरेव जातं जननं प्रजानामुत्पत्तिः साप्यदितिरेव। जनित्वं जन्माधिकरणं तदप्यदितिरेव। एवं सकलजगदात्मनादितिः स्तूयते। उक्तं च यास्केन—'इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे' (निरु० ४।२३) इति।[१०]

---

१० (शु० य० सं० २५।२३)—सर्वात्मत्वेनादितिं मन्त्रदृक् स्तौति।...स च पिता स च पुत्रः। इति च्छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः।...किं बहुनोक्तेन अदितिरेव जातं भूतम्। अदितिरेव जनित्वं जनिष्यमाणम्। अथवा नैवादितिरनेनोच्यते किं पुनरेतान्येव द्यौःप्रभृतीनि, अदीनानि महाभाग्ययुक्तानीति।—(उव्वटः)॥

मन्त्रदृक् सर्वात्मकत्वेनादितिं स्तौति। द्यौः स्वर्गोऽदितिस्तदधिष्ठातृत्वात्। एवमग्रेऽपि। अन्तरिक्षमदितिः। माता पुत्रश्च स सादितिरेव। लिङ्गव्यत्ययः विश्वे सर्वे देवा अदितिः। पञ्चजना मनुष्या अदितिः। किं बहुना, जातमुत्पन्नं प्राणिजातं, जनित्वं जनिष्यमाणं च सर्वमदितिरेव। यद्वा अदितिर्मन्त्रेण नोच्यते, द्यौरित्यादीनि सर्वाणि जनित्वान्तान्यदितिरदितीन्यदीनानि महाभाग्ययुक्तानि सन्तु—(महीधरः)।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् इति। एषा वै द्यौः। एषा अन्तरिक्षम्। अदितिर्माता स पिता स पुत्रः इति। एषा वै माता। एषा पिता। एषा पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना इति। ये देवा असुरेभ्यः पूर्वे पञ्चजना आसन्, य एवासावादित्ये पुरुषः, यश्चन्द्रमसि, यो विद्युति, योऽप्सु, योऽयमक्षन्नन्त एष एव ते। तदेषैवः। अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् इति। एषा ह्येव जातम्। एषा जनित्वम्॥ जै० उ० ब्रा० १.१३.५।

अदितिः। 'दो अवखण्डने'। अस्मात् कर्मणि क्तिनि 'द्यतिस्यतिमास्थाम्' (पा० ७।४।४०) इतीत्वम्। यास्कपक्षे तु 'दीङ् क्षये' इत्यस्मात् क्तिनि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम्। नञ्समासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। स पिता। 'निर्दिश्यमान-प्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकतामापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गतामुपाददते' इत्युद्देश्य लिङ्गतया पुँल्लिङ्गत्वम्। जनित्वम्। जनेरौणादिकस्त्वन्प्रत्ययः॥

हिन्दी भाषान्तर

अदिति द्युलोक है। अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है। वही पिता (एवं) वही पुत्र है। अदिति विश्वेदेव (सब देवता) तथा सब मनुष्य हैं। अदिति जन्म और जन्म का कारण है।

टिप्पणियाँ

१. पञ्च जनाः--आर्यों की पाँच जातियाँ। पंचजन के सम्बन्ध में यास्क के समय से मतभेद चला आ रहा है। यास्क के मत में गन्धर्व, पितर, देव, असुर एव राक्षस का पंचजन में ग्रहण करना चाहिए। औपमन्यव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद जाति को पाँच जनो मे स्वीकारते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण पंचजनों मे देव, मनुष्य, गन्धर्व-अप्सरा, सर्प और पितरो को परिगणित करता है। पंचजन (ऋ० ३।३७।९), पंचमानुष (ऋ० ८।९।२), पंचकृष्टि (ऋ० २।२।१०, ३।५३।१६), पंचक्षिति (१।७।९ ऋ०), पंचचर्षणि (ऋ० ५।८६।२; ९।१०१।९) आदि के द्वारा पाँच जातियो का निर्देश उपलब्ध होता है। पाश्चात्य विद्वानो का अभिमत है कि इस शब्द से समस्त मानव अथवा प्राणियो का ज्ञापन होता है। वस्तुतः उपर्युक्त सकल मतवाद परिहेय हैं। उपरिनिर्दिष्ट निखिल शब्द आर्यों की पाँच जातियो के ख्यापक हैं। वक्ष्यमाण मन्त्र में इनका एकत्र उल्लेख इसकी पुष्टि करता है।

'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः'।—ऋ० १।१०८।८

अत एव यह कथ्य समीचीन होगा कि 'पञ्चजनाः' से यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु नामक आर्य-जातियाँ स्वीकर्तव्य हैं। नकारान्त संख्यावाचक शब्दो का आदि वर्ण उदात्त होता है—'ञ्नः सङ्ख्यायाम्' (फि० सू० २।२८), अतः 'पञ्च' का प उदात्त है। [पंचजन के लिए देखिए : बी० आर० शर्मा, पञ्चजन इन दि वेदाज; जर्नल आफ् दि एसियाटिक सो०, बम्बई। श्रद्धाशताब्दि १९५६-५७। दे० बृहद् देवता ७।६९]॥ १०॥



विष्णुसूक्तम्

१ म० सू० १५४

प्रथममण्डले चतुःपञ्चाशदुत्तरशततमं (एकविंशेऽनुवाके पञ्चदशं)

सूक्तम्

(द्वितीयाष्टके द्वितीयेऽध्याये चतुर्विंशो वर्गः)

उचथ्यपुत्रो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

सायणभाष्यम्

'विष्णोर्नुकम्' इति षड्-ऋचं पञ्चदशं सूक्तं दैर्घतमसं वैष्णवम् । अत्रानुक्रमणिका—"विष्णोः षड् वैष्णवं हि" इति । अभिप्लवषडहेषूक्थ्येषु तृतीयसवने स्तोमवृद्धावच्छावाकस्य स्तोमातिशंसनार्थम् इदमादिसूक्तद्वयं विनियुक्तम् ।' 'स्तोमे वर्धमाने' इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नुकम् इति सूक्ते परो मात्रयेत्यच्छावाकः"—(आश्व० श्रौ० ७।९) इति । तथा तृतीयसवने सोमातिरेक उत्तरोत्तरसंस्थोपगन्तव्या आतिरात्रात् ततोऽप्यतिरिक्ते तदर्थमेव शस्त्रमुपजनयितव्यम् । तत्रैतदेव सूक्तम् । 'सोमातिरेके' इति खण्डे सूत्रितम्—"महाँ इन्द्रो नृवद्विष्णोर्नुकम्" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । आग्निमारुतशस्त्रे आद्या विनियुक्ता । 'अथ यथेतम्' इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि" (आश्व० श्रौ० ५।२०) इति ॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं
यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

पदपाठः

विष्णोः । नु । कम् । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यः । पार्थिवानि । विऽममे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्ऽतरम् । सधऽस्थम् । विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुऽगायः ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

हे नरा विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नुकमतिशीघ्रं प्रवोचम्। प्रब्रवीमि। अत्र यद्यपि नुकमिति पदद्वयं, तथापि यास्केन "नवोत्तराणि पदानि" (निरु० ३।१३) इत्युक्तत्वात, शाखान्तर एकत्वेन पाठाच्च, नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कमिति पदद्वयम्। कानि तानीति तत्राह। यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि अग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे। अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्या, तथा च मन्त्रान्तरम्—"यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः" (ऋ० सं० १।१०८।९) इति। तैत्तिरीयेऽपि—"योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषा" इत्युपक्रम्य "यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्" (तै० सं० १।२।१२।१) इति। तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वम्। किञ्च यश्च विष्णुरुत्तरम् उद्गततरम् अतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतम् अन्तरिक्षम् अस्कभायत्। तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान्। निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा। यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान्। रजःशब्दो लोकवाची, "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरुक्त ४।१९) इति यास्केनोक्तत्वात्। किञ्च यश्चोत्तरम् उद्गततरम् उत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यम् भूरादिलोकसप्तकमस्कभायत् स्कम्भितवान्। सृष्टवानित्यर्थः।

स्कम्भेः 'स्तम्भुस्तुम्भु' इति विहितस्य श्नः 'छन्दसि शायजपि' इति (पा० ३।१।८४) व्यत्ययेन शायजादेशः। अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे। भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः। भूम्याम् उपार्जितकर्मभोगत्वाद् इतरलोकानां तत्कारणत्वम्। किञ्च यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्। अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकमस्कभायत्। स्कम्भितवान्। ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः। किं कुर्वन् त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् विविधं क्रममाणः। विष्णोस्त्रेधा क्रमणम् "इदं विष्णुर्विचक्रमे" (ऋ० सं० १।२२।१७) इत्यादि श्रुतिषु

प्रसिद्धम्। अतएव उरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः। अतिप्रभूतं गीयमानो वा। य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र वोचम्॥[1]

हिन्दीभाषान्तर

अब (मैं उस) विष्णु के वीर कर्मों को प्रख्यापित करूँगा, जिसने पृथ्वी-सम्बन्धी स्थानों को नाप लिया है, (तथा) तीन प्रकार से पादन्यास करते हुए विशालगतिशील जिसने ऊर्ध्वस्थ सहनिवासस्थान को स्थिर कर दिया है।

टिप्पणियाँ

१. विष्णोः—विष्णु शब्द के निर्वचन में विद्वानों में वैमत्य है। ओल्देनबर्ग के मतानुसार विष्णु शब्द का अर्थ हे 'विशाल उद्यमो' वि + स्नु। ब्लूमफील्ड, वि + स्नु (सानु-शिखर) से 'उच्च शिखर' पर चढ़नेवाला। मैकदोनेल के अनुसार इस शब्द की निरुक्ति "विश् कर्मण्य होना, क्रियाशील होना, कर्मठ होना, सक्रिय होना आदि" से अधिक सम्भावित है और तब विष्णु का अर्थ होगा—कर्मण्य, कर्मठ, क्रियाशील आदि। सायण के अनुसार 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से विष्णु व्यापक। कौषीतकीब्राह्मण 'विश् प्रवेशने' से व्युत्पन्न मानता है। यास्क ने विष्णु को 'विषित' कहकर विश् या वि + अश् से स्वीकारा है। इस प्रकार विष्णु के व्यापक, सर्वत्र प्रविष्ट, सक्रिय, आदि अर्थ

---

[1] (शु० य० सं० ५।१८)—अन्ते "विष्णवे त्वा" इति यजुः। नुकमिति निपातसमुदायोऽवधारणार्थः— (उव्वटः)॥ नुकमित्यव्ययमवधारणार्थम्। विष्णोरेव वीर्याणि कर्माण्यहं प्रवोचं प्रब्रवीमि। प्रपूर्वस्य वचेर्लुङि रूपं वचेरुम् अडभावः। कानि कर्माणीत्याह। यो विष्णुः पार्थिवानि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि विममे निर्ममे। "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ३।१९) इति यास्कोक्ते रजःशब्दो लोकवाचकः। यद्वा—यः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून् विममे परिगणितवान्। यश्च विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं द्युलोकरूपमस्कभायत् यथाधो न पतति तथा स्तम्भितवान्। सह देवास्तिष्ठन्ति यस्मिंस्तत् सधस्थम्। 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा० ६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः। 'स्कम्भ रोधने'। 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (पा० ३।१।८१), 'हलः श्नः शानज्झौ' (पा० ३।१।८३)

होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में सूर्य, यज्ञ, अन्न, सोम, वीर्य, पुरुष, यूप आदि अर्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. वीर्याणि—वीर विक्रान्तौ + यत्—वीर्य—वीर कर्म, वीरशक्ति। इसमें 'र्या' का स्वरित प्रतीयमान स्वतन्त्र है। मैकदोनेल के अनुसार पहले सम्भवतः यहाँ परतन्त्र स्वरित था, क्योंकि छन्दोभंग के प्रतिरोध के निमित्त 'वीरि आणि' पाठ आज भी अनिवार्य है—'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्'। त्रिष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं, पर प्रथम पाद में केवल १० वर्ण हैं। अतः 'वीरि आणि' पाठ में स्वीकृत है। क्षैप्र सन्धि (यण्) होने पर उदात्त 'रि' तथा अनुदात्त 'आ' के संयुक्त होने से सम्भवतः यहाँ सामान्य स्वरित था। देखिए : 'शूर वीर विक्रान्तौ' 'ण्यन्तादचो यदि' ति यत् (पा० ३।१।९७) 'णेरनिटीति' (पा० ६।४।५१) णिलोपः 'तित् स्वरितम्' इति (पा० ६।१।१८५) स्वरितत्वम्। 'यतोऽनावः' (पा० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वं न भवति। आद्युदात्तत्वे हि सुशब्देन बहुव्रीहौ आद्युदात्तत्वं 'द्व्यच्छन्दसि' (पा० ६।२।१२०) इति पुनस्तद् विधानमनर्थकं स्यात्। अतोऽवगम्यते 'यतोऽनाव' (६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वं वीर्यशब्देन न प्रवर्तत इति। अतः परिशेषात् 'तित् स्वरितम्' (६।१।१८५) इति प्रत्ययस्य स्वरितत्वमेव—सायणः, ऋ० सं० १।३२।१।

३. प्र वोचम्—वच् + लुङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन। अड् आगम का लोप हो गया है। मैकदोनेल के अनुसार 'वच्' धातु का मूल रूप 'वोच्' है, जो सम्भवतः द्वित्वजन्य परिणत रूप है। भाषा ने मूल तत्त्व का विस्मरण कर इस धातु के अनेक द्वित्व-रूपों को प्रस्तुत किया है। 'वोच्' रूप वैदिक भाषा में धातु बनकर

इति हेरनुवृत्तौ 'छन्दसि शायजपि' (पा० ३।१।८४) इति यद्यपि हौ परे श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशोऽविहितस्तथाप्यत्र 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० ३।१।८५) इति लङ्यपि श्नः शायजादेशे। अस्कभायत् इति रूपम्। कीदृशो विष्णुः। त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिषु लोकेष्वग्निवायुसूर्यरूपेण पदत्रयं निदधानः। विपूर्वस्य क्रमतेः। 'लिटः कानज्वा' (पा० ३।२।१०६) इति कानचि रूपम्। तथा उरुगायः। उरुर्गायो गमनं यस्य। उरुभिर्महात्मभिर्गीयते इति वा। हे स्थूणे काष्ठविष्णवे हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वा निहन्मि निखनामीतिशेषः—(महीधरः) ॥

अनेक प्रकारों में व्यवहृत दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त वोचा, वोचाति, वोचावहै, वोचे, वोचतु आदि रूप उपलब्ध होते हैं। आधुनिक प्रक्रिया के अनुसार यह निश्चयद्योतक लुङ् (इंजंक्टिव मूड) का रूप है। ऋग्वेद में इसका बहुल प्रयोग है। इसके रूपों को लेट् लकार (सब्जंक्टिव मूड) से अलग करना सरल नहीं है। गमत् लुङ् तथा लेट् दोनों हो सकता है। उत्तम पुरुष में इसका प्रयोग इच्छा-अभिव्यक्ति के निमित्त होता है। जैसे यहाँ— प्रवोचम्—में। देखिए, ह्विटनी, परिच्छेद ८४७ और ८५४। तुलनीय—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्, ऋ० सं० १।३२।१ × दे० 'सायण: 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० ३।१।५२) इति च्लेरङादेशः। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० ६।४।७५) इत्यडभावः। तु० लैटिन vocare, v^ox, voi। प्रधान वाक्य की क्रिया से उपसर्ग अलग लिखे जाते हैं। 'वोचम्' प्रधान वाक्य की क्रिया होने से उदात्तरहित है।

८. पार्थिवानि—पृथिव्या इमानि, पृथिवी + अण्। सायण के अनुसार ३ अर्थ हैं, (१) पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अभिमानी देवता—अग्नि, वायु तथा सूर्य, (२) पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक, (३) पृथ्वी के नीचे स्थित सात लोक। उव्वट तथा महीधर के मत से पृथिवी आदि तीन लोक। महीधर ने वैकल्पिक अर्थ 'पार्थिव परमाणु' किया है। मैकदोनेल 'पृथिवी तथा तत्संसक्त वायुलोक' अर्थ करते हैं।

९. विममे—वि + माङ् + लिट् प्रथम पुरुष एकवचन। सायण, उव्वट, महीधर इसका अर्थ 'निर्माण करना' स्वीकारते हैं। मैकदोनेल आदि आधुनिक विद्वान् 'माङ्' धातु का यहाँ 'नापना' अर्थ मानते हैं। मैकदोनेल के मत में इसका संकेत सूर्य के ब्रह्माण्ड-परिभ्रमण की ओर है, यथा वरुण के सम्बन्ध में—'मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण' (ऋ० सं० ५।८५।५) जो (वरुण) अन्तरिक्ष में अवस्थित होकर मानदण्ड के सदृश सूर्य द्वारा पृथ्वी को नाप लेते हैं। तुलनीय—यः पार्थिवानि विममे....रजांसि देवः सविता महित्वना (ऋ० सं० ५।८१।३)। पीटर्सन के विचार से इसी सूक्त के 'वि ममे त्रिभिरित् पदेभिः' में कथित वक्तव्य के अनुसार विष्णु के तीन पदों से 'सधस्थ' का निर्माण सम्भव नहीं है। तु०—सायण ३।२६.२७ रजसो विमानः = अन्त०

रिक्षस्याधिष्ठाता । शतपथ ब्राह्मण ६।३।१।१८ में विवेच्यप्रसंगसम्बद्ध कथन है— यद्वै किंचास्या तत् पार्थिवं तदेष सर्वं विमिमीते रश्मिभिर्ह्येनदभ्यवतनोति । इससे भी उपर्युक्त अर्थ को सन्तोष मिलता है।

६. यो अस्कभायत्—स्कम + लङ् + प्र० पु०, ए० व० । अनुवर्ती संस्कृत में पदान्त ए, ओ के उत्तरस्थ अ को होनेवाला पूर्वरूप प्रायः वैदिक संस्कृत में नहीं उपलब्ध होता। ध्यातव्य है कि लिखित तथा व्यवहृत वेद-साहित्य के मध्य इस सम्बन्ध में एकरूपता नहीं है। अथर्ववेद में प्रायः एक तिहाई स्थलों में लिखते समय अ का परित्याग कर दिया गया है और पाठ के समय प्रायः पाँचवें भाग तक अ का उच्चारण नहीं किया जाता। विद्वानों के अनुसार जिन मन्त्रों में पूर्वरूप का प्रयोग है वे अर्वाचीन हैं तथा जिनमें पूर्वरूप योजित नहीं हुआ है वे प्राचीन हैं। आकाश के स्थिरीकरण का गुण सविता, अग्नि एवं अन्य देवताओं में भी परिलक्षित होता है। उपवाक्य की क्रिया होने से इसमें उदात्त है। लङ् में आगम (अट्) में उदात्तस्वर होता है।

७. सधस्थम्—सह देवाः तिष्ठन्ति यस्मिंस्तत्—सह + स्था । सधमादस्थयोश्छन्दसि । वेद में 'सह' के उत्तर 'स्थ' रहने पर 'सह' के स्थान पर 'सध' हो जाता है। मैकडोनेल के अनुसार इसका अर्थ द्युलोक है। सायण के विचार से इसका अर्थ अतिविस्तृत अन्तरिक्ष, पुण्यशील जनों के साथ रहने योग्य भू आदि सातलोक तथा सत्यलोक है। शतपथ (८।६।३।२३., ९।२।३।३५) के अनुसार द्यौस् है।

८. उरुगायः—उरु + गै + अच् । सायण—बहुस्तुत, प्रचुरकीर्ति । मैकडोनेल—विस्तृत पाद वाला। पीटर्सन—दूरंगम। एक अन्य स्थान पर सायण ने उपर्युक्त अर्थों के साथ शत्रुओं को रुलाने वाला एवं बहुत से देशों में गमन करनेवाला अर्थ भी किया है :—उरुगाय उरुभिर्बहुभिर्गातव्यः । यद्वा बहुषु देशेषु गन्ता। बहुकीर्तिर्वा। सर्वाञ्छत्रून् स्वसामर्थ्येन शब्दयस्याक्रन्दयतीति वोरुगायः—ऋ० सं० ८।२९।७। स्मर्तव्य है कि इस प्रसङ्ग में भी यह विरुद विष्णु का ही है—विचक्रम इति पदलिङ्गाद् विष्णुरुच्यते, सा० वही। विष्णु के 'त्रिविक्रम' की ऋग्वेद में लगभग १२ स्थानों पर चर्चा है। गेल्डनर के अनुसार यहाँ अर्थ होगा, तीन स्थानों में पद रख कर विस्तृत

गमन करता हुआ, (उद्धृत, खोंदा इपीथेट्स इन दि ऋग्वेद, पृ०, १०५)। तु०—विष्णुरुरुगायो नमस्यः, ऋ० २।१।३, दे० ६।८६।१० प०, ४।३।७; ७।१००।१, ८।७७।१ आदि। विष्णु को 'उरुक्रम' भी कहा गया है, शंनो विष्णुरुरुक्रमः, १।९०।९; दे० ५।८७।४; इसी सूक्त का ५वाँ मन्त्र ॥ १ ॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-
ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २ ॥

पदपाठः

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

तृतीयसवने सोमातिरेक एक शस्त्रमुपनितव्यम्। तत्र 'प्र तत्' इत्ययमनुरूपस्तृचः। 'सोमातिरेके' इति खण्डे सूत्रितम्—"प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण स्तोत्रियानुरूपौ" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति। 'वाजपेयेनाधिपत्यकामः' इति खण्डे सूत्रितम्—"प्र यत्ते अद्य शिपिविष्ट नाम (ऋ० ७।१००।५) प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण" (आश्व० श्रौ० ९।९) इति ॥

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते। स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते स्तूयते सर्वैः। कर्मणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः। मृगो न सिंहादिरिव। यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता व गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते। अस्मिन्नर्थे निरुक्तम्—"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो बिभ्यत्यस्माद् भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरति कर्म कुत्सितमथ चेद्

देवताभिधानं कार्यं न चरतीति वा। गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः "पर्वतः समुद्गीर्णो भवति पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा" (निरु० १।२०) इति। तद्वदयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो भयानकः सर्वेषां भीत्युपादानभूतः। परमेश्वराद् भीतिः "भीषास्माद् वातः पवते" (तै० आ० ८।८।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धा। किञ्च कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा तथा गिरिवदुच्छ्रितलोकस्थायी। यद्वा। गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः। ईदृशोऽयं स्वमहिम्ना स्तूयते। किञ्च यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसङ्ख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातान्यधिक्षियन्त्याश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते।

हिन्दीभाषान्तर

भयंकर, विषम स्थानों में विचरण करनेवाले (और) पर्वतवासी मृग सदृश भयानक, सर्वत्र विचरिष्णु पर्वतसमान उन्नत स्थान पर या वेदवाणी-स्थित वह विष्णु, (अपने) वीर कर्म के कारण स्तुत किया जाता है, जिसके तीन विशाल पदक्रमों में निखिल भुवन निवास करते हैं।

टिप्पणियाँ[१]

१. तत्—"व्यत्ययो बहुलम्" पर आधृत हो यहाँ पुँल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसक मे प्रयोग किया गया है। रॉथ ने 'साइवेनजिग लाइडर' में इसे वीर्येण का विशेषण माना है। उनके मत में यह तृतीयान्त पद है। यह स्वीकारने पर अर्थ होता है—'इस वीर-कर्म के लिए विष्णु प्रशंसित होता है'। इस मन्त्र पर टिप्पणी करते हुए रॉथ का कथन है कि प्राचीन ऋचाएँ विष्णु के एक ही वीर-कर्म से परिचित हैं—वह तीन पदों से ब्रह्माण्ड का क्रमण, द्युलोक का स्थिरीकरण तथा उसके तृतीयपद में निखिल प्राणि-समूह के निवास हेतु

[१] (शु० य० सं० ५।२०)...उत्तरोऽर्धर्चः प्रथमं व्याख्यायते यद्-वृत्तयोगात्। यस्य विष्णोरुरुषु महत्सु विक्रमणेषु लोकेष्वधिक्षियन्त्युपरि निवसन्ति भुवनानि भूतजातानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि। इदानीं प्रथमोऽर्धर्चः। प्र तद् विष्णु स्तवते स विष्णुः स्तूयते। यकः स्थाने शप् छान्दसः। वीर्येण वीरकर्मणा। कथं स्तूयते?—मृगो न भीमः। यथा मृगः सिंहः स्तूयते।

विशाल स्थान की स्थिति का धारण करना है (ऋ० ६।६९।५)। वह स्वयं वहाँ रहता है, जहाँ उसने ऊर्ध्वतम पद को स्थापित किया था। उसके साथ उस उच्चतम लोक मे पुण्यपूत आत्माएँ निवास करती हैं (सा० ला०, पृ० ५४, उद्धृत, पीटर्सन, प्रथम संग्रह) सेट पीटर्सबर्ग कोश में रॉथ-प्रस्तुत प्रसंग के प्र + स्तु, के प्रथम अर्थ के रूप मे बिना किसी टिप्पणी के उद्धृत करते हैं। ग्रॉसमान अपने कोश मे इसे स्तवते का कर्म मानकर—'इस वीर कर्म को करना स्वीकारता है'— अर्थ करते हैं। ग्रॉसमान के अनुसार वीर्य का अर्थ सामर्थ्य है। लुडविग—'अपनी बल-शक्ति के कारण विष्णु प्रशंसित होता है'—अर्थ मानते हैं। मैकदोनेल इसे प्रथम मन्त्र मे प्रयुक्त 'वीर्याणि' का निर्देशक स्वीकारते हैं। पीटर्सन वीर्येण को क्रियाविशेषण तथा स्तवते को कर्तृवाच्य स्वीकार अर्थ करते हैं—'विष्णु प्रशंसा करता है और इसका उद्घोषपूर्वक विकत्थन करता है'।

२. मृगो न भीमः—मैकदोनेल का अभिमत है कि सायण के अनुसार यद्यपि मृग का अर्थ सिंह है और भीम विशेषण सिंह एवं वृषभ दोनो के लिए प्रयुक्त हुआ है तथापि गिरिष्ठा वृषभ के विशेषण के रूप में तीन-चार बार प्रयुक्त हुआ है, जब कि सिंह के विशेषण के रूप में कभी नही आया है। अग्रिम मन्त्र में विष्णु को 'गिरिक्षित् वृषभ' कहा गया है, अतएव यह उपमा सिंह की अपेक्षा वृषभ की ओर संकेत करती है।

पीटर्सन का कथन है कि सामान्यतः यह उपमा विष्णु के लिए प्रयोज्य नहीं स्वीकारी जा सकती। यहाँ द्युलोक के शिखर पर पादक्षेप करनेवाले तथा स्व-वीर्य के उद्घोषक विष्णु के साथ इस उपमा का प्रयोग हुआ है। वह पर्वतों पर परिभ्रमण करनेवाले सिंह के समान भयानक गर्जना करता है। तु०—१०।१८०।२ मे पूरी पंक्ति समरोद्यत इन्द्र के वर्णन में दृष्टिगत होती है। सायण ने वहाँ लिखा है :—कुचरः कुत्सितचरणः गिरिष्ठः पर्वतनिवासी मृगो न हिंस इव हे इन्द्र त्वं भीमो भयंकरोऽसि। मान्त शब्दो का 'म' उदात्तस्वर-युक्त होता है—अतः 'भीम' का 'म' उदात्त है।

मृग शब्द का प्राचीनतम अर्थ हिंसक या आरण्यक पशु है। संस्कृत के मृगेन्द्र, मृगया शब्द इसकी पुष्टि करते हैं। तु० पीटर्सन, पृ० १५३-१५४, (पीटर्सन, इसमे अनुवर्ती नृसिंहावतार का संकेत देखते हैं)

सायण का सिंह अर्थ स्वीकार्य नहीं हो सकता। जिस समय इस मन्त्र की रचना हुई थी, उस समय तक आर्य सिंहों के प्रदेश में नहीं पहुँच पाये थे। प० चट्टोपाध्याय के मत से यह हिंसक पशु व्याघ्र हो सकता है।

३. कुचरः—यह शब्द ऋग्वेद में केवल दो स्थानों पर आया है, यहाँ और १०।१८०।२ मन्त्र में। दूसरे स्थान पर इसका प्रयोग इन्द्र के विशेषण के रूप में हुआ है। यास्क इसके दो अर्थ प्रस्तुत करते हैं—(१) कुत्सित कर्म करनेवाला और (२) यह कहाँ नहीं विचरता (कु अथवा क्व + चर् + ट्)। सायण में इन अर्थों के अतिरिक्त 'तीनों लोकों में भ्रमण करनेवाला' भी मिलता है (कु = पृथिवी)। मैकडोनेल के मत से सम्भवतः कु स्वतन्त्र पद नहीं है, अन्यथा वह अवगृहीत होता।

४. गिरिष्ठाः—सायण के अनुसार इस शब्द के दो अर्थ हैं—(१) उन्नत लोकों में निवास करने वाला, (२) मन्त्ररूप वाणी में स्थित। उव्वट तथा महीधर ने भी इस अर्थ का अनुगमन है।

५. विश्वा—वैदिक भाषा में अनेकशः नपुंसकलिङ्ग की प्रथमा और द्वितीया के ब० व० में 'नि' (इ) का लोप हो जाता है। संस्कृत में इसका रूप होगा—विश्वानि।

ध्यातव्य है कि उव्वट सिंह को हीन उपमान मान कर 'मृगो न' आदि का अन्यथा व्याख्यान करते हैं। इन सब पदों से इन्द्र का विशेषण मानकर उसे विष्णु का उपमान बनाया गया है (दे० उ० भा०) ॥ २ ॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥ ३ ॥

पदपाठः

प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिऽक्षिते। उरुऽगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रऽयतम्। सधऽस्थम्। एकः। विऽममे। त्रिऽभिः। इत्। पदेभिः ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषमस्मत्कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्र मननीयं शूषं बलं वा विष्णुमेतु। प्राप्नोतु। कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कीदृशाय। गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते। उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय। वृष्णे वर्षित्रे कामानाम्। एवम् महानुभावं शूषं प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेष इत्युच्यते। यो विष्णुरिदं प्रसिद्ध दृश्यमानं दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थ सहस्थानं लोकत्रयमेक इदेक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान्।

हिन्दीभाषान्तर

पर्वतवासी, विशाल गतिशील तथा बली विष्णु के निमित्त भलीभाँति उच्चारित स्तोत्र पहुँचे। अकेले ही जिस (देव) ने इस लम्बे-चौडे सहनिवासस्थान को तीन पदो से नाप लिया है।

टिप्पणियाँ

१. शूषम्—श्वस् + अच्। छन्दोभंग के निवारणार्थ 'शुऊषम्' पठितव्य है। रॉथ इसे श्वस् से व्युत्पन्न स्वीकार विशेषण मानते हैं। प्रमाण रूप में चार ऋचाओं को भी उद्धृत करते हैं, अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म***अवाचि; १०।९४।६ (सायण—अध संप्रति तस्मा इन्द्राय प्रियं प्रीतिजनकं शूषं बलं शत्रूणा शोषकत्वाद् बलकरं मन्म मननीयं स्तोत्रम्); शूषेभिर्वृधो जुषाणो अर्कैः, १०।६।४ (सायण—वृधो वर्धितोऽग्निः शूषेभिर्हविर्लक्षणबलैः। बलनिमित्तैर्हविभिरित्यर्थः। अर्कैः स्तोत्रैश्च जुषाणः सेव्यमानः सन्), पीटर्सन के अनुसार 'शूषेभिः' का विशेषण होना संदिग्ध है। उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषं महो महद्भ्यामनयन्त शूषम्, ३।७।६ (सायण—उतो अपि च महो महतो महद्भ्या पितृभ्या द्यावापृथिवीभ्या प्रविदा प्रवेदनेन अनुघोषमनुघुष्यमाणं शूषं सुखम्। शूषं शुनमिति सुखनामसु पाठात्। तत् सुखं यजमाना अग्निमनयन्त अग्निं प्रापितवन्तः)। स्तोमं यमस्मै ममतेव शूषम्, ६।१०।२ (सायण—ये स्तोम स्तोत्रं शूषं सुखकरम्)। इन पर आधृत हो रॉथ अर्थ करते हैं—घन घन शब्द करना; बुदबुदाना, सीटी बजाना, गायन, शब्द करना, टनटनाना, ठनठनाना, झनझनाना,

झन-झन शब्द करना। अन्य दो स्थानों पर; रॉथ के मत से, 'शूष' विशेषण के रूप में खर्राटे लेने, फुफकारने, फुनफुनाने. नाक फुलाकर फुनफुनाते हुए बोलने तथा आत्मवान्, सप्राण, जीवन्त, वीर्यवान्, तेजस्वी, ससत्त्व, सोत्साह, उत्कट, जीवटवाले, जानदार, दिलेर आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषै पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः, ३।४९।२ (सायण–स इन्द्र इनतमोऽतिशयेन सेनास्वामी सत्त्वभिः परितः सीदद्भिर्मरुद्भिः सह यो यान् गच्छन् शूषैः। शोषयन्ति परबलानीति शूषाणि बलानि)। प्र क्षद्धि हेव शूष एति रोरुवत्, १।७१।२, (सायण—शूषः शत्रूणां शोषको बलवान्। निघण्टु २।९ में बलवाचक शब्दों मे शूष का उल्लेख है। ३।६ सुखार्थक शब्दसमूह मे भी यह उपलब्ध है। सायण इसका अनुसरण करते हैं। लुडविग के अनुसार इस पंक्ति का अर्थ—"विष्णु के निकट उसकी 'शक्ति के निमित्त' स्तोत्र पहुँचे"। वस्तुतः यहाँ 'शूष' 'मन्म' का विशेषण है। स्तोत्र के उच्चारण के महत्त्व की युक्तिशालिता से वैदिक अध्येता अपरिचित नही है; अतः इस प्रसङ्ग मे अर्थ होगा 'भलीभाँति उच्चारण किया गया'—तु०, 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह'। मैकदोनेल के मत से इसका अर्थ 'उत्साहप्रद' है। अवेस्ता में इसके समान 'हुस्क' शब्द मिलता है।

२. उरुगायाय—मैकदोनेल के अनुसार 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' के साथ 'गिरिक्षित उरुगायाय' का साम्य है—गिरिक्षित् = गिरिष्ठाः, उरुगायः = कुचरः, वृषन् = मृगो भीमः। विष्णु का अन्यत्र 'उरुक्रम'—निरुक्त, महागति, विशेषण मिलता है अतएव उरु + गा (जाना) से इस शब्द की निष्पत्ति होगी तथा अर्थ होगा 'लम्बे डग भरनेवाला'।

३. वृष्णे—वृष् + न्। मैक्समूलर (वैदिक हिम्स, भा० १, पृ० १३८-१५३) वृषन् शब्द का युक्तियुक्त अर्थ करना असम्भव-सा है। वेदमन्त्रों में इसका अनेकशः प्रयोग उपलब्ध होता है। यदि एक बार उन सब विचारधाराओं को जान लिया जाय तो कदाचित् इसके अर्थ का एक अस्पष्ट चित्र उपस्थित हो सके। वृषन् शब्द वृष—वीर्यसेचन करने से निष्पन्न हुआ है। इसका मूल अर्थ नर था। इसका प्रयोग प्रधानता, श्रेष्ठता, विशिष्टता, प्रतिष्ठा, शक्ति के द्योतक रूप में हुआ है। ध्यातव्य है कि प्रायः इसका प्रयोग मानव

के काम चरित्र के ख्यापनार्थ मिलता है। स्थित्यन्तर में इसका अर्थ उर्वर, बली तथा अमोघवीर्य हो गया। वीर, बली अर्थ में विशेषण होकर तथा देवताओं के नाम और प्रशंसावाचक रूप में भी इसका प्रयोग किया गया है।

सायण ने इसका अर्थ 'कामनावर्षी' किया है। प्रस्तुत प्रसंग में बली अर्थ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। विष्णु के वीर-कर्म-प्रशंसन के वर्णनपरिप्रेक्ष्य में अन्य अर्थ की कल्पना विभ्रान्त मानी जायगी॥ ३॥

यस्य॒ त्री पू॒र्णा मधु॑ना प॒दा-
न्यक्षी॑यमाणा स्व॒धया॒ मद॑न्ति।
य उ॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीमु॒त द्या-
मेको॑ दा॒धार॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥ ४॥

पदपाठः

यस्य॑। त्री। पू॒र्णा। मधु॑ना। प॒दानि॑। अक्षी॑यमाणा। स्व॒धया॑। मद॑न्ति। यः। ऊँ इति॑। त्रि॒ऽधातु॑। पृ॒थि॒वीम्। उ॒त। द्याम्। एकः॑। दा॒धार॑। भुव॑नानि। विश्वा॑॥ ४॥

सायणभाष्यम् ४

यस्य विष्णोर्मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणान्यक्षीयमाणाक्षीयमाणानि स्वधयान्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्। य उ य एव पृथिवीं प्रख्याता भूमिं द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दशलोकांश्च। यद्वा। पृथिवीशब्देनाधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि। द्युशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु। त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्। तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घत्वम्। उत्पादितवानित्यर्थः। छन्दोगारण्यके—"तत् तेजोऽसृज्यत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षन्त" इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि"

(छा० उ० ६।२।३–४) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपादिता । यद्वा । त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधारेत्यन्वयः ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस (विष्णु) के मधु भरे तीन पद, क्षीण न होते हुए, स्वतन्त्रतापूर्वक मदयुक्त बनाते हैं। अकेले ही जिस (देव) ने पृथिवी, द्युलोक तथा सकल भुवनों को तीन प्रकार से धारण किया है।

टिप्पणियाँ

१. अक्षीयमाणा—अ + क्षी + शानच् अक्षीयमाणनि के लिए प्रयुक्त हुआ है। छन्दोगति की दृष्टि से 'पदानि अक्षीयमाणा' पठितव्य है। यह कर्मधारय समास है। इसमें नञ् का 'अ' सर्वदा उदात्त होता है। इस प्रकार के समास पदपाठ में अवगृहीत नहीं होते (दे० मैकदोनेल, रीडर, पृ० ३४, ग्रामरः पृ० ४५६)।

२. स्वधा—लौकिक संस्कृत में 'स्वधा' शब्द का उच्चारण पितरों को कव्य देते समय मन्त्र के अन्त में होता है, जिस प्रकार देवताओं को हव्य या आहुतिदान के समय मन्त्रान्त में 'स्वाहा' का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग माया के मानवीकृत नाम या सासारिक भ्रम तथा एक अप्सरा के अभिधान में भी हुआ है। जब पाश्चात्य सुधी-जगत् वैदिक स्वधा शब्द से अपरिचित था तभी १८४२ ई० में प्रो० बैनफी ने ग्रीक सेथोस्, जर्मन सित्ते, ओल्ड हाई जर्मन सित्-उ, गॉथिक सिद्-उ शब्दों पर आधृत हो स्वधा शब्द की कल्पना कर ली थी। मैक्समूलर के अनुसार इसका अर्थ पहले 'अपना स्थान' था, तदनन्तर 'स्वभाव' हो गया। मैक्समूलर—'स्वधया मदन्ति' का अर्थ 'अन्न से आनन्दित होते हैं, प्रसन्नता का अनुभव करते हैं' करते हैं।

रॉथ का मत है कि भारत वैदिक स्वधा शब्द का अर्थ पूर्णतया विस्मृत कर चुका है। उनके मत में इस शब्द का प्रथम अर्थ है–रीति-रिवाज, विधि, नियम, व्यवस्था। वे इस अर्थ की सिद्धि के निमित्त वक्ष्यमाण मन्त्रांशों को उद्धृत करते हैं।

अनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्, ऋ० ४।३३।६।

(सायण—अनु चतुर्धाकरणानन्तरमेतां तृतीयसवनगतां स्वधां सोमाख्यममृतमृभवो जग्मुः। मैक्समूलकर–इस प्रसङ्ग में 'स्वभाव, प्रकृति' अर्थ करते हैं)।

उषो अनु स्वधामव, ऋ० ४।५२।६

(सायण—अनु पश्चात् स्वधा हविर्लक्षणमन्नमव रक्ष)।

कया याति स्वधया, ऋ० ४।१३।५

(सायण—कया स्वधया केन बलेन याति गच्छति स्वधाशब्दोऽन्नवाच्यत्र तत्कार्यं बलं लक्षयति)।

ऋ० ९।१०३।५; ६।२।८; ८।३२।६; ९।८६।१०; १०।१२९।५ में प्रयुक्त स्वधा शब्द का रॉथ परिचित स्थान, गृह अर्थ करते हैं।

वक्ष्यमाण तीन स्थलों को प्रस्तुत करते हुए रॉथ तृतीय अर्थ—सामान्य अवस्था, कल्याण, हित, सन्तोष—मानते हैं।

कया नो अग्ने वि वसः सुवृक्तिं कामु स्वधामृणवः शस्यमानः, ऋ० ७।८।३।

(सायण—हे अग्ने त्वं कया स्वधया हविषा नोऽस्माकं सुवृक्तिं स्तुतिं वि वसः व्याप्नुषे आच्छादयसि वा। कामु का च स्वधा शस्यमानः स्तूयमानस्त्वमृणवः प्राप्नुयाः)।

क्व स्या वो मरुतः स्वधासीत्, ऋ० १।१६५।५

(सायण—स्या सा स्वधा तदुदकं बलं वा)।

इससे पूर्व के मन्त्र १।१६५।५ में भी सायण यही अर्थ करते हैं।

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च, ऋ० ९।११३।१०

(सा० ला०, भा० ३, जहाँ आनन्द तथा पूर्णता है; सायण—स्वधान्नं स्वधाकारेण वा दत्तमन्नम्)।

रॉथ वेद मे स्वधा की प्रयोगप्रायता को द्रष्टव्य बताते हुए ऋ० १।६।४; १।३३।११; १।१६५।५ आदि तथा प्रस्तुत मन्त्र में सामान्यतया, आनन्दपूर्वक, इच्छानुरूप, निर्विघ्न, स्वाभाविक रूप में अर्थ करते हैं।

मदन्ति के साथ स्वधा शब्द १।१०८।१२; ३।४।७; ५।३२।४; ७।४७।३; १०।१४।७ में भी आया है। रॉथ के अभिमत मे पेय, हविष्, पितृ-कव्य सम्बद्ध स्वधा इससे भिन्न है। निघण्टु १।१२ में उदक तथा निरुक्त ७।२५ में अन्नार्थ मे पठित स्वधा भी प्रस्तुत स्वधा से व्यतिरिक्त है। रॉथ का यह भी कथ्य है कि 'स्वधयाऽन्ये मदन्ति' १०।१४।३ से प्रकृत स्वधा का कोई सम्बन्ध नहीं है। पीटर्सन का मत है कि प्रकृत प्रसंग मे स्वधा क्रिया-विशेषण है और इसका अर्थ है प्रसन्नता से, स्वाधीनता से तथा उपर्युक्त १०।१४।३ में संज्ञा है,

और उसका अर्थ है— हविष् से । अब यदि रॉथ की कल्पना स्वीकारी जाय तो यह भी स्वीकर्त्तव्य होगा कि दोनों मन्त्रों के रचनाकाल के मध्य सुदीर्घ अन्तर रहा होगा ।

सायण इसका अर्थ अन्न करते हैं । स्वधा के लिए दे०, मै० मू० वै० हि०, १,३२ आदि ।

३. उ–मै०–भी । सा०–ही, यहाँ 'उ' को समुच्चयार्थक मानना चाहिए । पदपाठ में 'उ' के आगे इति लगाकर इसे सानुनासिक किया जाता है ।

४. त्रिधातु—रॉथ इसकी तुलना 'उत त्रिधातु प्रथयद् वि भूम' ४।४२।४ ऋ० से करते हैं । मै० इसे मन्त्र में आये त्रेधा के समान क्रिया विशेषण मानते हैं और अर्थ करते हैं—तीन डग भरने के कारण 'तीन प्रकार से' । पीटर्सन त्रिधातु को 'पृथिवीमुत द्याम्' का समानाधिकरण स्वीकारते हैं और सबका एक ही अर्थ करते हैं । सायण भी इसे क्रियाविशेषण मान 'पृथ्वी, जल, वायु—तीनों से विशिष्ट' अर्थ करते है, तदनन्तर त्रिकाल एवं त्रिगुण का विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं । इस अर्थ की सगति के लिए दे०—तै० स० ब्रा० २।४।१२ ।

५. दाधार–धृञ् + लिट् + प्र० पु०, ए० व० । ह्विटनी के अनुसार (अनुच्छेद ७८६) प्रायः धातु के द्वित्व रूप में प्रथम अक्षर को दीर्घ हो जाता है । दाधार रूप ब्राह्मण एवं अनुवर्ती ग्रन्थो में भी उपलब्ध होता है । पदपाठ में यह ह्रस्व भी नहीं होता ॥ ४ ॥

तद॑स्य प्रि॒यम॒भि पाथो॑ अश्यां
नरो॒ यत्र॑ देव॒यवो॒ मद॑न्ति ।
उ॒रु॒क्र॒मस्य॒ स हि बन्धु॑रि॒त्था
विष्णोः॑ प॒दे प॑र॒मे मध्व॒ उत्सः॑ ॥ ५ ॥

पदपाठः

तत् । अ॒स्य॒ । प्रि॒यम् । अ॒भि । पाथः॑ । अ॒श्या॒म् । नरः॑ । यत्र॑ । दे॒व॒ऽयवः॑ । मद॑न्ति । उ॒रु॒ऽक्र॒मस्य॑ । सः । हि । बन्धुः॑ । इ॒त्था । विष्णोः॑ । प॒दे । प॒र॒मे । मध्वः॑ । उत्सः॑ ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम् ५

आतिथ्यायां, तदस्य, इत्येषा प्रधानस्य याज्या। 'अथातिथ्या' इति खण्डे सूत्रितम्—'इदं विष्णुर्विचक्रमे, तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्' (आश्व० श्रौ० ४।५) इति।

अस्य महतो विष्णोः प्रियभूतं तत् सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धं पाथः। अन्तरिक्षनामैतत्, "पाथोऽन्तरिक्षं पथा (नि० २।२८) व्याख्यातम्" (निरु० ६।७) इति यास्केनोक्तत्वात्। अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः। अश्याम् व्याप्नुयाम्। तदेव विशिष्यते। यत्र स्थाने देवयवो देव द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नरो मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति। तदश्यामित्यन्वयः। पुनरपि तदेव विशिष्यते। उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रममाणस्य तत् तदात्मना, अतएव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परम उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वो मधुरस्योत्सो निष्यन्दो वर्तते। तदश्याम्। यत्र क्षुत्-तृष्णा-जरा-मरण-पुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति सङ्कल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः। ततोऽधिकं नास्तीत्याह। इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः। 'न च पुनरावर्तते' (छा० उ० ९।१५ अन्ते) इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम्। हि शब्दः सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः॥

हिन्दीभाषान्तर

इस (विष्णु) के उस प्रिय स्थान को मैं प्राप्त करूँ, जहाँ देवकामी जन प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। विशाल गतिशील विष्णु के परम पद में मधु का स्रोत है, इस प्रकार वह (विष्णु) (हमारा) हितेच्छु है।

टिप्पणियाँ

१. उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था—सायण—स हि बन्धुरित्था—इस प्रकार वह विष्णु, निश्चय ही, 'सबका बन्धु है' अर्थ कर इसे निक्षिप्त वाक्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः' प्रधान वाक्य है। इसमें 'तद् अश्याम्' की अनुवृत्ति करते हैं।

रॉथ और उनके अनुगन्ता ग्रॉसमान उपर्युक्त दोनों वाक्यों को अलग-अलग मानते हैं। इस प्रकार वाक्य-संयोजन करने पर, 'वहाँ शक्तिशाली गन्ता के

मित्रों का समाज है तथा विष्णु के उच्चतम स्थान पर माधुर्य का निर्झर है' (ग्रॉसमॅन—वहाँ माधुर्य-निर्झर है)। इस प्रकार रॉथ बन्धु को स्वर्ग-समाज तथा 'नरो देवयवः' की समुदायपरक अभिव्यक्ति स्वीकारते हैं। वक्ष्यमाण मन्त्र में वर्णित सुविदत्र, बर्हिषद् को विष्णु का, एवं नपात् तथा विक्रमण को पितरों का ज्ञापक मानते हैं।

आहं पितॄन् सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुरस्य भजन्त पित्वस्त इहा गमिष्ठाः॥
ऋ० १०।१५।३॥

लुडविग सायण के व्याख्यान का अवगमन ही नहीं कर पाते। उनका विचार है कि सायण बन्धु तथा उत्स को एक मानते हैं। इस पर आधृत उनका अर्थ है: 'उससे सम्बद्ध वहाँ विशाल गतिशील विष्णु के उच्चतम स्थान में मधु निर्झर है'। लुडविग का यह भी कथ्य है कि भक्त विष्णु-लोक में निवास इसलिए करना चाहता है कि वहाँ बन्धुभूत मधुस्रोत की स्थिति है। सायण बन्धु तथा उत्स को भिन्न मानते हैं और बन्धु विष्णु के लिए प्रयुक्त मानते हैं न कि उत्स के लिए। पीटर्सन इसीलिए लुडविग के अर्थ को भ्रान्त मानते है, जो सर्वथा समीचीन है।

पीटर्सन के अनुसार बन्धु पद देवता और भक्त के मध्य बन्धन का संकेत करता है—निश्चय विष्णु की बन्धुता एवंविध है—कि मैं भी वहाँ जय की आशा कर सकूँ। इसके सक्षेप में—युवयोर्हि नः सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुरुत तस्य वित्तम्, ऋ० ७।७२।२ उद्धृत कर, इसमें प्रयुक्त सख्या और बन्धु को समानार्थक मानते हैं।

मैकदोनेल 'स' को पाथ का निर्देशक स्वीकारते हैं तथा बन्धु के सामीप्य के कारण नपुंसक के स्थान पर पुल्लिंग का प्रयोग भी मानते हैं।

पिशेल 'इत्था' तथा 'एत्थ' को समीकृत करते हैं तथा इसका अर्थ 'यहाँ' मानते हैं—उसके उत्तरार्ध का भाषान्तर है—'विशाल गतिशील विष्णु के उच्चतम प्रदेश से निःसंदेह हमारा सम्बन्ध है, वहाँ मधु-निर्झर है'।

वस्तुतः सायण का अर्थ सर्वाधिक युक्तिसंगत है। प्रथमांश में 'तत्' प्रसिद्धि परामर्शक है और उसका सम्बन्ध 'यत्र' से है। मन्त्र के उत्तरांश का 'स' विष्णु को ही निर्दिष्ट करता है।

२. इत्था—पिशेल अत्र से एत्थ को व्युत्पन्न कर एत्थ और इत्था को समान मानते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया समस्त ध्वनि-नियमो के विरुद्ध है ॥ ५ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ६ ॥

पदपाठः

ता । वाम् । वास्तूनि । उश्मसि । गमध्यै । यत्र । गावः । भूरिऽशृङ्गाः । अयासः । अत्र । अह । तत् । उरुऽगायस्य । वृष्णः । परमम् । पदम् । अव । भाति । भूरि ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

हे पत्नीयजमानौ वा युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोर्गमनायोश्मसि कामयामहे । तदर्थं विष्णुं प्रार्थयाम इत्यर्थः । तानीत्युक्ते कानीत्याह । यत्र येषु वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहुभिराश्रयणीया वायासोऽयना गन्तारोऽतिविस्तृताः । यद्वा । यासो गन्तारः । अतादृशाः । अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः । अत्राह अत्र खलु वास्त्वाधारभूते द्युलोक उरुगायस्य बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्णः कामाना वर्षितुर्विष्णोस्तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूर्नतिप्रभूतमव भाति । स्वमहिम्ना स्फुरति । अयं मन्त्रो यास्केन गोशब्दो रश्मिवाचक इति व्याचक्षाणेन व्याख्यातः—'तानि वा वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सतः शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वायासोऽयनाः । तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमव भाति भूरि पादः पद्यतेः (निरु० २।७) इति ॥ (इति द्वितीयाष्टके द्वितीयेऽध्याये चतुर्विंशो वर्गः) ।

हिन्दीभाषान्तर

(हे इन्द्र ! तथा विष्णु ! हम) तुम दोनों के उन निवासयोग्य स्थानों में जाने की इच्छा करते हैं, जहाँ विशाल सींगो वाली तथा गमनशील गायें हैं ।

यहाँ पर विशाल गतिशील, बलवान् विष्णु का वह परम पद नीचे की ओर अत्यधिक प्रकाशित होता है।

टिप्पणियाँ

१. वाम्—युष्मद् शब्द की द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति में 'वाम्' होता है। सायण इसे चतुर्थी तथा मैकदोनेल आदि षष्ठी का रूप मानते हैं। सायण 'वाम्' को यजमान और उसकी पत्नी का निर्देशक समझते हैं। पीटर्सन के अनुसार सायण का उपर्युक्त मत उचित नहीं है। वस्तुतः यहाँ विष्णु के किसी सहचर देवता का संकेत किया गया है। वह कौन देवता है और क्यों इस प्रकार वहाँ उसे असम्बद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है, इस समस्या को समाहित करना सरल नहीं है। रॉथ (सा० ला० पृ० ५४) के अनुसार यह मन्त्र मित्रावरुण का है, जिसका प्रस्तुतीकरण 'परमं पदम्' के कारण अव्यवस्थित रूप में किया गया है। इसी प्रकार के एक अन्य प्रसङ्ग—तदित् समानमाशाते वेनन्ता न प्रयुच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे, ऋ० १।२५।६—में (वरुणसूक्त) बिना नामोल्लेख के वरुण के सहचर रूप में मित्र का निर्देश है। मैकडोनेल इस मन्त्र में इन्द्र विष्णु को स्तुत स्वीकारते हैं। 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इन्द्र को विष्णु का मित्र कहा गया है, अतः विष्णु के साथ इन्द्र का साहचर्य उचित प्रतीत होता है। १।१५५ ऋ० के प्रथम दो मन्त्रों में इन्द्राविष्णु का स्तवन भी इस कथ्य को सिद्ध करता है।

२. गमध्यै—गम् से तुमर्थ में अध्यैन् प्रत्यय, जाने के लिए-तुमर्थेसेसेनसे-असेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः-पा० ३।४।९। तुमर्थ-प्रत्ययान्त शब्दों की मूल धातु में उदात्त स्वर होता है, अतः 'ग' में उदात्त है।

३. गावो भूरिशृङ्गाः—सा० के अनुसार अत्युन्नत सर्वाश्रयणीय किरणें। पीटर्सन—सम्भवतः अगणित किरणयुक्त तारे। मै० के मतानुसार सम्भवतः सायण का अर्थ सङ्गत है। उषसूरश्मियाँ गायों के साथ तुलित हुई हैं तथा प्रकाश-लोक विष्णु के तृतीय पाद के अनुरूप सूर्य-प्रकाशसम्बद्ध पदार्थ ही उपयुक्त है। मै० रॉथ पर आधृत पीटर्सन के मत को भ्रान्त एवं आधारहीन कहते हैं। भूरि शृङ्गाणि यासां ताः, गावः का विशेषण। बहुत-सी अथवा विशाल सींगों वाली।

ध्यातव्य है कि सूर्य एवं गाय के सम्बन्ध के निर्देशक अनेक साक्ष्य उपलब्ध हैं। गर्जियन कालीन उत्तर मिस्रस्थ अमर्तियन पाषाण-चित्रों में पाषाणयुगीन सूर्य-चक्र से समन्वित गो-शृंग द्रष्टव्य हैं (विंकलर, रॉकड्राइंग्स ऑफ सदर्न ईजिप्ट, १९३८, पृ० २२)। इसी प्रकार मिस्र की हथोर देवी का रूप गाय का है। उसके भाल पर गोशृङ्गयुग्मों के मध्य में सूर्य-चक्र चित्रित है तथा समग्र देह ताराङ्कित है। धार्मिक विश्वास एवं मान्यता के परिसर में यह कथ्य है कि सूर्य इन्हीं गोशृङ्गो के मध्य से प्रातः उदित एवं सायं अस्त होता है। (ई० ओ० जेम्स, प्रिहिस्टॉरिकल रिलीजन, पृ० २३६, सुशीलकुमार मैत्र, स्टडीज इन फिलॉसफी एण्ड रिलीजन, दि रिलीजन ऑफ एंश्येण्ट ईजिप्ट, पृ० ९७; हथोर के चित्र के लिए देखिए, दि एंश्येण्ट गॉड्स, जेम्स, फलक ३, पृ० ८३)। इस प्रसंग में यह भी स्मर्तव्य है कि विष्णु का गो और गोपों से भी सम्बन्ध है: विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः, ३।५५।१० ऋ०; गोपा अदाभ्यः, ऋ० १।२२।१८। अतएव 'विशाल सींगो वाली गायें' अर्थ अधिक युक्तिसंगत है। शृंग शब्द श्रिञ् सेवायाम्, शॄ हिंसायाम्, शम् शान्तौ से बन सकता है जैसा कि यास्क का मत है। मैकदोनेल का मत है कि यह पद सूर्य-किरणो के, विभिन्न स्थानों की ओर, गमन का निर्देशक है।

४. अयासः—सायण—गमनशील, गतिमती, अति विस्तृत तथा गतिरहित परम प्रकाशयुक्त। रॉथ इसे अ + यास् (यस्) से निष्पन्न करते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ है—द्रुतगामी, तीव्र, सक्रिय, तेज, चुस्त, चालाक, हलका, विशारद, प्रवीण, दक्ष, विज्ञ, निपुण। यह पद प्रायः मरुत्, ऋ० १।१६।११, १६७।४, १०८।९, १६९।७; ३।५४।१३; ५।४२।१५; ६।६६।५, ७।८।२; गो १।१५४।६; अश्व ९।८९।४, सिंह ९।८९।३; अर्चि ४।६।१०; और अजर ३।१८।२ के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है। मैकदोनेल अयासम्—द्वि० ए० व०—, अयासः—द्वि० ब० व०। अयासम्—ष० ब० व० के प्रयोगों के प्रमाण पर इसे अयास् पद स्वीकारते हैं। उनका यह भी कथन है कि सिंह, मरुत् तथा अश्व का विशेषण होने से इसका अर्थ सक्रिय, चपल, सत्वर होना चाहिए।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम दो मन्त्र शु० य० सं०—५।१८।२०—तथा अथर्ववेद के ७।२६ में विपर्यासित रूप में उपलब्ध होते हैं॥ ६ ॥

इन्द्रसूक्तम्

द्वितीयमण्डले द्वादशं [द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं] सूक्तम्

(द्वितीयाष्टके षष्ठाध्याये सप्तमाष्टमनवमवर्गाः)

गृत्समद ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

सायणभाष्यम्

द्वितीयेऽनुवाके एकादशसूक्तानि । तत्र 'यो जात' इति पञ्चदशर्चं प्रथमं सूक्तं गार्त्समदं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । संसवे निष्केवल्ये निविद्धानीयस्य पुरस्ताद् 'यो जात एव' इति [सूक्तं] शंसेत् । 'यदि पर्यायान्' इति खण्डे सूत्रितम्—"यो जात एवेति निष्केवल्ये" (आश्व० श्रौ० ६।६) इति । आभिप्लविके तृतीयेऽहनि निष्केवल्ये 'यो जात एव' इति निविद्धानीयम् । सूत्रितं च—"तृतीयस्य त्र्यर्यमा यो जात एवेति मध्यन्दिनः" (आश्व० श्रौ० ७।७) इति विश्वजिति माध्यन्दिन-सवने मैत्रावरुणः स्वशस्त्रे प्राकृतात् सूक्तात् पूर्वं 'यो जात' इति सामसूक्तं शंसेत् । 'विश्वजितोऽग्निं नरः' इति खण्डे सूत्रितम् "सत्रा मदासो यो जात एवाभूरेक इति सामसूक्तानि" (आ० श्रौ० ८।७) इति । अग्निष्टुन्निष्केवल्ये निविद्धानमिदम् 'श्येनाजिराभ्याम्' इति खण्डे सूत्रितम्—"तिष्ठा हरी [इति] यो जात एवेति मध्यन्दिन" (आश्व० श्रौ० ९।७) इति । महाव्रते निष्केवल्ये 'यो जात एव' इति सूक्तम् 'उरू' इति खण्डे सूत्रितम्—"वने न वा यो न्यधायि चाकन् यो जात एव प्रथमो मनस्वान्" (ऐ० आ० ५।३।१) इति ।

अत्रेतिहासो बृहद्देवतायाम् (४।६५-७९) उक्तः—

"संयुज्य तपसात्मानमैन्द्रं बिभ्रन् महद्वपुः ।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥
तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ भीमपराक्रमौ ।
धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततुः ॥

विदित्वा स तयोर्भावमृषिः पापं चिकीर्षतोः ।
यो जात इति सूक्तेन कर्माण्यैन्द्राण्यकीर्तयत् ॥"
(बृहद्देवता, ८।६६-६८)।

अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति । पुरा किलेन्द्रादयो वैन्ययज्ञं समाजग्मुः । गृत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत् । दैत्याश्चेन्द्रजिघांसया तत्र समागमन् । तान् दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञात् गृत्समदाकृतिः । स च गृत्समदो वैन्येन पूजितो यज्ञवटान्निरगच्छत् । निर्गच्छन्तं तमृषिं दृष्ट्वायमेवेन्द्र इति मन्यमानास्तमसुराः परिवव्रुः । नाहमिन्द्रस्तुच्छः किन्त्वेवङ्गुणोपेतः स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच । अयमेवार्थो महाभारते प्रपञ्चितः ।

अपरे त्वेवं कथयन्ति । गृत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्रं ज्ञात्वासुराः परिवव्रुः । स इन्द्रो गृत्समदरूपेण यज्ञवटान्निर्गत्य स्वर्गं जगाम । ततोऽसुरा इन्द्रो विलम्बित इत्यन्तः प्रविश्य गृत्समदं दृष्ट्वा पूर्वमेव गृत्समदो गतः, अयं त्विन्द्रोऽस्मद्भयात् गृत्समदरूपेणास्त इति तं जगृहुः । स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन प्रत्युवाच । अयमेवार्थो महाभारते प्रपञ्चितः ॥

यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान्
दे॒वो दे॒वान् क्रतु॑ना प॒र्यभू॑षत् ।
यस्य॒ शुष्मा॒द् रोद॑सी॒ अभ्य॑सेतां
नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ १ ॥

पदपाठः

यः । जा॒तः । ए॒व । प्र॒थ॒मः । मन॑स्वान् । दे॒वः । दे॒वान् । क्रतु॑ना । परि॑ऽअभू॑षत् । यस्य॑ । शुष्मा॑त् । रोद॑सी॒ इति॑ । अभ्य॑सेताम् । नृ॒म्णस्य॑ । म॒ह्ना । सः । ज॒नासः॒ । इन्द्रः॑ ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

गृत्समदो ब्रूते । जनासः जनाः हे असुरा यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः देवः द्योतमानः सन्

क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यगृह्णीत् । 'भूष अलङ्कारे' भूवादिः, लङि रूपम् । यद्वा । सर्वानन्यान् देवान् पर्यभूषत् पर्यभवद् अत्याक्रामत् । अस्मिन् पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्सः । 'श्र्युकः किति' (पा० ७।२।११) इतीट्प्रतिषेधः । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् श (शा) रीराद् बलाद् रोदसी द्यावापृथिव्याभ्यसेताबिभीताम् । 'भ्यस भये' अनुदात्तेत् । 'भ्यसतेरेजत इति भयवेपनयोः' (निरु० ३।२१) इति निरुक्ताः । 'भ्यस भये' अनुदात्तेत् । अभ्यसेतामवेपेता वा । तथा च मन्त्रान्तरम्—"इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही" (ऋ० १।८०।११) इति । नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति । अत्र निरुक्तम्–"यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा । यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीता नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इतृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसयुक्ता" (निरु० १०।१०।१०२) इति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो मनस्वी देव उत्पन्न होते ही प्रधान बनकर (अपनी) प्रज्ञा या कर्म से समस्त देवों को लाँघ गया (तथा) जिसके दम के सामने, विक्रम की महत्ता से द्युलोक और पृथिवी काँप गये, लोगो ! वह (ही) इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ

१. मनस्वान्—मनस् + मतुप् । सायण के अनुसार इसका अर्थ 'मनस्वियों में अग्रगण्य' है । मैकदोनेल—बुद्धिमान् , पीटर्सन—घोर, उग्र, भीषण अर्थ करते हैं । मैकदोनेल का कथन है कि संधि के कारण पदपाठ में यह अवगृहीत नहीं किया गया । सन्धि होने पर शब्द मनोवान् बनता और तब अवगृहीत भी किया जाता—'मनःऽवान्' । असत्त संज्ञा शब्द नपुंसकलिंग में हो तो मूल शब्द में उदात्त होता है, अतः 'मनः' में 'म' पर उदात्त है ।

२. पर्यभूषत्—परि + भूष + लङ्, प्र० पु०, ए० व० । मैकदोनेल के अनुसार इसका अर्थ अनिश्चित है । प्रसंगानुसार यहाँ अभिभूत करना, लाँघना, अतिक्रमण करना अर्थ उचित है । तै० सं० में इसका अर्थ 'नीचा

दिखाना'—उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि करता है। रॉथ तथा औफ्रेष्ट के आधार पर पीटर्सन 'सुशोभित किया' अर्थ करते हैं। तु० 'अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु। परि भूष पिब ऋतून्'—ऋ० १।१५।४—सायण—हे अग्ने देवानिह अस्मिन् कर्मणि आवह।........तान् परिभूष अलंकुरु।.... ..।

३. शुष्मात्—श्वस् (साँस लेना) + मन्। पीटर्सन इसका अर्थ 'श्वास पर, श्वास के सामने' करते हैं। १।५२।४ में मरुतो के विशेषण के रूप में 'शुष्माः' उपलब्ध होता है। पीटर्सन का मन्तव्य है कि 'श्वास' का अर्थ 'शक्ति' है अर्थात् पद्य को गद्य में बदल देना। हिन्दी में 'शुष्म' का दम अर्थ अत्यन्त उपयुक्त है। जिसमें दम नहीं वह शक्तिहीन होता है। इस अर्थ का समर्थन पं० क्षे० चं० चट्टोपाध्याय करते हैं। तुलनीय : १।१५८।३ में प्रयुक्त 'शूषम्' पद। निदन्त होने से आदि वर्ण में उदात्त है–'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।९७)।

४. रोदसी—द्युलोक एवं पृथिवी का समवेत नाम है (निघं० ३।३०।४)। रुध्—आच्छादित करना, रोकना + असुन्, 'पृषोदरादि०' से 'ध' को द। रोदसी को रुद्रपत्नी भी कहा गया है–'विषितस्तुका रोदसी नृम्णाः' के माधवभाष्य में रुद्र की पत्नी रोदसी का उल्लेख है, दे० नि० ११।४९। 'यदरोदीत् तदनयोः रोदस्त्वम् (तै० २।२।९।४) पर आधृत रुदिर् रोना + असुन् (अणा० ४।१८९)। 'ञिदन्त' तथा 'निदन्त' शब्दो के आदि वर्ण में उदात्त होता है। रोदसी निदन्त शब्द है ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।९७)।

५. स जनास इन्द्रः—यह पद-समूह इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र को छोड़कर सबके अन्त में आता है। पीटर्सन का अभिमत है कि सायण का यह व्याख्यान—'मै नहीं, वह इन्द्र है' बृहद्देवता की उपहासास्पद कथा का फल है। बृहद्देवता की कथा तथा सूक्त की भावना के मध्य सुदीर्घ काल का अन्तर है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार सायण द्वारा प्रस्तुत कथाएँ (इस सूक्त में) गल्प मात्र हैं। सम्बोधन पद जहाँ वाक्य या पाद के आरम्भ में नहीं होते, वहाँ उनमें उदात्त का अभाव रहता है। तु०—'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९)॥ १॥

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्
यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

पदपाठः

य । पृथिवीम् । व्यथमानाम् । अदृंहत् । यः । पर्वतान् । प्रऽकुपितान् । अरम्णात् । यः । अन्तरिक्षं । विऽममे । वरीयः । यः । द्याम् । अस्तभ्नात् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

हे जना य इन्द्रो व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत् । 'दृह दृहि [बृह बृहि] वृद्धौ' । यश्च प्रकुपितानितस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णान्नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् अरम्णात्—'रमु क्रीडायाम्' अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः । यश्च वरीय उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थः । यश्च द्यां दिवमस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् । 'स्तम्भु रोधने' इति सौत्रो (पा० ३।१।८२, ८।३।११६) धातुः । स एवेन्द्रो नाहमिति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसने डगमगाती हुई पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने विक्षुब्ध पर्वतों को स्थिर किया, जिसने अतिविस्तृत अन्तरिक्ष को नाप लिया (तथा) जिसने द्युलोक को स्तब्ध (स्थिर) कर दिया, लोगो ! वह (ही) इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ

१. व्यथमानाम्—व्यथ् (चलना) + शानच् , द्वि०, ए० व० । मैत्रायणी संहिता १ । १० । १३ तथा काठकसंहिता ३६।७ में उपलब्ध आख्यान में पर्वत प्रजापति के पक्षधर ज्येष्ठपुत्र कहे गये हैं । पर्वतों के इच्छानुसार भ्रमणशील

होने से पृथ्वी शिथिल हो रही थी, अतएव इन्द्र ने उनके पङ्खों को काट दिया। यह कथा ऋग्वेद में बहुशः वर्णित इन्द्र द्वारा पर्वतदृढ़ीकरण के पौराणिक विकास के कथारूप को संकेतित करती है। 'यह आख्यायिका वार्षिक इन्द्रवृत्रयुद्ध (वर्षा) के रूपक से बनी हुई कवि कल्पना मात्र है, (पं० क्षे० चं० चट्टोपाध्याय, भूगोल, भुवनकोष विशेषांक, पृ० ४०)।

२. प्रकुपितौ अरम्णात्—प्रकुपितान् + अरम्णात्। ऋग्वेद में पदान्त आन् के आगे स्वर रहने पर आँ लिखा जाता है। मूल आन्स् के लिए प्रायः आन् का प्रयोग हुआ है। यदि स्वर उत्तरवर्ती हो तो आन्स् मानकर सन्धि की जाती है (दे०, पीटर्सन, वही, पृ० ७२, चिकित्वाँ पर टिप्पणी)।

प्रकुपितान्—वैदिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'कुप्' धातु का प्राचीन अर्थ 'गति' था। स्थित्यन्तर में इस धातु का प्रयोग लक्षण द्वारा मानसिक जगत् के भाव के हेतु होने लगा; तदनन्तर संस्कृत में 'क्रोध' तथा लैटिन में 'इच्छा' के अर्थ में प्रयुक्त हुई।

अरम्णात्—वेद में 'रमु' धातु 'विश्रान्ति की दशा में होने' के अर्थ की अभिव्यक्ति करती थी। शनैः-शनैः इसके अर्थ का परिवर्तन हुआ और अब सब प्रकार के आनन्द का उपभोग करने में प्रयोजित होती है, अतएव प्राचीन अर्थ की दृष्टि से स्थिरीकरण अर्थ ही प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त है (दे०, पीटर्सन, वही, पृ० ११९)।

३. वरीयः—उरु + ईयसुन्; नपुं० द्वितीया, एक व०। मैकदोनेल के अनुसार यह 'विस्तृत होने के निमित्त फैला हुआ' भाव की अभिव्यक्ति करता है—तु०—'अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि' (ऋ० ६।६९।५) 'इन्द्र और विष्णु, तुमने अन्तरिक्ष को चौड़ा किया है और हमारे रहने के लिए स्थानों को फैलाया है' (मै० पृ० ४६) ॥ २ ॥

यो ह॒त्वाहि॒मरि॑णात्स॒प्त सिन्धू॒न्
यो गा उ॒दाज॑दप॒धा व॒लस्य॑।
यो अश्म॑नोर॒न्तर॒ग्निं ज॒जान॑
सं॒वृक् स॒मत्सु॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ ३ ॥

पदपाठः

यः । हत्वा । अहिम् । अरिणात् । सप्त । सिन्धून् । यः । गाः । उत्ऽआजत् । अपऽधा । वलस्य । यः । अश्मनोः । अन्तः । अग्निम् । जजान । सम्ऽवृक् । समत्ऽसु । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

योऽहि मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपोऽरिणात् प्रैरयत् । यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात् । 'रीङ् स्रवणे' क्र्यादिः । यश्च वलस्य वलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृकान् निरोधान् निरुद्धा गा उदाजत् निरगमयत । अपधा । अपपूर्वाद्दधातेः—'आतश्चोपसर्गे (पा० ३।३।१०६) इति भावेऽङ्प्रत्ययः । 'सुपां सुलुक्—' (पा० ७।१।३९) इति पञ्चम्या आकारः । यश्चाश्मनो.—अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः । अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेघयोरन्त-र्मध्ये वैद्युतमग्निं जजानोत्पादयामास । यश्च समत्सु—सम्भक्षयन्ति योद्धृणामायूंषि, इति समदः सङ्ग्रामाः तेषु—संवृभवति । वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसने अहि को मारकर सात जलधाराओं को प्रवाहित किया, जिसने बल के बाड़े में (बंद) गायो को बाहर निकाला, जिसने दो बादलों के बीच अग्नि उत्पन्न की (और जो) समर में सब को समेटनेवाला है, लोगो ! वह इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ

१. हत्वा—हन् (मारना) + क्त्वा—मार कर । त्वा प्रत्ययान्त शब्द के प्रत्यय में उदात्तस्वर होता है, अतएव 'हत्वा' के 'त्वा' में उदात्त है ।

२. अहिम्—ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र के युद्ध का अनेकशः वर्णन उपलब्ध होता है । वृत्र जल को अवरुद्ध कर छिपा रखने वाला असुर है । इन्द्र वर्षा का अधिदेवता है । इन्द्र ने सोमपान कर त्वष्टा-निर्मित वज्र द्वारा इसका वध किया । धेनुओ की भाँति रँभाती हुई जल-धाराएँ मुक्त होकर समुद्र की ओर चल पड़ीं ।

प्राचीनकाल से ही इस रूपक के व्याख्यान में मतभेद चला आ रहा है । ऐतिहासिक वृत्र को त्वाष्ट्र असुर मानते थे । नैरुक्त मत में यह मेघ माना गया

है। प्रसिद्ध जर्मन वेदवित् हिलब्रान्त इसे जल को जमाने वाला घोर शीत यथा तिलक महोदय ध्रुवप्रदेश का विस्तृत अन्धकार स्वीकारते हैं। परिणामतः मुख्य रूप से इस सम्बन्ध मे चार मत हैं-मेघवाद, उषोवाद, वसन्तवाद, ध्रुवप्रदेशवाद (दे०-घाटे, लेक्चर्स ऑन दि ऋग्वेद, पृ० १३७-१४१)। वस्तुतः, इन्द्र पहले आर्यों का राष्ट्रीय युद्ध-देवता था। स्थित्यन्तर में वह वर्षा का देवता बन गया।

विश्व की अनेक प्राचीनतम संस्कृतियो मे अहि भौमिक जल का प्रतीक समझा गया है (हेनरिख जिमर; दि आर्ट ऑफ इण्डियन एसिया, मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन)।

अहि की अनेकधा व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गयी है : (१) इण् (गतौ—गमन करना)+इन् (उणा० ११११४)। (२) आङ्+हन (हिंसा करना, गमन करना)+इन् (उणा० ४।१३३)। देखिए—अहिरयनादेत्य-न्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (निरु० २.५।३)। (३) अहि (गमन करना)+ईन् (उणा० ४।११४)। अह् (व्याप्त करना) + इन्—अह्नोति व्याप्नोति आकाशं दिगन्तराणि वा—आकाश या दिशाओं को व्याप्त करने वाला। हन्+ईण्—हिः (मारने वाला), नञ्+हिः—अहिः। असुरवाचक अहि शब्द आद्युदात्त होता है जैसे इस मन्त्र में अथवा 'अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम्' ऋ० १।३२।२। निघण्टु (१।१०।२१) में अहि शब्द मेघनामों में पठित है। ध्यातव्य है कि वृत्र शब्द का भी परिगणन यहाँ किया गया है। अवेस्ता में भी अहिवध का वर्णन है—यो जनत् अज़ीम दहाकॅम् (यो अहन् अहिं दंशकम्) हओम यश्त, यस्न ८।

३. वृत्र—युद्ध का निर्देश है, जिसमें इन्द्र वृत्र का वध कर जल को बहने के निमित्त उन्मुक्त कर देता है। तुलनीय-'अहन्नहिमन्वपस्ततर्द' ऋ० १।३२।१, 'यो अपो वव्रिवासं वृत्रं जघान', ऋ० २।१४।२ लङ् लकार में आगम में उदात्त होता है, अतः यहाँ 'अ' उदात्तस्वरयुक्त है।

४. सप्त सिन्धून्—सायण के अनुसार इसके दो अर्थ हैं (१) प्रसर्पित जल, (२) गङ्गा, यमुना आदि सात मुख्य नदियाँ। सायण के दूसरे अर्थ में गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी नामक सात नदियों

का संकेत, है, तुलनीय—जलशुद्धि का पौराणिक मन्त्र—'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु'।

मैक्समूलर के अनुसार ऋग्वेदीय आर्यों का जीवन पंजाब एवं सैंधव घाटी में बीता। गंगा का ज्ञान सम्भवतः अत्यल्प था। ऋग्वेद में केवल १०।७५।५। में गंगा शब्द आया है। 'आर्य लोगों को गङ्गा से परिचय बहुत बाद में हुआ था' (पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, वैदिक भूगोल, भुवनकोष विशेषाङ्क, पृ० ५४)। ध्यातव्य है कि आर्यों को दक्षिण का कुछ भी परिचय न था। मैक्समूलर का विचार है कि पंजाब की पाँच नदियाँ एवं सिंधु, सरस्वती ही सात नदियाँ हैं।

जिमरामॅन इन नदियो के शोध में अनवहित हैं। टामस के अनुसार प्रारम्भिक 'सप्तसिन्धु' में ओक्सस (वक्षु) अवश्य रही होगी।

वस्तुतः लोग सात नदियो से प्रधान नदियो को समझते हैं। परन्तु सात प्रधान नदियो के अभिधान की व्यवस्था करना अत्यन्त दुष्कर है। मैक्समूलर का मत भी मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि पञ्जाब की अन्य नदियो तथा सिन्धु की सहायक नदियो का भी ऋषियों ने उल्लेख किया है और उन्हें छोड़ने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। सम्भवतः आर्य अपने मूल-निवास में सात नदियों से ही परिचित थे, अतः 'सब नदी' के अर्थ में 'सात नदी' कहना उनका स्वभाव हो गया होगा। सब नदियो के अर्थ में ऋक्संहिता में 'सप्तसिन्धवः' या 'सप्तस्रवतः' या ऐसे शब्द आये हैं, जिनका अर्थ है 'सात नदियाँ'। अतएव यहाँ 'सप्तसिन्धून्' का अर्थ समस्त नदी या जल होगा (देखिए, पं० चट्टोपाध्याय, वही, पृ० ४२-५०)। सप्त अवेस्ता में हप्त, लैटिन में सेप्तम् और सप्तसिन्धु अवेस्ता में हप्तहेन्दु है।

५. अपधा—अप + धा + अङ्। इस पद का प्रयोग केवल इसी स्थान पर हुआ है तथा इसका अर्थ विवादास्पद है। रॉथ, लॅनमान, ग्रॉसमान तथा मैकदोनेल इसे तृतीयान्त मानते हैं और पीटर्सन अग्रिम मन्त्र में प्रयुक्त गुहा के समान सप्तम्यन्त। रॉथ इसका अर्थ करते हैं 'बल के संवृति-स्थान से'। रॉथ के इस अर्थ से ग्रॉसमान भी सहमत हैं। लुडविग के विचार से इस शब्द का मूलभाव यान्त्रिकता से सम्बद्ध है, अतः इसका अर्थ खूँटा, चाभी होना चाहिए।

मैकदोनेल 'यो गा उदाजद् अप हि वलं वः' ऋ० २।१४।३ मन्त्र में प्रयुक्त 'अपवृ' के समान स्वीकार कर इसका अर्थ 'अनावृति'—'वल की गुहा की अनावृति' करते हैं। इस अर्थ का संपोष 'त्वं वलस्य गोमतोऽपावर्बिलम्— ऋ० १।११।५ मे भी होता है। दुर्ग ने इसका अर्थ उद्घाटन—'अनावृत करना'—किया है।

६. वलस्य—वृ (आवरण) + अप् (पा० ३।३।५८)। वल् (संवरण) + घ (पा० ३।३।११८)। निघण्टु (१।१०।४) में यह पद मेघवाचक कहा गया है। सायण ने इसे गायों का चोर असुर माना है। मैकदोनेल, पीटर्सन एवं खोंदा भी इसे व्यक्तिवाचक संज्ञा ही मानते हैं। ऋ० १।६२।४ में यद्यपि 'वलम्' 'फलिगम्' का विशेषण प्रतीत होता है, तथापि वह विशेषण है नहीं। निघण्टु (१।१०।१७) में 'फलिग' भी मेघवाचक माना गया है, यहाँ 'साग-भाजी' के समान 'वलम् फलिगम्' का प्रयोग हुआ है। यद्यपि वलवध का श्रेय बृहस्पति, पितर् आदि को भी दिया गया है, तथापि इस प्रसंग में इस सूक्त के प्रथम मन्त्र का ध्यान रखना अनिवार्य है। वल का अर्थ व्रज या गोष्ठ भी हो सकता है। 'गोवर' का 'वर' एवं वल शब्द सम्भवतः एकार्थक हैं। र और ल में प्रायः परस्पर स्थानान्तर होता रहता है। वल एवं वर के ऐक्य होने पर अर्थ होगा—'गोष्ठ के बाड़े से', 'गोष्ठ के घेरे से'।

७. अश्मनोरन्तरग्निं जजान—सायण—'दो बादलों के मध्य में वैद्युत अग्नि को उत्पन्न किया'—अर्थ करते हैं। दुर्ग के अनुसार 'द्युलोक एवं पृथिवी लोक के मध्य में···'—अर्थ है। मैकदोनेल के विचार में यहाँ अग्नि के वैद्युत रूप का वर्णन है जिसे कई अवसरो पर 'चट्टानों में स्थित', 'चट्टानों से उत्पन्न होने वाला' एवं चट्टानों का पुत्र (अद्रेः सूनुः) कहा गया है।

'अश्मा', निघण्टु (१।१०।८) में मेघ-अभिधानों में उल्लिखित है। अश् (व्याप्ति) + मनिन् (उणा० ४।१४४)। देवराज यज्वा ने इस प्रसंग में 'अश्मा' का अर्थ पर्वत माना है। पर सायण, स्कन्दस्वामी मेघ स्वीकारते हैं। मन् अन्त में होने से (नपुंसक) मूल अश् के 'अ' में उदात्तस्वर है।

. संवृक्—वृजी (हिंसार्थक) धातु से सायण निष्पन्न मानते हैं—सम् + वृज् + क्विप्। इस पद का ऋग्वेद में कहीं अन्यत्र प्रयोग नहीं हुआ है।

वा० सं० ३८।२८—त्विषः संवृक् क्रत्वे, दक्षस्य ते—में भी प्रयोग मिलता है। यहाँ उव्वट एवं महीधर ने 'स्वीकरण' अर्थ किया है। मैकदोनेल इसका अर्थ 'विजेता' करते हैं।

समत्सु—सम् + अद् (भक्षण करना) + क्विप्, सप्तमी, ब० व०। संग्रामों में युद्धों में ॥ ३ ॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥

पदपाठः

येन । इमा । विश्वा । च्यवना । कृतानि । यः । दासम् । वर्णम् । अधरम् । गुहा । अकरित्यकः । श्वघ्नीऽइव । यः । जिगीवान् । लक्षम् । आदत् । अर्यः । पुष्टानि । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

येनेन्द्रेणेमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि । यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम् । यद् वा—दासमुपक्षपयितारम् । अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकरकार्षीत् । करोतेर्लुङि 'मन्त्रे घस'…(पा० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि रूपम् । लक्षं लक्ष्यं जिगीवान् 'जि जये' क्वसौ 'सन्लिटोर्जेः' (पा० ७।३।५७) इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । दीर्घश्छान्दसः । जितवान् । योऽर्योऽरेः । षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः । शत्रोः सम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आदद् आदत्ते । तत्र दृष्टान्तः । श्वघ्नीव । श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः । यथा व्याधो जिघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसने इन विश्वों को च्युतिशील बना दिया, जिसने दास वर्ण को नीचे गुफा में कर दिया, (तथा) जो, दाँव में एक लाख जीतने वाले जुआरी की भाँति शत्रु के धन को छीन लेता है, लोगो ! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. च्यवना कृतानि—सायण—नश्वर लोकों को स्थिर किया है। मैकडोनेल के विचार में जिस प्रकार वक्ष्यमाण पाद में 'अकः' का विधेय 'अधरम्' है, उसी प्रकार यहाँ 'च्यवना' 'कृतानि' का विधेय है, अतएव अर्थ होगा 'अस्थिर किये गये हैं'। तुलनीय—'यस्ता विश्वानि चिच्युषे'—ऋ० ४।३०।२२–'जिसने समग्र जगत् को हिला दिया है'। पीटर्सन—'उलट दिये गये', 'हिला दिये गये'। पीटर्सन के विचार से सायण का 'कृतानि' का 'स्थिरीकृतानि' अर्थ उपयुक्त नहीं है। ग्रॉसमान का अर्थ है—'जो जङ्गम सृष्टि का निर्माता है'। यद्यपि पीटर्सन ग्रॉसमान-स्वीकृत अर्थ की सम्भावना स्वीकारते हैं, तथापि उनके मत में मन्त्र ९ का 'अच्युतच्युत्' पद इसका प्रतिपक्षी है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि चर सृष्टि के वर्णन के अनन्तर अचर सृष्टि के निर्माण की अपेक्षा का अपलाप अशक्य है। ऋषि इन्द्र के सृजन कर्म का वर्णन समाप्त कर चुका है अब अन्य कार्यों के वर्णन में प्रवृत्त हो रहा है। इस मन्त्र के वक्ष्यमाण अंश पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

२. दासं वर्णम्—सायण शूद्र आदि वर्ण। नाश करने वाला। मैकडोनेल—अनार्य वर्ण (=कृष्णं वर्णम्); आदिवासी। पीटर्सन—'विरोधी रंग, काली चमड़ी'। दास, दस्यु शब्द ऋग्वेद में आर्यों के समस्त शत्रुओं—असुर तथा मानव—के निमित्त प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर, जैसा कि सायण को अभिमत है, स्पष्टतः प्रतीति होती है कि अनार्य जातियो की ओर संकेत किया गया है। ग्रॉसमान भी इसी मत में आस्था रखते हैं। रॉथ इसका अर्थ राक्षसो की सन्तान करते हैं।

ऋग्वेद में दास शब्द ६१ तथा दस्यु शब्द ८४ बार प्रयुक्त हुआ है। इन शब्दों के सम्यग् अर्थबोध में विद्वद्वर्ग एकमत नहीं है। कतिपय विद्वान् दास-दस्यु को आर्यों का अनार्य शत्रु मानते हैं (कैम्ब्रिज हिस्ट्री, पृ० ८४–८६; कीथ; रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ वेद, पृ० २३४; रेगोजिन, वैदिक इण्डिया, पृ० २८३)। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी क अनुसार उपर्युक्त शब्द अधिकांशतः द्रविड़ों के लिए प्रयुक्त हुए हैं (इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० ४७)। राबर्ट शेफर शारीरिक संघटन पर आधृत हो इन्हें निषाद कहते हैं (एथिनोग्रॉफी

ऑफ एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० ९)। इन मतवादों के रहते हुए भी यह कहा जा सकता है कि वृत्र आदि के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि दास शब्द का प्रयोग असुर-पिशाचो के लिए भी हुआ है। ऋग्वेद मे वृत्र को छह नेत्रो एवं तीन सिरो से युक्त कहा गया है (षडक्षं त्रिशीर्षाणम्, १०।९९।६) तुलनीय : 'थ्रि. कमृर्दम् ख्षवृश् अषीम्' (त्रिकमूर्धानम्, षडक्षम्)—अवेस्ता, हओम यश्त, यस्न ९, दास का अवेस्ता मे समान शब्द 'दाह'। यद्यपि यह ठीक है कि इन्द्र का 'अमानुष', 'मायावी' असुरो के साथ जो युद्ध-वर्णन है उसके पीछे एक ऐतिहासिक एवं मानवीय संघर्ष की प्रतिध्वनि है, (डॉ गोविन्द-चन्द्र पाण्डेय, स्टडी इन दी ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म; पृ० २५४), तथापि वैदिक वर्णना में दास-दस्यु शब्द का प्रयोग प्रायः असुरो के लिए हुआ है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार दास-दस्यु का अर्थ असुर स्वीकारना ही युक्ति-पूर्ण एवं मान्य है (पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, उद्धृत, डॉ० गोविन्द-चन्द्र पाण्डेय, वही पृ० २५३ ।

३. अधरं गुहाकः—सायण—अधर = निकृष्ट असुर; गुहा—गुहा, गूढस्थान या नरक मे। अकः—कृ + लङ्, प्र० पु०, ए० व०, अकार्षीत्, दिया। मैकदोनेल—अकः का सम्बन्ध 'अधरम्' एवं 'गुहा' दोनो से है—अधरमकः—नीच बनाया, वशवद बनाया; गुहा अकः—गुफा मे छिपा दिया, दूर खदेड़ दिया। रॉथ तथा ग्रॉसमान गुहा को तृतीया का रूप स्वीकारते हैं जिसका प्रयोग पञ्चमी के लिए हुआ है। गुहा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ५३ बार हुआ है, सम्भवतः यह दिवा की भाँति क्रिया-विशेषण है। वस्तुतः यहाँ गुहा का प्रयोग गुहायाम् के लिए हुआ है।

अकः—जहाँ संहितापाठ में 'र्' से उत्पन्न पदान्त विसर्ग-सन्धि के कारण 'र' नहीं हुआ होता वहाँ पदपाठ मे 'इति' लगाकर लिखा जाता है और मूल-रूप की आवृत्ति की जाती है—अकरित्यकः।

४. श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादत्—सायण—जिसने व्याध के समान लक्ष्य को जीत लिया। रॉथ—मैकदोनेल दाँव को जीतने वाले जुआरी की भाँति। औफ्रेष्ट—एक लाख को जीतने वाले जुआरी के समान। पीटसन के मत में इसका अर्थ अनिश्चितप्राय है। चार-पाँच स्थानो पर इसका उपमा के रूप में

प्रयोग हुआ है। अन्य कई स्थलो के प्रयोग—ऋ० १।९२।१०; ४।२०।३ सायण—व्याघघ्नी, ८।४५।३८, १०।४२।३, ४३।५, कितव।

जिगीवान्—जि + क्वसु, प्रथमा, ए० व०, पुल्लिंग—जीत लिया। यहाँ 'न्' को अनुनासिक 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) से हुआ है। मैकदोनेल का कथन है कि सम्भवतः छन्दोदृष्टि से इसका पहले उच्चारण 'जिगीवाँ' होता रहा होगा। स्थित्यन्तर मे वह इसी प्रकार से लिखा जाने लगा।

आदत्—आ + दा + लुङ्, प्र० पु०, ए० व०। मैकदोनेल—पद-पाठ में गौण क्रिया होने के कारण इसे अवगृहीत करना चाहिए था।

५. अर्यः—सायण—अरि + षष्ठी, ए० व० का वैदिक रूप, शत्रु के। मैकदोनेल के मत में सम्भवतः यह बहुव्रीहि समास है—न विद्यन्ते रायः, सः अरिः तस्य—जिसके पास अपने लिए भी धन नही है 'ऐसा निर्धन' अथवा जिसके पास दूसरो को देने के लिए धन नही है ऐसा कृपण॥ ४॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर-
मुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ ५॥

पदपाठः

यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः। न। एषः। अस्ति। इति। एनम्। सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःऽइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै। धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ५॥

सायणभाष्यम् ५

अपश्यन्तो जना घोरं शत्रूणा घातकं यं पृच्छन्तिस्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति। सेति 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्" (पा० ६।१।१३४) इति सोर्लोपे गुणः। न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुरेष इन्द्रो नास्तीति। तथा च मन्त्रः—"नेन्द्रो अस्तीति नेम उत्व आह" (ऋ० ८।१००।३)

इति। ईमिति पूरणः। स इन्द्रो विज इव। इव शब्द एवार्थे। उद्वेजक एव सन्। अर्योऽरेः सम्बन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि। आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति। 'मीङ् हिंसायाम्'। 'मीनातेर्निगमे' (पा० ७।३।८१) इति ह्रस्वः। तस्मात् श्रदस्मा इन्द्राय धत्त स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वासं कुरुत। एवं निर्धारणीयमहीमोपेतः स इन्द्रो नाहमिति। (इति सप्तमो वर्गः)॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस भयंकर (देव) को लोग पूछते हैं कि वह कहाँ है? और (कुछ) लोग जिसे कहते हैं कि 'वह नहीं है'; वह उद्वेजक के समान शत्रुधन को बलपूर्वक छीन लेता है, उस (इन्द्र) में विश्वास धारण करो, लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. घोरम्—भयंकर, भयानक, उग्र—शत्रुघातक। यम् (इन्द्र) का विशेषण है। औफ्रेष्ट इसे क्रिया-विशेषण मानते हैं—इस भयानक रूप में, भयावह ढंग से।

२. सो अर्थः—आर्नाल्ड के मत से छन्द की दृष्टि से यहाँ 'सोऽर्यः' पढ़ना चाहिए। मैकदोनेल भी इसका अनुमोदन करते हैं।

३. विज इव—सा०—उद्वेजक-सा ही होता हुआ। मैकदोनेल के अनुसार दाँव का धन, क्योंकि मन्त्र ४ का 'लक्षमाददर्यः पुष्टानि' इस मन्त्र के पाद तीन के समान है। पीटर्सन के विचार से यहाँ छन्द की दृष्टि से 'विजेव' पढ़ना चाहिए। मेति मे तो संहिता का मूल रूप उपलब्ध होता है, पर यहाँ विकृत रूप। ग्रासमान के मत मे 'इव' को 'वा' पढ़ना चाहिए। यह पद केवल एक अन्य स्थान पर और आया है—'श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आ मिनाना' (ऋ० १।९२।१०)। दोनों का सन्दर्भ समान है। औफ्रेष्ट इसका अर्थ प्राप्ति अथवा दाँव करते हैं।

४. श्रत्—निपात। विश्वास, श्रद्धा। श्रद्धा का मूल रूप। लैटिन में क्रेदो तथा केल्टिक में क्रेटिम् इसके समान शब्द हैं।

धत्त—आर्नाल्ड का अभिमत है कि इसे छन्द की दृष्टि से 'धत्ता' पढ़ना चाहिए (वैदिक मीटर, पृ० २९८)।

छन्द की दृष्टि से द्वितीय पाद में—अस्तीति एनम्, तथा तृतीय पाद में 'विजेवा' का पाठ करना उचित है ॥ ५ ॥

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य
यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः
सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥

पदपाठः

यः । रध्रस्य । चोदिता । यः । कृशस्य । यः । ब्रह्मणः । नाधमानस्य । कीरेः । युक्तऽग्राव्णः । यः । अविता । सुऽशिप्रः । सुतऽसोमस्य । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

यो रध्रस्य । 'रध हिंसासंराद्धयोः' । समृद्धस्य । चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति । यश्च कृशस्य [च] दरिद्रस्य च यश्च नाधमानस्य । 'नाधृ णाधृ' (नाथृ नाधृ) 'याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' । याचमानस्य कीरेः । करोतेः कीर्तयतेर्वा । स्तोतुर्ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनाना प्रेरयिता । यश्च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः अभिषवार्थमुद्यतग्राव्णः सुतसोमस्याभिषुतसोमस्य यजमानस्याविता रक्षिता भवति स एवेन्द्रो नाहमिति । ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्याद्, यदा—"ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्" (ऋ० ३।८।२) इति । अयं त्वन्तोदात्तः पठ्यत इति नान्नपरः ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो समृद्ध का, जो दरिद्र का और जो याचना करते हुए मन्त्रस्तोता का प्रेरक है; सुन्दर कपोल वाला जो (देव) (सोम चुआने के निमित्त) पाषाणों को संयोजित करने वाले, सोम को चुआने वाले (यजमान) का सहायक है, लोगो ! वह इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ

१. रध्रस्य—रध् + रक् = समृद्ध। यह शब्द प्रायः इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयोजित हुआ है। सायण ने इसके अनेकधा अर्थ किये हैं।

(१) समृद्ध जनों का प्रेरक अथवा हिंसक पशुओं का प्रेरक। ऋ० २।२१।४—रध्रचोदः = 'रध हिंसासंराद्धयोः'। रध्राणां समृद्धाना प्रेरकः। यद्वा। 'हिंसकाना शत्रूणां चोदकः'।

(२) किमङ्ग रध्रचोदनं त्वाहुः'—ऋ० ६।४४।१०; सायण—अङ्ग! हे इन्द्र! त्वा त्वा रध्रचोदनं रध्रस्य राधकस्य समृद्धस्य धनस्य चोदनं चोदयितारमाहुः कथयन्ति पुराजाः—राधक समृद्ध धन का प्रेरक।

(३) 'किमङ्ग रध्रचोदनः'—ऋ० ८।८०।३। सायण—हे इन्द्र त्वं रध्रचोदनः। रध्रं राधकं चोदयतीति रध्रचोदनः—राधक (यजमान) का प्रेरक।

(४) रध्रचोदनम्—ऋ० १०।३८।५। सायण—राधकस्य चोदनम् प्रेरकम्—राधक का प्रेरक।

सामान्य 'रध्र' पद का प्रयोग केवल तीन स्थानों पर हुआ है।

(१) यथा रध्रं पारयथात्यंहो—ऋ० २।३४।१५—तुम उस सहायता के साथ 'रध्र' (यजमान) को विघ्नों के पार पहुँचाते हो। सायण—रध्रमाराधकं यजमानम्।

(२) इमे रध्रं चिन्मरुतो जुनन्ति—ऋ० ७।५६।२०। ये मरुत् समृद्ध जन को भी प्रेरित करते हैं। सायण—इमे मरुतो रध्रं चित् समृद्धमपि जनं जुनन्ति प्रेरयन्ति।

(३) यस्पतिर्वार्याणामसि रध्रस्य चोदिता—ऋ० १०।२४।३। धन के स्वामी इन्द्र राधक और स्तोता के तुम प्रेरक बनते हो। सायण—हे इन्द्र! यस्त्वं वार्याणा वरणीयाना धनानां पतिरसि स्वामी भवसि। रध्रस्य राधकस्य स्तोतुश्च चोदिता धनदानेन कर्मसु नियोक्ता च भवसि।

अरध्र और रध्र एक अन्य स्थान पर साथ-साथ उपलब्ध होते हैं—

(१) सदिद्धि ते तुविजातस्य मन्ये
सहः सहिष्ठ तुरतस्तुरस्य।
उग्रमुग्रस्य तवसस्तवीयोऽ-
रध्रस्य रध्रतुरो बभूव॥ ऋ० ६।१८।४

सायण—अरध्रस्य शत्रुभिर्वशीकर्तुमशक्यस्य। रधेर्वशीकरणार्थस्यरध्रम्। रध्रतुरो वशीकरणीयानां सपत्नाना हिंसकस्य तव। अरध्र = शत्रुओं के वश में न आने वाला। रध्रतुरः—वशीकरणीय शत्रुओं का हिंसक।

(२) ता ह त्यद्वर्तिर्यदरध्रमुग्रेत्थाधिय ऊहथुः शश्वदश्वैः, ऋ० ६।६२।३। सायण—ता ह तौ खलु उग्रा उग्रौ अश्विनौ युवा यदरध्रसमृद्धं त्यद्वर्तिर्यजमानस्य तद्गृहं समर्थयितुं गच्छतः। अरध्र—असमृद्ध।

इन सब व्याख्यानों के होते हुए भी 'रध्र' पद विद्वानो की दृष्टि में अनिश्चित अर्थ वाला है।

रॉथ ने सेण्टपीटर्स बर्ग कोष में रध्र = अर्ध (ऋध्) रध्र को निष्पन्न कर उसकी तुलना अवेस्ता के 'अरेन्द्र' पद से की। उनके अनुसार इसका अर्थ है—समृद्ध, देवो को प्रसन्न करने वाला, धार्मिक। ध्यातव्य है कि इसके पूर्व रॉथ अरध्र शब्द का अर्थ 'निरलस, आलस्यरहित' स्वीकार करते हैं।

ग्रॉसमान के मत से इसका अर्थ 'श्रान्त, थका हुआ' होना चाहिए।

सा० ला० में 'रध्र' तथा 'कृश' के अर्थ समृद्ध एवं दरिद्र किये गये हैं।

औफ्रेष्ट के अनुसार रध्र का ईमानदार एवं कृश का निर्धन अर्थ है।

पिशेल का अभिमत है कि ऊपर उद्धृत ऋ० ६।६२।३ में 'अरध्र' अश्विनों के पथ 'वर्ति' का विशेषण है। इस 'वर्ति' को गोमत् 'हिरण्यवत्' अश्वावत् एवं इरावत् आदि कहा गया है, अतएव अरध्र का अर्थ 'न कृपण' अपि तु 'समृद्ध, दानी' है। 'रध्रस्य चोदिता' का अर्थ है—जो कृपण को उदार बनने के लिए विवश कर देता है (तुलनीय ६।५३।३ ऋ०)। केवल 'रध्रस्य' का सम्बन्ध चोदिता से है। अन्य षष्ठ्यन्त—कृशस्य आदि—अविता से सम्बद्ध हैं। (तु० ८।८०।३, १०।२४।३)।

मैकदोनेल चोदिता के साथ, रध्र, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीर, को सम्बद्ध करते हैं।

कृश् + क्त, 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' (पा० ८।२।५५) निपातनात्।

२. ब्रह्मणः—बृहि (वृद्धि करना) + मनिन् (उणा० ४।१४६)। मन्त्र, सूक्त, प्रार्थना, स्तोत्र। मन् प्रत्ययान्त शब्दों में, नपुंसकलिंग होने पर, प्रत्यय में उदात्त स्वर होता है, अतः 'ब्रह्मणः' के 'म' में उदात्त है। म्योर के अनुसार

इसके अर्थ हैं—(१) सूक्त या प्रार्थना का रचयिता अथवा उच्चारण करने वाला, चिन्तक, ऋषि या कवि। (२) सामाजिक अनुष्ठान अथवा पूजा का विधायक, पुजारी या पुरोहित। (३) होतृ आदि ऋत्विजों से व्यतिरिक्त अनुष्ठान-कर्ता 'ब्रह्म' नामक पुरोहित, व्यवसाय से पुरोहित।

यदि 'ब्रह्मन्' यहाँ पुरोहित का वाचक होता तो पुंल्लिंग होता। नपुंसकलिंग होने से इसका अर्थ स्तोत्र, मन्त्र या प्रार्थना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

३. कीरेः—कृ + ईरिन्, षष्ठी ए० व०। सायण—स्तोता। पिशेल का अभिमत है कि ऋग्वेद के जिन सकल स्थलों मे 'कीरि' प्रयोजित हुआ है, उन्हें द्विधा विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग ऐसा है, जिसमें यह पद 'चित्' (अपि) के साथ प्रयुक्त किया गया है। इससे यह ज्ञापित होता है कि कीरि का अर्थ कोई ऐसी वस्तु है जो स्वतः प्रसन्नतादायी अथवा अनुकूल नही है। यदि ऐसे समस्त सन्दर्भों एवं 'कीरिचोदन' की तुलना करें तो विश्वस्त रूप से 'कीरि' का अर्थ 'लघु, निकृष्ट, निर्धन' सुनिश्चित हो जाता है। ऋ० १।३१।११ में 'रातहव्य' (आहुति देने वाला), ऋ० ८।१०३।१३ में 'रातहव्यः स्वध्वरः', तथा १०।४१।१२ मे कीरि, कीरियज्ञ और होतृमत् यज्ञ—होता से युक्त यज्ञ के परस्पर विसदृश प्रयोग उपलब्ध होते हैं। ऋ० १।१००।९ का कीरिणा पद ऋ० ६।४५।२ के 'अनाशुभा अर्वता' का समानार्थक है 'यस्त्वा हृदा कीरिणा' (दयालु या विनम्र हृदय के साथ) एवं मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि—ऋ० ५।४।१०—भी तुलनीय हैं। इस प्रकार 'कीरि' एवं 'रध्र' पद समानार्थक हैं। पिशेल का यह अर्थ विद्वानो को मान्य नहीं है। मैकडोनेल इसका अर्थ 'मन्त्रों' का गायक करते हैं।

४. सुशिप्रः—सायण—अच्छी ठोड़ी या सुन्दर सिर वाला। यास्क—उत्तम ठोडी या नासिका वाला। यास्क इसे सृप् गतौ से निष्पन्न करते हैं (निरु० ६।१७) सृप् + रक्, बाहुलक सृ को शिभाव। मैकडोनेल के अनुसार इसका अर्थ है सुन्दर होठ वाला। उनका कथन है कि इस ब० व्री० पद का अर्थ सन्दिग्ध है, पर शिप्र नियमित रूप से द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसका एक विशेषण 'हरि' (हरित) भी है—हरिशिप्र तथा हरिश्मश्रारु (हरी मूँछों या दाढ़ी वाला) परस्पर समान हैं। हरिशिप्र का सम्बन्ध सोम-पान से है, अतएव

इसका अर्थ होंठ या मूँछ ही सम्भव है, ठोड़ी या जबड़ा कदापि नहीं। गेल्डनर ने इसका अर्थ सुन्दर होंठ वाला किया है। शिप्रिन्, शिप्रवत्, शिप्रिणीवत्, सभी समानार्थक हैं। तुलनीय :

यः शिप्रवान् वृषभो यो मतीनाम्, ऋ० ६।१७।२

(तु० गेल्डनर, ऋग्वेद उबेरस्तज्त, २, पृ० ११३)। सुशिप्र के लिए देखिए-ऋ० ३।३२।३; ३।५०।२; ८।१७।४; ८।३३।७— इन मन्त्रों में सोमपान के साथ सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के मत से 'शिप्र' का अर्थ 'कपोल' मानना अधिक युक्तिसंगत है। खोंदा इस स्थान पर शिप्र का अर्थ 'होंठ' करते हैं (ऋ० इ०, पृ० ५४) ॥ ३ ॥

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒
यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः ।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॒ ज॒जान॒
यो अ॒पां ने॒ता स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

पदपाठः

यस्य॑। अश्वा॑सः। प्र॒ऽदिशि॑। यस्य॑। गावः॑। यस्य॑। ग्रामाः॑। यस्य॑। विश्वे॑। रथा॑सः। यः। सूर्य॑म्। यः। उ॒षस॑म्। ज॒जान॑। यः अ॒पाम् ने॒ता। सः। ज॒ना॒सः। इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम् ७

यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासनेऽश्वासोऽश्वा वर्तन्ते। यस्यानुशासने गावः। यस्यानुशासने ग्रामाः। ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्याज्ञायां विश्वे सर्वे रथासो रथा वर्तन्ते। यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास यश्चोषसम्। तथा मन्त्रः—"जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः" (ऋ०३।३२।८) इति। यश्च मेघभेदनद्वारापां नेता प्रेरकः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसके शासन में घोडे, (जिसके शासन में) गायें, (जिसके शासन में) गाँव तथा (जिसके शासन में) सब रथ हैं। जिसने सूर्य, (और जिसने) उषा को उत्पन्न किया है, (एवं) जो जलों को बहाने वाला है, लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

आर्नाल्ड का कथन है कि छन्द की दृष्टि से 'उषसम्' को 'उषासम्' पढना चाहिए (वै० मी०, पृ० २९; ३४; ९७०, २ अ, पृ० १३०) ॥ ७ ॥

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः ।

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

पदपाठः

यम् । क्रन्दसी इति । संयती इति सम्ऽयती । विह्वयेते इति विऽह्वयेते । परे । अवरे । उभयाः । अमित्राः । समानम् । चित् । रथम् । आतस्थिऽवांसा । नाना । हवेते इति । सः । जनासः । इन्द्र. ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे—मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयति परस्परं संगच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टा अवरेऽधमाश्च। उभया उभयविधा अमित्राः शत्रवो यमाह्वयन्ति। समानमिन्द्ररथसदृशं रथमातस्थिवासा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते। यद् वा। समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नि हवेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाहूयेते। तयोरन्यतरः स इन्द्रो नाहमिति ॥

हिन्दीभाषान्तर

युद्ध में लड़ती हुई और सिंहनाद करती हुई दो सेनाएँ जिसे (इन्द्र को) विविध प्रकार से पुकारती हैं। इधर तथा उधर के दोनों ही शत्रु (जिसे पुकारते हैं) और समान रथ में आरूढ़ (दो रथी) (जिसे) पृथक्-पृथक् पुकारते हैं, लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. समानं चिद्रथमातस्थिवांसा—सायण ने द्विधा अर्थ प्रस्तुत किया है—(१) इन्द्ररथ के सदृश रथ पर आरूढ़ दो वीर। (२) एक रथ पर चढे हुए इन्द्र और अग्नि। वेंकटमाधव इन्द्ररथ पर आरूढ़ युद्धेच्छु दो नरेश। मैकडॉनेल—एक ही रथ पर आरूढ योद्धा एवं सारथि। आतस्थिवांसा—आ + स्था + क्वसु, पुंल्लिंग, प्रथमा द्विवचन।

२. नाना हवेते—सायण ने इसे 'इन्द्राग्नी' के पक्ष में स्वीकारा है। इन्द्र और अग्नि को यजमान पृथक्-पृथक् आवाहित करते हैं॥ ८॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव।
यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥ ९॥

पदपाठः

यस्मात्। न। ऋते। विऽजयन्ते। जनासः। यम्। युध्यमानाः। अवसे। हवन्ते। यः। विश्वस्य। प्रतिऽमानम्। बभूव। यः। अच्युतऽच्युत्। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ९॥

सायणभाष्यम् ९

यस्मादृते जनासो जना न विजयन्ते विजय न प्राप्नुवन्ति। अतो युध्यमानं युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यमिन्द्रं हवन्त आह्वयन्ति। यश्च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं प्रतिनिधिर्बभूव। यश्चाच्युतच्युद् अच्युताना क्षयरहिताना पर्वतादीनां च्यावयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसके बिना लोग विजय नहीं पाते हैं, युद्ध करते हुए (लोग) जिसे सहायता के लिए पुकारते हैं, जो विश्व का प्रतिरूप है, (और) जो अचलों को भी चल बना देता है, लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. नऋते—छन्द की दृष्टि से इसका उच्चारण 'नर्ते' होगा (पीटर्सन, भा० २, पृ० १२३; मैकदोनेल, वै० री, पृ० ५२; वै० ग्रा० स्टू०, १९ अनु०)। ह्विटनी के अनुसार ऋग्वेद में अ, आ के उत्तर ऋ को अविकल रक्खा जाता है तथा यदि ऋ के पूर्व 'आ' आता है तो उसे ह्रस्व कर दिया जाता है—यथा महा + ऋषिः महऋषिः (अनु० १२७; मैकदोनेल, वै० ग्रा० स्टू०; अनु० १९ अ)।

२. प्रतिमानम्—प्रति + माङ् (माने) + ल्युट् (पा० ३।३।११७)। सायण—प्रतिनिधि। मैकदोनेल—समर्थ; तुलनीय—न हि नु अस्य प्रतिमानमस्ति अन्तर्जातेषु उत ये जनित्वाः—ऋ० ४।१८।४, जो उत्पन्न हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे, उनमें उसके लिए कोई समर्थ नहीं है। वस्तुतः यहाँ भी प्रतिमान का अर्थ प्रतिरूप, प्रतिमूर्ति ही होगा—जो उत्पन्न०, उनमें उसका कोई प्रतिरूप नहीं है। तुलनीय—इन्द्रः दिवः प्रतिमानं पृथिव्याः—ऋ० २।१२।९; सतः सतः प्रतिमानं (इन्द्रः) ३।३१।८; दे० १।३२।७।

३. अच्युतच्युत्—सायण—क्षयहीन पर्वत आदि को चला देने वाला वाकरनॉगल ने अच्युत का अर्थ अविनश्वर किया है, तदनुसार अर्थ होगा—'अविनश्वरों को भी नष्ट करने वाला' (उद्धृत, ऋ० २०, पा० टि० ६१, पृ० १९९)। मैकदोनेल—अचरों को चर बनाने वाला—तुलनीय—त्वं च्यावयन्नच्युतानि … चरसि (ऋ० ३।३०।४) तुम स्थिरों को हिलाते हुए विद्यमान हो ॥ ९ ॥

यः शश्वतो मह्येनो दधाना
नमन्यमानाञ्छर्वा जघान
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां
योदस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

पदपाठः

यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्। शर्वा। जघान। यः। शर्धते। न। अनुऽददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १० ॥

सायणभाष्यम् १०

यो महि महदेनः पापं दधानान् शश्वतो बहूनमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा। शृणाति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः। तेनायुधेन जघान। हन्तेर्लिटि रूपम्। यश्च शर्धत उत्साहं कुर्वतेऽनात्मज्ञाय जाय शृध्यामुत्साहनीय कर्म नानुददाति न प्रयच्छति। 'अनुपूर्वात् डुदाञ् दाने' जौहोत्यादिकः। 'अभ्यस्तनामादिः' (पा० ६।१।१८९) इति, 'तिङि चोदात्तवति' (पा० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः। यश्च दस्योरुपक्षपयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्ववत्॥

(इति द्वितीयाष्टके षष्ठाध्यायेऽष्टमो वर्गः)

हिन्दीभाषान्तर

जो महान् पाप धारण करने वाले बहुत से अपूजकों को वज्र से मार डालता है, जो दृप्त के दर्प को नही सहन करता, (तथा) जो असुर का वध करने वाला है! लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. अमन्यमानान्—सायण—अपने को न जानने वाले, अनात्मज्ञ अथवा इन्द्र की पूजा न करने वाले। वेंकटमाधव—इन्द्र को न मानने वाले। मैकदोनेल—इन्द्र उन्हें मार डालेगा, ऐसा विचार न करने वाले।

२. शर्वा—शरुणा। शृणाति अनेनेति शरुः, तृतीया, ए० व०। सायण—वज्र। मैकदोनेल—कीथ—ऋ० १।१००।१८, १७२।२, १८६।९; २।१२।१०; ४।३।७, २८।२: आदि तथा अ० वे० १।२।३, १९।२; ६।६५।२; १२।२।४७ में अस्त्र का, प्रायः, बाण का—यथा ऋ० १०।१२५।६, ८७।६ में—सम्भवतः कमी-कमार, भाला, बाण का द्योतक है।

छन्द की दृष्टि से शर्वा के स्थान पर 'शरुआ' पढ़ना चाहिए।

३. शर्धते—शृध्+क्त—दर्प दिखलाने वाला। सायण—उत्साही। वेंकट-माधव—बल का प्रदर्शन करने वाला। मैकदोनेल—अभिमानी, दृप्त, उद्दण्ड।

४. अनुददाति—सायण—नहीं देता, नहीं करने देता। मैकदोनेल—क्षमा करना (चतुर्थ्यन्त पदों के योग में)। पीटर्सन—स्वीकारना, सहमति दिखलाना, झुक जाना, क्षमा करना—तुलनीय : अनानुदो (न झुकने वाला) वृषभः (ऋ० २।२१।४, २३।११)।

५. दस्योः—सायण, उपक्षययिता, हिंसा करने वाला, दुःखदायी। वेंकटमाधव—असुर। मैकदोनेल—असुर। उनके अनुसार दस्यु एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग प्रायः असुरों के लिए किया जाता है: जैसे शम्बर के लिए। देखिए टिप्पणी दास पर, इसी सूक्त के मन्त्र ४ में ॥ १० ॥

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं
चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान
दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११ ॥

पदपाठः

यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। चत्वारिंश्याम्। शरदि। अनुऽअविन्दत्। ओजायमानम्। यः। अहिम्। जघान। दानुम्। शयानम्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ ११ ॥

सायणभाष्यम् ११

यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरेऽन्वविन्ददन्विष्यालभत्। लब्ध्वा च ओजायमानम्। कर्तुः क्यङ् सलोपश्च। (पा० ३।१।११) 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' [इतरेषां विभाषया] (पा० ३।१।११ वा०) इति सकारलोपः। बलमाचरन्तमहिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान् स इन्द्रो नाहमिति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसने पर्वतों में निवास करने वाले शम्बर को चालीसवीं शरद् में खोजकर प्राप्त किया। जिसने ओज का प्रदर्शन करने वाले (और) लेटे हुए दानु-पुत्र अहि को मार डाला, लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. शम्बरम्—सायण, वेंकटमाधव—शम्बर नामक असुर। रॉथ का अभिमत है कि जिन स्थलों में दिवोदास का नाम उपलब्ध होता है, वहीं देवों

के साहाय्य से उत्पीडक शम्बर से मुक्त होने का भी वर्णन दृष्टिगत होता है (ऋ० १।११२।१४; १।६१।२)। यह सत्य है कि अनुवर्ती युग में यह शत्रु-मात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है, विशेषतः इन्द्र-शत्रु वृत्र के रूप में; पर यह असम्भाव्य नहीं है कि यह सकल शत्रुओं में सर्वाधिक भयानक रिपु मेघों के असुर की प्राचीन स्मृतियों की प्रतिच्छाया हो। (लिट्रेचर एण्ड हिस्ट्री ऑफ वेद, पृ० ११६; म्योर पृ० ३८९)।

मैकदोनेल के अनुसार वृत्र, बल एवं शुष्ण को छोड़कर, शम्बर इन्द्र के शत्रुओं में बहुचर्चित असुर शत्रु है। शम्बर अपने पर्वत पर से इन्द्र को उत्तस करता है। यह प्रायः अनेक दुर्गों के स्वामी के रूप में चित्रित किया गया है। मैकदोनेल और कीथ के विचार में—शम्बर ऋग्वेद में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है—ऋ० १।५१।६, ५४।४;४।२६।३ आदि। इसका नाम शुष्ण, पिप्रु, वर्ची के साथ उल्लिखित हुआ है। ऋ० ६।२६।५ में यह कुलीतर के पुत्र दास के रूप में वर्णित किया गया है। ऋ० ७।१८।२० में शम्बर अपने को देव मानता हुआ दिखाया गया है। उसके, ऋ० १।१३०।७ में ९०, २।१९।६ में ९९ तथा २।१४।६ में १०० दुर्गों का अधिपति कहा गया है। ऋ० २।२४।२ में शम्बर पद शम्बरदुर्गों के लिए नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। ऋ० १।५१।६, १३०।७; २।१९।६, ४।२६।३ आदि में शम्बर के प्रमुख शत्रु, अतिथिग्व दिवोदास का उल्लेख है, जिसने उसे जीत लिया था।

हिलब्रान्त के विचार से शम्बर दिवोदास का शत्रु नरेश है, जो अनुवर्ती काल में असुर बन गया। कुछ विद्वान् इसे पर्वतनिवासी आदिवासी मानते हैं, जो आर्यों का शत्रु था। शम्बर यथार्थतः प्राणिविशेष था अथवा नहीं, इसके निमित्त, कुछ लोगों को, विनिश्चयात्मक प्रमाणों का अभाव भी दिखता है।

शम्बर, इन्द्र के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में २० बार अभिहित हुआ है। ऋग्वेद के उपर्युदित स्थलों में सर्वत्र कर्म अथवा सम्बन्ध कारक में यह प्रयोजित हुआ है। इस प्रकार के प्रयोगों से प्रतीत होता है कि मानो अभी-अभी देवता की शक्ति और न्याय का अपराधी दण्डित हुआ है। यह पद कहीं कर्त्ता कारक में नहीं उपलब्ध होता। इसके विरुद्ध भी दृष्टिगत नहीं होते। ऋ० ७।९९।५ में शम्बर के ९९ पुरों को 'दंहित' (दुर्गबद्ध)—कहा गया है।

दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च ।

इतना सब होने पर भी इन्द्र ने द्युलोक की सानु को प्रकम्पित कर उसे विनष्ट कर दिया। बृहत् पर्वत का निवासी शम्बर दस्यु एवं कौलीतर दास है।

निघण्टु (१।१०।१४) में शम्बर मेघ के अभिधान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी अनेकधा व्युत्पत्ति की जा सकती है।

(१) शम् (उपशमन करना) + बन् (उणा० ४।९४) शाम्यतीति शम्बरः—शान्त करने वाला।

(२) शम्बः (वज्र। शमयति असुरानिति शम्बः) अस्यास्ति, इति + रः, मत्वर्थीय। (शम्ब की दूसरी व्युत्पत्ति भी है शातयति असुरान्–शो तनूकरणे + बन्, पृषोदरादि से शमादेश = शम्ब)। (वज्र) के लिए देखिए ऋ० १०।४२।७।

(३) सम् + वृ + अप् 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (पा० ३।३।५८)—वर्णव्यत्यय से श। सम्व्रियतेऽनेनेति।

(४) शम्बर का निघण्टु (१।१२।८८) में उदक् नामों में पाठ है—शम्बरमस्यास्तीति। मत्वर्थीय य का लोप। निघण्टु २।९।२८ में इसे बलवाचक कहा गया है।

(५) चत्वारिंश्यां शरदि—प्रायः इसका अर्थ चालीसवें वर्ष अथवा चालीसवीं शरद् ऋतु किया जाता है। तिलक ने इसका अर्थ 'शरद् ऋतु' की चालीसवीं तिथि किया है (आर्कटिक होम इन वेद्)। शरद्–शॄ हिंसायाम् + अद् (उणा० १।१३०)।

(६) दानुम्—दानव या दानवी। यहाँ इसका प्रयोग दानु (दानवी) के पुत्र के अर्थ में हुआ है। तुलनीयः दानुः शये सहवत्सा न धेनुः (ऋ० १।३२।९)। (दानु गाय के समान अपने वत्स के साथ गिर पड़ी) ॥ ११ ॥

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्-
वासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्-
द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

पदपाठः

यः । सप्तऽरश्मिः । वृषभः । तुविष्मान् । अवऽअसृजत् । सर्तवे । सप्त । सिन्धून् । यः । रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्रऽबाहुः । द्याम् । आऽरोहन्तम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम् १२

यः सप्तरश्मिः सप्तसङ्ख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य । ते च रश्मयो "वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्च—इत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिः" (तै० आ० १।९।४-५) इति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः । वृषभो वर्षकस्तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् या सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणायावासृजद् अवसृष्टवान् । यद्वा । गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत् । यश्च वज्रबाहुः सन् द्या दिवमारोहन्तं रौहिणमस्फुरज्जघान । 'स्फुर' स्फुरणे तुदादिः ॥

हिन्दीभाषान्तर

सात रज्जुओं से निबद्ध जिस बलवान् वृषभ ने सात धाराओं को बहने के लिए मुक्त कर दिया, जिस वज्रपाणि ने द्युलोक पर आरोहण करते हुए रोहिण-सुत (=राहु ?) को मार डाला, लोगो ! वह इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ

१. वाङ्मय, मनोमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, प्राणमय, असुमय, अन्नमय । दे०, १२ वें मन्त्र के लिए—जै० उ० ब्रा० १।९।१-२ ।

२. सप्तरश्मिः—सायण—सात रश्मियों वाला । तै० आ० में सात पर्जन्य कहे गये हैं—वराहु, स्वतपस, विद्युत् , महस् , धूपि, श्वापि तथा गृहमेधस् । मैकदोनेल के अनुसार इसका अर्थ है, सात नाथों वाला । उनके मत में इसका सम्भाव्य अर्थ—दुर्धर्ष, दुर्घट, अप्रतिहत, अव्याहत—हैं । पीटर्सन—उन सात रज्जुओं से युक्त, जो उसे नेतृत्व प्रदान करती हैं । प्रकाशित करती हैं ।

रश्मिः—अश् व्याप्तौ + मिः—धातु को रश् (उणा० ४।४६) । रश्मि का अर्थ किरण एवं रज्जु—दोनों हैं ।

३. वृषभः—ऋषी गतौ + अभच्, वृषु सेचने + अभच् (उणा० ३।१२३)। सायण, वेंकटमाधव—वर्षक। मैकदोनेल के अनुसार इसका अर्थ बैल है। यह पद देवताओं के लिए, विशेषतः इन्द्र के लिए, अनेक बार प्रयोजित हुआ है। यह महती शक्ति, उर्वरता, अमोघवीर्यता का निर्देशक है। १।१५।४।३—में वृष्णे पर टिप्पणी देखिए।

४. तुविष्मान्- तुविष् + मतुप्—तु (वृध्यर्थक) + इः (उणा० ४।१३८)। सायण—वृद्धिमान्। वेंकटमाधव–बलवान्। तुवि शब्द का अर्थ है शक्तिशाली। निघण्टु (३।१।२) में तुवि का बहु-नामो में पाठ है। मैकदोनेल के अनुसार 'तु' धातु का अर्थ शक्तिशाली, बलवन्, समर्थ होना है (वै० री० पृ० २३४)। इस शब्द का प्रयोग प्रायः समास-पदो में होता है—तुविबाध्र, तुविजात, तुविद्युम्न, तुविमन्यु, तुविप्रति आदि—मैकदोनेल का कथन है कि मान्त प्रत्यय को मात्र अजन्त प्रकृति के उत्तर पर रहते ही अवगृहीत किया जाता है। यथा, गोऽमान्।

५. सर्तवे—सृ (गतौ) तुमर्थ में + तवेन्। नित्व होने से आद्युदात्त।

६. रौहिणम्—सायण—असुर। हिलब्रान्त ने इसे रोहिणी नक्षत्र का अभिधान माना है। निघण्टु (१।१०।१५) इसे मेघनामों मे परिगणित करता है। ऋ० १।१०३।२—अहन्नहिमभिनद् रौहिणम्, अ० वे०—त्वं रौहिणं व्यास्यो—मे रौहिण का उल्लेख उपलब्ध होता है। मैकदोनेल इसे 'रोहिणी' का पुत्र मानते हैं (वै० री०, पृ० २४६)।

पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय इसे रोहिण-सुत राहु का आदि रूप मानने के पक्ष में हैं। इसकी अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं—

(१) रुह् + घञ् (पा० ३।३।१८) = रोहः, आरोहण। रोह + इनि (पा० ५।२।११५) रोहि, अन्तरिक्ष–तत्र भवः–रोहि + अण् (पा० ४।३।५३)।

(२) रुह् + इनच्–रोहिणः, इन्द्र, तस्य–रोहिण + अ (पा० ४।३।१२०)।

(३) रुह् + इनच् (उणा० २।५५)—रोहति बीजेन जायते प्रादुर्भवति वा।

(४) अस्फुरत्–सायण–मार डाला। स्फुर् + लङ्, प्र०पु०,ए०व० ॥१२॥

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते
शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्
यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ १३ ॥

पदपाठः

द्यावा । चित् । अस्मै । पृथिवी इति । नमेते इति । शुष्मात् । चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते । यः । सोमऽपाः । निऽचितः । वज्रऽबाहुः । यः । वज्रऽहस्तः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १३ ॥

सायणभाष्यम् १३

अस्मै इन्द्राय द्यावापृथिवी । इतरेतरापेक्षया द्विवचनं "प्र मित्रयोर्वरुणयोः" (ऋ०७।६६।१) इतिवत् । नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः । 'णमु प्रह्वत्वे' । कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (पा० ३।१।८९) इति यकः प्रतिषेधः । चिद् अपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलात् पर्वता भयन्ते बिभ्यति । यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः । यद्वा । अन्येभ्योऽपि [देवेभ्यो] दृढाङ्गः । वज्रबाहुर्वज्रसदृश-बाहुः । यश्च वज्रहस्तो वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

इसके प्रति द्युलोक तथा पृथिवीलोक झुक जाते हैं, इसके दम से पर्वत भी डरते हैं, जो वज्रसमान बाहुवाला सोमपायी प्रसिद्ध है (तथा) जो वज्रपाणि है, लोगो ! वह इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ

१. द्यावा...पृथिवी—देवतावाचक दो पदों के द्वन्द्व समास के पदों के मध्य में प्रायः अन्य पदों का व्यवधान भी रहता है । इस प्रकार के समासों में पदों का अपना स्वर सुरक्षित रहता है; अतएव इनमें दो उदात्त स्वरयुक्त वर्ण रहते हैं । सायण के विचार में यहाँ द्यावा एवं पृथिवी—दोनों पद

सापेक्ष हैं। यथा, 'प्रमित्रयोर्वरुणयोः' (ऋ० ७।६६।१) में, अतएव दोनों द्विवचनान्त हैं ॥ १३ ॥

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं
यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो
यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥

पदपाठः

यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः। पचन्तम्। यः। शंसन्तम्। यः। शशमानम्। ऊती। यस्य। ब्रह्म। वर्धनम्। यस्य। सोमः। यस्य। इदम्। राधः। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १४ ॥

सायणभाष्यम् १४

यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वंतं यजमानमवति रक्षति। यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यश्च ऊती ऊतये। 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। स्वरक्षार्थं शस्त्राणि शंसन्तं यश्च शशमानमवति स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति। ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति। तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति। यस्य चेदमस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति। स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो सोम निचोड़ते हुए (यजमान) को, जो पकाते हुए (यजमान) को, जो शस्त्र उच्चारण करते हुए (यजमान) को (तथा) जो स्तोत्र पाठ करते हुए (यजमान) को सहायता के द्वारा बचाता है। मन्त्र जिसकी वृद्धि करता है, (सोम जिसकी वृद्धि करता है) (और) वह धन जिसकी (वृद्धि करता है), लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणियाँ

१. शंसन्तम्—शस + शतृ, द्वि०, ए० व० । सायण—शस्त्रपाठ करते हुए। मैकदोनेल—देवताओं की प्रशंसा करने वाला। पीटर्सन—गायक, स्तोता। शस्त्रपाठ में मन्त्रो का गान नहीं किया जाता। मन्त्रों का इसमें बिना रुके हुए पाठ करना पड़ता है। इन मन्त्रों में देवता के गुण का कथन रहता है। तुलनीयः अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्।

२. शशमानम्—शश् या शम् = शानच्, द्वि०, ए० व०। सायण—स्तोत्रगान करने वाला। 'प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्'। मैकदोनेल—यज्ञनिष्पादक। शम् धातु का मूल अर्थ—कार्य करना, श्रम करना, कर्मठ होना था। अनुवर्ती अर्थ-श्रान्त होना, विश्राम करना—इसी के विकसित रूप हैं। तुलनीय—ग्रीक, कमूनो, के अर्थ का विकास। इतर अर्थों के साथ—देवताओं की सेवा में रत रहना, श्रद्धालु हो प्रार्थना करना—अर्थ का निर्देशक है (पीटर्सन, भा० १, पृ० १२६)। निघण्टु (६।८) में 'प्रशंसा करते हुए' अर्थ किया गया है एवं ३।१४।२२ में अर्चा करते हुए।

३. राधः—राध् (सिद्ध करना, प्रसन्न करना) से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। सायण—पुरोडाशादि अन्न। मैकदोनेल—उपहार। तुलनीय: अवेस्ता, रादस; दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु—ऋ० २।२२।३, तव राधः सोमपीथाय हर्षते-२।२१।७, मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे-१।८१।८ आदि ॥ १४ ॥

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्
वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः
सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ १५ ॥

पदपाठः

यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्। वाजम्। दर्दर्षि। सः। किल। असि। सत्यः। वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः। सुवीरासः। विदथम्। आ। वदेम ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम् १५

इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यो दुध्रो दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजमन्नं बलं वा दर्दर्षि भृशं प्रापयसि स तादृशस्त्वं सत्यो यथार्थभूतोऽसि। न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किलेति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेष्वहःसु विदथं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम्॥ (इति नवमो वर्गः)।

[इदं सूक्तमथर्ववेदसंहितायां शस्त्रकाण्डनाम्नि विंशे काण्डे चतुस्त्रिंशत्तमम्। तत्र पाठभेदोऽपि दृश्यते।]

हिन्दीभाषान्तर

जो दुर्धर (देव) तुम सोम निचोड़ते हुए तथा पकाते हुए भी (यजमान) को बलपूर्वक लाकर प्रदान करते हो, वह तुम निश्चय ही यथार्थ हो। हे इन्द्र! हमलोग तुम्हारे प्रिय एवं शोभन पुत्रों से युक्त होकर प्रतिदिन स्तुति करें।

टिप्पणियाँ

१. वाजम्—सायण—अन्न, बल। निघण्टु (२।७।२) में अन्न तथा (२।९।१) बल नामों में परिगणित है। मैकदोनेल—लूट का माल।

मैक्समूलर वाज शब्द को वेजेओ, विजेओ, विजिल एवं वाकर से सम्बद्ध करते हैं। उनके विचार में यह वेद के उन कठिन पदों में से है, जिनके साधारण अर्थ की आकल्पना तो सम्भाव्य है, पर सर्वत्र निश्चित अर्थ का ज्ञान होना अशक्य है।

सेण्टपीटर्सवर्गकोष में—तीव्रता, दौड़, दौड़ का विजयधन, लाभ, निधि, घुड़दौड का घोड़ा आदि अर्थ दिये गये हैं। यद्यपि इन समग्र अर्थों के मूल का अन्वेषण अशक्य है; तथापि बल, कलह, संघर्ष, दौड़ आदि अर्थ सम्भव हैं। इस प्रकार दौड़ या समर में विजित पदार्थ आदि अधिक व्यापक अर्थों की प्राप्ति हो सकती है (इण्डिया ह्वॉट कैन इट टीच अस, पृ० १६४)। 'वाज' में आदि स्वर उदात्त होता है—'वृषादीनां च' (पा० ६।१।२०३)।

२. आदर्दर्षि—भृशं विदार्य आनयसि इति दर्दर्षि। आ + दृ + यङ् + लट्, म० पु०, ए० व०। सायण—प्रचुर रूप में प्राप्त कराते हो। मैकडोनेल—छीन कर देते हो।

३. विदथम्—ओल्डेनबर्ग इसकी निष्पत्ति वि + धा से करते हैं। वि + धा का अर्थ 'विभाजन करना, बाँटना, प्रबन्ध करना, विधान करना' है, अतएव इस पद का अर्थ 'विभाजन, प्रबन्ध, नियम, विधान' हुआ। 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः' जैसे सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि इसका अर्थ 'किसी कार्य को पूर्ण करना' है। इस प्रकार 'विदथ्य' एवं 'सभेय' जैसे पद विदथ और सभा को समान अर्थ-स्तर पर प्रस्तुत करते हैं।

मैकदोनेल के अनुसार यह पद 'विध्'—पूजा से व्युत्पन्न हुआ है।

नि० ६।७ में इसे 'विद्' जानना से निष्पन्न किया गया है। विदथ की तुलना गॉथिक शब्द 'द्रुइदिस्' से की जा सकती है। इसका मूल भारोपीय शब्द 'द्रुइद' है।

देखिए विदथ के लिए इस संग्रह के प्रथम सूक्त के मन्त्र ७ की टिप्पणी।

४. यः सुन्वते—यह अन्तिम मन्त्र 'जनास इन्द्रः' से नहीं समाप्त किया गया है। मन्त्र के अन्त में आहित 'बृहद् वदेम सुवीराः' गृत्समद का अत्यन्त प्रिय वाक्य है, जो उनके प्रत्येक सूक्त के अन्त में आता है॥ १९॥



प्रजापतिसूक्तम्

१० म०　　　　　　　　　　　　　　　　　　　१२१ सू०

दशममण्डल एकविंशत्यधिकशततमं (दशमेऽनुवाके नवमं) सूक्तम्।

(अष्टमाष्टके सप्तमाध्याये तृतीयचतुर्थवर्गौ)

प्रजापतिपुत्रो हिरण्यगर्भ ऋषिः। कशब्दाभिधेयः प्रजापतिर्देवता। त्रिष्टुप् छन्द।

सायणः—

हिरण्यगर्भ इति दशर्चं नवमं सूक्तं प्रजापतिपुत्रस्य हिरण्यगर्भाख्यमार्षं त्रैष्टुभम्। कशब्दाभिधेयः प्रजापतिर्देवता तथा चानुक्रान्तम्। "हिरण्यगर्भो दश हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः कायम्" इति। गतः सूक्तविनियोगः। प्राजापत्यस्य पशोर्वपापुरोडाशहविषां क्रमेणादितस्तिस्रोऽनुवाक्यास्ततस्तिस्रो याज्याः। सूत्रितं च—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति षट् प्राजापत्या" इति (आश्व० श्रौ० ३।८)। वरुणप्रवासेषु कायस्य हविषो हिरण्यगर्भ इत्येषा याज्या। सूत्रितं च। "कया-नश्चित्र आ भुवद्धिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति प्रतिप्रस्थाता वाजिने तृतीयः" (आश्व० श्रौ० २।१७) इति॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

पदपाठः

हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥ १॥

सायणभाष्यम् १

हिरण्यगर्भः। हिरण्यमयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। तथा चात्र तैत्तिरीयकम्—"प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय" (तै० सं० ५।५।१।२) इति। यद्वा—हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रामा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत। मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत। यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भस्तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीना ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते। स जातो जातमात्र एव एकोऽद्वितीयः सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिरीश्वर आसीत्। न केवलं पतिरासीदेव, अपि तर्हि स हिरण्यगर्भः पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवमुतापि च इमामस्माभिर्दृश्यमाना पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम्। यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम। अन्तरिक्षं दिवं भूमिञ्च दाधार धारयति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति सर्वकालिको लिट्। तुजादित्वादभ्यासदीर्घः (पा० ६।१।७)।

कस्मै अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः कमेर्डप्रत्ययः। यद्वा कं सुखम् तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदिदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्' (ऐ० ब्रा० ३।२१) इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम्। यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। 'सावेकाचः' (पा० ६।१।१६८) इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्साववर्ण...' (पा० ६।१।१८२) इति प्रतिषेधः। 'क्रिया ग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापति देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। विधतिः परिचरणकर्मा ॥[1]

---

१. (शु० य० सं० १३।४, २३।१, २५।१०)—...हिरण्यगर्भो यो हिरण्यगर्भाख्यः पुरुषः। समवर्तताग्रे समभवदग्रे प्रथम शरीरी। यश्च भूतस्योत्पन्नस्य प्राणिजातस्य जातो जातमात्र एव सन् पतिरीश्वर एक एवासीदभूत्। स दाधार। तदः स्थाने यदो वृत्तिरर्थसम्भवात्। यश्च दाधार धारयति।

हिन्दीभाषान्तर

हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही वह प्राणियों का अद्वितीय स्वामी हो गया, (एवं) उसने इस पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हवि से विधान करें ।

टिप्पणियाँ

१. हिरण्यगर्भ—सायण—(१) सौवर्ण अण्डे का गर्भ बना हुआ प्रजापति । (२) जिसकी कुक्षि में सौवर्ण अण्डा गर्भ के समान स्थित है, वह सूत्रात्मा प्रजापति । (३) ब्रह्माण्डरूप हिरण्य में गर्भरूप से स्थित प्रजापति (हिरण्ये ब्रह्माण्डरूपे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिः, तै० सं० ४।१।८।३) ।

उव्वट—हिरण्यगर्भ अभिधानवाला पुरुष प्रजापति ।

महीधर—हिरण्यपुरुष के रूप में विद्यमान ब्रह्माण्ड में गर्भरूप से विराजमान प्रजापति । पीटर्सन के अनुसार हिरण्यगर्भ का अर्थ 'सुवर्णबीज' है ।

वालेस के विचार से हिरण्यगर्भ से सुवर्णबीज एवं कनकप्रभ प्रकाश की योनि से सूर्य का ज्ञापन होता है । इस सूक्त में सूर्य को ब्रह्माण्ड की उदात्त एवं महती शक्ति में उपन्यस्त किया गया है । सूर्य से ही समस्त देव एवं मानुष रूप का उद्भव होता है । (कॉस्मोलॉजी ऑफ दि वेद, पृ० ५०,

---

पृथिवीमन्तरिक्षमप्युच्यते । पृथिवी भूः स्वयम्भूरित्यादेरन्तरिक्षनामसु पठितत्वात् । द्यां द्युलोकं च । उतापीमां पृथिवीम् । तस्मै कस्मै काय इति प्राप्ते 'स्मै'-आदेशश्छान्दसः । प्रजापतये देवाय हविषा विधेम हविर्दद्म इति विभक्तिव्यत्ययः ।—(उव्वटः) ॥

'''हिरण्ये हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः । भूतस्य प्राणिजातस्याग्रे समवर्तत प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा स्वयं शरीरधारी बभूव । स च जात उत्पन्नमात्र एक एवोत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः पतिरीश्वरः आसीत् । स एव पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकमुतापि चेमां भूमिं लोकत्रयं दाधार धारयति । 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः । पृथिवी भूः स्वयम्भुरित्यन्तरिक्षनामसु पठितत्वात् पृथिवीशब्देनान्तरिक्षलोकोऽत्रोच्यते । कस्मै काय प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः । विभक्तिव्यत्ययः ।—(महीधरः) ॥

ग्रिफिथ, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद में उद्धृत)। इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि हिरण्य का सूर्य से घना सम्बन्ध है। प्रधानतया वह सौवर्ण देवता है (खोदा, ऋ० इ०; पृ० १४१) हिरण्याक्ष, हिरण्यपाणि, हिरण्यजिह्व, हिरण्यकेश, हिरण्यहस्त आदि सूर्य के विशेषण उपर्युदित कथ्य की सिद्धि करते हैं। सूर्य के वस्त्र भी सुनहरे हैं (ऋ० ४।५३।२)। सौवर्ण रथ पर वह आरूढ कहा गया है [सूर्य के रूपवर्णन के लिए देखिए—डी० पी० पाण्डेय, सूर्य, शोध-प्रबन्ध, लॉइडेन, १९३९]। जीवनदायी सूर्य की अर्चा विश्व में सार्वभौम है। (एम्० आर० काक्स, ऐन इण्ट्रोडक्शन टू फॉकलोर, पृ० २०) अतएव इस प्रकार के औद्धौम (ब्रह्माण्डीय) अण्डे का वर्णन फ़िनीसी, बाबुली तथा ईरानी विश्वासों में भी उपलब्ध होता है (कासटेंली, दि फ़िलासफी ऑफ़ मज़्दीनियन रिलीजन अण्डर दि ससानिड्स, पृ० १०७)। सूर्य की महनीयता निर्विवाद है, तुलनीय, 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (ऋ० १।११५।१) एकः सूर्यो विश्व-मनुप्रभूतः (ऋ० ८।५८।२)। सूर्य के व्यापक रूप विष्णु के परम पद को सूरि द्युलोक में आतत नयन के समान सदैव दर्शन करता है (ऋ० १।२२।२०)। सूर्य वस्तुतः प्रजापति है; उसके अनेक रूप हैं, सविता, विष्णु, भग, वरुण, पूषा, मित्र, अर्यमा, दक्ष, अंश (२।२७।१)। मूलतः, पूर्वकथित सूर्य के समस्त रूप वैदिक जातियों के सूर्यदेवता हैं, जिनका समीकरण ऋग्वेदीय परम्परा में हुआ है (ग्रिसवोल्ड, दि रिलीजन ऑफ़ दि ऋग्वेद, पृ० २७०)। इस प्रसङ्ग में मार्तण्ड पदाभिधेय सूर्य (ऋ० २।३८।८, १०।७२।८-९, श० ब्रा० ३।१।३।३ आदि) तथा हिरण्याण्ड का साम्य भी उपेक्षणीय नहीं है। विद्वानों का अभिमत है कि आग्नेय जाति में भी एवंविध सौवर्ण अण्डे से सृष्टि-रचना की गाथा उपलब्ध होती है। सम्भवतः सांस्कृतिक मानों में आर्य या आग्नेय अनुकार का वशंवद है। अनुवर्ती भारतीय साहित्य में यह सृष्टि-कथा अनेकधा अभिहित है।

२. अग्रे—सायण—नामरूपात्मक जागतिक प्रपञ्च के उद्भव के पूर्व। महीधर अग्रे का अन्वय भूतस्य के साथ कर अर्थ उपन्यस्त करते हैं—'प्राणि-

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य० सं० १३।४, २३।१, २५।१०; अ० वे० ४।२।७; तै० सं० ४।१।८।३, २।८।२; का० य० १४।४; २५।१, २७।२४ में भी उपलब्ध है।

समुदाय की उत्पत्ति के पहिले'। पीटर्सन—प्रारम्भ, सृष्टि की प्राथमिक स्थिति में। आदित्य शब्द का अर्थ 'आदिदेवता' है (मॉरिस ब्लूमफील्ड, दि रिलीजन ऑफ् वेद, पृ० १३०-१३१), अतएव 'अग्रे' का अर्थ सर्वप्रथम, प्रारम्भ में करना युक्तिसंगत है।

३. समवर्तत—सम् + वृत् + लङ्, प्र० पु०, ए० व०। सायण—उत्पन्न हुआ (माया के अध्यक्ष सृष्टि-काम परमात्मा से)। उव्वट—हुआ—सर्वप्रथम शरीर धारण किया। महीधर—स्वयं शरीरधारी हुआ। पीटर्सन—सत्ता में आया, उत्पन्न हुआ। मैकदोनेल ने 'वृत्' धातु का अर्थ आन्दोलित होना, दोलायित होना, लुढ़कना आदि किया है—'नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्ति'—ऋ० १०।३४।९, देखिए १।८५।९; १०।१३५।४ ऋ० १०।९०।१४–शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत—में विकसित होना, विस्तृत होना, होना स्वीकारा गया है। जल में हिरण्मय अण्डा आन्दोलित अथवा दोलायित था। इधर उधर लुढ़क रहा था। सत्ता में स्थित था, विद्यमान था। विद्यमान होने एवं सत्ता में आने में परस्पर वैसादृश्य नहीं है। विद् धातु का अर्थ सत्ता में आना भी है। एतदर्थ उत्पन्न हुआ, सत्ता में आया आदि अर्थ करना समुचित है।

४. पृथिवीं द्यामुतेमाम्—सायण—(१) विस्तीर्ण द्युलोक और इस पृथ्वी को, (२) अन्तरिक्ष, द्युलोक और भूमि को—इस अर्थ में सायण पृथिवी से अन्तरिक्ष, तथा 'इमाम्' से पृथ्वी का ग्रहण करते हैं। निघण्टु (१।३।९) में पृथिवी का परिगणन अन्तरिक्ष-वाचक पदों में किया गया है। पीटर्सन—पृथिवी तथा आकाश को।

५. कस्मै—सायण के अनुसार इसके अनेक व्याख्यान सम्भव हैं—(१) किम् शब्द का प्रयोग अनिर्ज्ञात स्वरूप होने से प्रजापति के लिए हुआ है। (२) सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः (सृष्टि के लिए कामना 'करने वाला क' है–कम् (इच्छायाम्) + ड. = कः। (३) कं सुखं तद्रूपत्वात् कः—'क' सुख को कहते हैं, सुखस्वरूप होने से प्रजापति 'क' है। निघण्टु (३।६।२०) में 'कम्' का सुख नामों में पाठ है। हरदत्त ने सुखवाचक 'कम्' को अव्यय स्वीकारा है। (उद्धृत, देवराज यज्वा, निघण्टु, ३।६।२०)। (४) ऐ० ब्रा० (३।२१) के अनुसार प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि मैं अपनी महत्ता देकर

'कौन' बनूँगा, इन्द्र ने उत्तर दिया कि तुम जो यह कह रहे हो कि मै 'कौन' होऊँगा (कः स्याम्) अतएव 'क' बनो। इस प्रकार 'क' नाम से प्रजापति प्रसिद्ध हुआ। किम् शब्द सर्वनाम है अतएव 'स्मै' चतुर्थी में हुआ है। अन्य व्याख्यानो में 'स्मै' व्यत्यय से स्वीकारा गया है।

आधुनिक विद्वान् 'किम्' को प्रश्नवाचक सर्वनाम मानते हैं। प्रजापति अर्थ अभिप्रेत होने पर कस्मै के स्थान पर 'काय' का ही प्रयोग किया जाता। ऋग्वेदीय धर्म बहु देवतावादी है। प्राकृत युग मे किसी एक सत्ता की आकल्पना सम्भव ही नही थी। प्रकृति के विस्मयावह व्यापारो को देख वैदिक मेधा में उत्कट विचिकित्सा का प्रादुर्भाव होता है। श्रोदर का अभिमत है कि ऋषि अदन्य लालसा एवं उत्कट अनुसन्धित्सा से उस ईश्वर का अन्वेषण करता है, जो जगत् एवं सृष्टि के प्रथम मूलतत्त्व के प्रारम्भ में विद्यमान रह कर सकल जीवन को आकारायित करता है, एवं समग्र प्रकृति में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। ऋषि देवता को उसकी प्रव्यंजना में कभी यहाँ, कभी वहाँ, कभी अन्यत्र बारम्बार देखता है तथा वह उसके सम्बन्ध मे सन्देह, अनुसन्धित्सा एवं लालसा से सदैव जिज्ञासा करता है। वह कौन देवता है जिसके लिए हम अपनी हवि प्रदान करें ? (इन्दियन्स लितरातुर उंद कुल्तूर, पृ० ८०)। इस परिसर में 'कस्मै' का अर्थ 'किसके लिए' समुचित एवं विवेकपूर्ण है (देखिए, मैक्समूलर, वैदिक हिम्स १, पृ० ११–१३; हॉपकिन्स, रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ० २८२, मैकदोनेल का लेख, भाण्डारकर कमेमोरेशन वॉल्यूम, पूना, १९१७, ब्लूमफील्ड, रिलीजन ऑफ दि वेद, पृ० २४०, लॉनमन, संस्कृत रीडर, पृ० ३९१, म्योर, संस्कृत टेक्सट्स, ४, १६–७)॥ १॥

[इस सूक्त के रचना-विधान एवं प्राचीन सूक्तो से अनुवर्तिता के लिए देखिए, लॉनमन, संस्कृत रीडर, पृ० ३९२।]

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व

उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

पदपाठः

यः । आत्मऽदाः । बलऽदाः । यस्य । विश्वे । उपऽआसते । प्रऽशिषम् । यस्य । देवाः । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

यः प्रजापतिः आत्मनां दाता । आत्मनो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते । यथाग्नेः सकाशाद् विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत् । यद्वा आत्मना शोधयिता । 'दैप् शोधने', 'आतो मनिन्' (पा० ३।२।७४) इति विच् । बलदाः बलस्य च दाता शोधयिता वा । यस्य च प्रशिषं प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिन उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा । 'शासु अनुशिष्टौ', 'शास इत्' (पा० ६।४।३४) इत्युपधाया इत्वम् । 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।२।६०) इति षत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा० ६।२।१३९) आसेरनुदात्तेत्त्वाल्ल-सार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । 'तिङि चोदात्तवति' (पा० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्ता । तथा देवा अपि यस्य प्रशासनमुपासते । अपि च अमृतममृतत्वम् । भावप्रधानो निर्देशः । यद्वा मृतं मरणं नास्त्यस्मिन्निति, अमृतं सुधा । बहुव्रीहौ 'नञो जरमरमित्रमृताः (पा० ६।२।११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । तदपि यस्य प्रजापतेश्छाया छायेव वर्ति भवति । मृत्युर्यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति । तस्मै कस्मै देवायेत्यादि समानं पूर्वेण । हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः ॥[1]

---

१. (शु० य० सं० २५।१३)...आत्मानं ददात्यात्मदाः । उपासकानां सायुज्यप्रदः । बलं सामर्थ्यं ददाति बलदाः । भुक्तिमुक्तिप्रद इत्यर्थः । विश्वे सर्वे मनुष्या यस्य प्रशिषं शासनमुपासते । देवाश्च यस्य प्रशिषमुपासते । तदुक्तम्—"यस्य ज्ञेयावधिज्ञानं शिक्षावधि च शासनम् । कार्यावधि च कर्तृत्वं स स्वयम्भूः पुनातु वः" ॥ इति । किञ्च यस्य च्छायाश्रयो ज्ञानपूर्वमुपासन-ममृतं मुक्तिहेतुः । यस्य । अज्ञानमिति शेषः । मृत्युः संसारहेतुः । तदुक्तम्— "य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति" । (श्वेताश्व० उप० ३।१०) इति ॥—(उव्वटमहीधरौ) ।

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य०सं०२५।१३; अ० वे० ४।२।१, १३।३। २४, का०य० २७।१७, तै० सं०४।१।८।४, ७।५।१७।१ स्थलों में भी उपलब्ध होता है ।

हिन्दीभाषान्तर

जो आत्मा को देने वाला है, जो बल को देने वाला है, जिसके अनुशासन की समस्त (प्राणी एवं) देव उपासना करते हैं, जिसकी छाया अमृत है, जिसकी छाया मृत्यु है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. आत्मदाः—आत्मनः ददाति—आत्मन् + दा + विच्—सायण—(१) (सभी आत्माओं का उद्भव परमात्मा से होता है अतएव) आत्माओं को देने वाला। (२) आत्मनः दायति—आत्मन् + दैप् शोधने + विच्—आत्माओं को शुद्ध बनाने वाला। उव्वट महीधर—स्वयं को देने वाला = उपासकों को सायुज्य प्रदान करने वाला। पीटर्सन—प्राण या श्वास का देने वाला।

वस्तुतः यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर मानना उचित प्रतीत होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के युग तक आत्मा शब्द का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में हुआ है। अध्यात्म शीर्षक से उपन्यस्त व्याख्यान शारीरिक रूपक की अभिव्यक्ति करते हैं (दे०, श० ब्रा० ६।६।१।१९, ६।७।१।२०, १०।५।२।७ आदि। आत्मा का शरीर-अर्थ में प्रयोग—६।६।३।१५-१६,७।२।२।८, १४, २०, ८।३।४।१५, ९।१।२।९, १०।५।१।३ श० ब्रा०, सायणभाष्य भी देखिए। श० ब्रा० ७।३।१।१२ में आत्मा का अग्नि के पर्याय रूप में उद्धरण नितान्त भ्रामक एवं अशुद्ध है। ८।७।२।१४ श० ब्रा० में प्राण एवं आत्मा के पृथक्त्व का प्रदर्शन करते हुए ध्यातव्य है कि यहाँ आत्मा का शरीर के अर्थ में प्रयोग का संकेत भी कर्तव्य है। स्वपक्ष के संपोष में अर्द्ध उद्धरण देना भी अक्षमता एवं दौर्बल्य का परिचायक है। ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों से यह सिद्ध होता कि सूर्य शारीरिक रोगों का विनाशक है (१।५०।११-१३ ऋ०)। हेरोडोटस के अनुसार कुष्ठ रोग से पीड़ित पारसी को सूर्य का अपराधी माना जाता था (१३८ अनुच्छेद)। इस प्रकार के मनुष्यों को 'मिथ्रोद्रूख्श' (मित्रद्रुघ्) कहते थे (मॉर्टिन हॉग, एसेस ऑन दि रिलीजन ऑफ दि पारसीस्, पाद-टिप्पणी, पृ० ७)। इन प्रमाणों के परिसर में 'आत्मदाः' का अर्थ शरीर देने वाला, शरीर का शोधक उपयुक्ततम है। इस सूक्त के अन्यथा अर्थों के रचनहार जन इन प्रमाणों की उपेक्षा कर देते हैं।

२. बलदाः—सायण—बलदाता या बलशोधक, सामर्थ्यप्रद (तै० सं० ४।१।८।४)। उव्वट-महीधर—भुक्ति-मुक्ति का प्रदाता। पीटर्सन—बल को देने वाला, शक्तिदायी।

३. यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः—सायण-उव्वट-महीधर जिसका प्रशासन या आज्ञा समस्त प्राणी एवं देव स्वीकारते हैं। विश्वे–विश्व + जस्, समस्त प्राणी। वस्तुतः यहाँ वक्ष्यमाण वाक्ययोजना करणीय है—यस्य प्रशिषं विश्वे उपासते, यस्य प्रशिषं देवाः उपासते—प्रशिषम्—प्र + शासु (अनुशिष्टौ) + क्विप् = प्रशासन, अनुशासन। तुलनीय: न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः, ऋ० २०।३८।९।

४. यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः—अमृतम्—सायण—(१) अमृतत्व, (२) अमृत, सुधा। उव्वट-महीधर—जिसका आश्रय अमृत रूप मोक्षहेतु है तथा जिसकी अकृपा आवागमनरूप मृत्यु है। पीटर्सन—जिसकी छाया अमरता एवं मृत्यु है॥ २॥

सायण ने यहाँ हवि का अर्थ केवल पुरोडाश किया है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वै-
क इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

पदपाठः

यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा। एकः। इत्। राजा। जगतः। बभूव। यः। ईशे। अस्य। द्विऽपदः। चतुःऽपदः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥ ३॥

सायणभाष्यम् ३

यो हिरण्यगर्भः प्राणतः [प्र] श्वसतः। 'अन प्राणने' आदादिकः। 'शतुरनुमः' (पा० ६।१।१७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। निमिषतः।

अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः। अत्रापि पूर्ववद् विभक्तिरुदात्ता। जगतो जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन। 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इति तृतीयाया आकारः। माहात्म्येन। एक इद् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति। भवतेर्णलि 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पादो गवाश्वादेश्च यः प्रजापतिरीशे ईष्टे। 'ईश ऐश्वर्ये' आदादिकोऽनुदात्तेत्। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७।१।४१) इति तलोपः। अनुदात्तेत्त्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः (पा० ६।१।१८६)। अस्य 'ऊडिदम्' (पा० ६।१।१७१) इतीदमो विभक्तिरुदात्ता। द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्। 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) इति पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तः। भसञ्ज्ञाया 'पादः पत्' (पा० ६।४।१३०) इति पद्भावः। 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्'' ....' (पा० ६।२।१९७) इत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या' (पा० ६।२।१) इति पूर्वपद-प्रकृतिस्वरः। पूर्वपदस्य च 'त्रेः सङ्ख्यायाः' (फि० सू० २।५) इत्याद्युदात्तत्वम्। 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (पा० ८।३।४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मा इत्यादि सुबोधम्। हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः ॥[1]

१.(शु० य०सं० २३।३, २५।११) '' यः कः प्रजापतिः प्राणतः प्राणनं कुर्वतो भूतग्रामस्य निमिषतो निमेषणं कुर्वतः। क्रियावत इत्यर्थान्तरम्। महित्वा स्वकीयेन माहाभाग्येन। एक इत्। इच्छब्द एवार्थे। एक एव। समस्तस्य जगतो राजा बभूव संवृत्तः। यश्च ईशे ईष्टे अस्य द्विपदः प्राणिजातस्य यश्च चतुष्पद ईष्टे प्राणिजातस्य। तस्मै कस्मै देवाय प्रजापतये हविषा विधेम। विधतिर्दानकर्मा। हविरिति विभक्तिव्यत्ययो द्वितीयान्तः। हविर्दद्मः। (उव्वटः) ॥

'' तस्मै कस्मै प्रजापतये देवाय वयं हविर्विधेम हविर्दद्मः। विधृ (ध) विदानार्थः। तृतीया द्वितीयार्थे। तस्मै कस्मै ? यः प्रजापतिः प्राणनं जीवनं कुर्वतो निमिषतो निमेषतो निमेषणं कुर्वतः। उपलक्षणमेतत्। दृगादीन्द्रियव्यापारं कुर्वतः सचेतनस्य जगतः। विश्वस्य एक एव राजा बभूव। केन ? महित्वा महेर्महिम्नो भावो महित्वं तेन महित्वेन। विभक्तेः पूर्वसवर्णः। महाभाग्येनेत्यर्थः। यश्चास्य द्विपदो द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् तस्य। 'पादः

हिन्दी भाषान्तर

जो साँस लेते हुए (तथा) पलक झँपाते हुए जगत् का, अपनी महिमा से अकेला ही राजा हो गया, जो इस दो पैर वाले (और) चार पैर वाले (जगत्) का स्वामित्व करता है, (उसके अतिरिक्त) किसके लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. प्राणतः = प्र + अन् (प्राणने) + शतृ 'षष्ठी' ए० व०। 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा० ६।१।१७३) से विभक्ति को उदात्त हुआ है। सायण–श्वास लेते हुए (जगत्) का। उव्वट—श्वास लेते हुए (प्राणिसमुदाय) का अथवा क्रियावान् (प्राणिसमूह) का। महीधर–जीवधारी। पीटर्सन–श्वास लेने वाले (जगत्) का।

२. निमिषतः = नि + मिष् (स्फुरित होना, चलना) + शतृ, षष्ठी, ए० व०। प्राणतः के समान यहाँ भी विभक्ति उदात्त है। सायण–पलक झँपाने वाले का। महीधर—नेत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार में व्यापृत सचेतन जगत् का, पलक झँपाने वाले का। पीटर्सन—सोने वाले (जगत्) का।

ध्यातव्य है कि सूर्योदय के साथ प्राणिवर्ग कार्यव्यापृत होता है, जीवन्त बनता है; एवं उसके अस्तमन के अनन्तर समस्त जगत् पलक झँपाता है, सोने के लिए सचेष्ट होता है। तुलनीय : सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ऋ०।

३. द्विपदः, चतुष्पदः–दो पैर वाले प्राणी, चार पैर वाले प्राणी। द्वौ पादौ यस्य तत्, द्विपात् तस्य। चत्वारः पादाः अस्य तत् चतुष्पात्, तस्य। 'द्विपदः' में 'द्वित्रिभ्या पादन्…' (पा० ६।२।१९७) से उत्तर पद को उदात्त। 'चतुष्पदः'

पत्' (पा० ६।४।१३०) इति पदादेशः। द्विपादस्य मनुष्यपक्ष्यादेश्चतुष्पदो हस्तिगवादेः प्राणिजातस्य ईशे ईष्टे ऐश्वर्यं करोति। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७।१।४१) इति तकारलोपे 'ईशे' इति रूपम्। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० २।३।५२) इति कर्मणि षष्ठी।—(महीधरः)॥

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य० सं० २३।३, २५।११; का० सं० ४०।२; मै० सं० २।१३।१११; अ० वे० ४।२।२; का० य० २५।३, २७।१५; तै० सं० ४।१।८।४, ७।५।१६।१ स्थलों में भी है।

में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० ६।२।१) से पूर्व पद में स्थित स्वर होने से 'त्रः सङ्ख्यायाः' (फि० सू० २।५) आदि वर्ण को उदात्त ।

सायण यहाँ 'हविषा' का अर्थ (पशु के) हृदयादि की हवि करते हैं ॥ ३ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा
यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

पदपाठः

यस्य । इमे । हिमऽवन्तः । महिऽत्वा । यस्य । समुद्रम् । रसया । सह । आहुः । यस्य । इमाः । प्रऽदिशः । यस्य । बाहू इति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान् । तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते यथा छत्रिणो गच्छन्तीति । हिमवन्तो हिमवदुपलक्षिता इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वता यस्य प्रजापतेर्महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमित्याहुः । तेन सृष्टत्वात् तद्रूपेणावस्थानाद् वा । तथा रसया । रसो जलम् । तद्वती रसा नदी । अर्श-आदित्वादच् (पा० ५।२।१२७) । जातावेकवचनम् । रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम् । पूर्ववदेकवचनम् । सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमित्याहुः कथयन्ति सृष्टयभिज्ञाः । यस्य चेमाः प्रदिशः प्राच्यारम्भा आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशितव्याः । तथा बाहू । वचनव्यत्ययः । बाहवो भुजाः । भुजवत् प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः । तस्मै कस्मा इत्यादि समानं पूर्वेण ॥[1]

[1] (शु० य० सं० २५।१२)—वयं कस्मै प्रजापतये देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः । विभक्तिव्यत्ययः । कशब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम् । इमे हिमवन्तो बहुवचनादन्येऽपि हिमाचलप्रभृतयः पर्वताः । प्रथमा द्वितीयार्थे । 'सुपां सुपो भवन्ति' इति वचनात् । इमान् हिमवत्प्रभृत्यद्रीन् यस्य प्रजा-

हिन्दीभाषान्तर

जिसकी महिमा से ये पर्वत हैं, नदियों के साथ समुद्रों को जिसका बताया जाता है, जिसकी ये दिशाएँ हैं (एवं) जिसकी भुजाएँ (रक्षिका) हैं, (उसके अतिरिक्त) किस देव के लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. हिमवन्तः—हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान् ते। हिम+मतुप्, प्रथमा, ब० व०। सायण—हिमाचल आदि समस्त पर्वत। उव्वट-महीधर—'हिमवन्तः' को द्वितीया, ब० व०। 'हिमवतः' के स्थान पर प्रयुक्त मानकर 'आहुः' के साथ अन्वित करते हैं। तदनुसार अर्थ होगा—जिसकी महिमा ये हिमाचल आदि पर्वत हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं। पीटर्सन—वे हिमयुक्त पर्वत उसके हैं। 'इमे' तथा 'यस्य' का क्रमशः वे और उसका अर्थ करना उचित नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यहाँ अन्वय करना चाहिए—'यस्य महित्वा' इमे हिमवन्त (सन्ति, इति शेषः)—जिसकी महिमा से ये पर्वत हैं; अर्थात् जिसकी महिमा के कारण ही समस्त पर्वतों की स्थिति है। पं० क्षे० चं० चट्टोपाध्याय का मत है कि हिमवत् 'कई जगह पर पर्वत-सामान्य के अर्थ में आया है' (वही, पृ० ४०–४१)।

२. महित्वा—इसे सायण, उव्वट और महीधर द्वितीया का एकवचन स्वीकारते हैं और अर्थ करते हैं—महत्त्व को, महिमा को। वस्तुतः महित्वा तृतीयान्त है। ध्यातव्य है कि 'महित्वा' का ऋग्वेद में ३० बार प्रयोग हुआ।

पतेर्महित्वं महिमानमाहुर्बुधाः। महित्वेति विभक्तेराकारः। "रसा नदी रसतेः शब्दकर्मण." (निरु० ११।२५) इति [निरुक्ते] यास्कः। रसया नद्या सह समुद्रं यस्य महित्वमाहुः। इमाः प्रदिशः पूर्वाद्याः प्रकृष्टा आशा यस्य महित्वमाहुः। यस्य बाहू भुजौ जगद्रक्षणाविति शेषः सर्वं जगद् यस्य प्रजापतेर्विभूतिरित्यर्थः।—(उव्वटमहीधरौ)

टिप्पणी—यह मन्त्र, शु० य० सं० २५।१२; का० य० २७।१६; तै० सं० ४।१।८।४; का० सं० ४०।६; मै० सं० २।१३।११३; अ० वे ४।२।५, में भी उपलब्ध होता है।

इस स्थल को छोड़कर अन्यत्र प्रायः सर्वत्र सायण ने इसे तृतीयान्त स्वीकारा है—दे०, सायण, ऋ० २।१५।६; ३।१।४, ५४।१५; ४।१६।५, ४२।३; ५।२।९, ५८।२; ६।२९।५, ६७।३, १०; ७।१३।२, २०।४, २३।३, ५८।१, ६१।४, ९७।८, १०७।३; ८।२५।१८; १०।५४।१, ५५।५, ५६।७, ८८।९, ८९।१, ९६।११, १२१।३ आदि।

३. प्रदिशः—सायण—आग्नेय आदि कोण। उव्वट-महीधर—पूर्व आदि दिशाएँ। पीटर्सन—आकाश के क्षेत्र।

पीटर्सन के विचार सायण के भाष्य में उल्लिखित–प्रदिशः प्राच्यारम्भाः··· स्वभूताः—अंश ने एक कठिन समस्या उत्पन्न कर दी है। दिशाओं के कोणों को 'विदिश्' कहा जाता है। सायण 'प्रदिशः' का इसी अर्थ में निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। 'आग्नेय्याद्याः' आदि के द्वारा इनका संकेत है एवं 'ईशितव्याः' से प्रजापति एवं प्रदिशों का स्वस्वामिसम्बन्ध द्योतित होता है।

'बाहू' के द्वारा मुख्य दिशाओं की अभिव्यक्ति की गयी है, एवं 'स्वभूताः' का प्रयोग 'ईशितव्याः' के लिए किया गया है।

इस प्रकार उनका विचार है कि सा० भा० में 'प्रदिशः' के स्थान पर 'दिशः' पाठ होना चाहिए तथा 'प्राच्यारम्भाः' के स्थान पर 'प्रारम्भाः' का (पीटर्सन को इस मत का मूल आर० जी० भाण्डारकर से उपलब्ध हुआ)।

मैक्समूलर ने भी सा० भा० को शुद्ध करने का प्रयास किया है–'यस्य चेमाः प्रदिशः आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशानान्ता वा'+परन्तु वे दोनों अनुमान (मैक्समूलर एवं पीटर्सन के) विद्वानों को स्वीकार नहीं हुए। पूना के ऋग्वेद के संस्करण में इस प्रकार का पाठ नहीं स्वीकारा गया। वस्तुतः 'प्रदिशः' से समस्त दिशाओं का बोध होता है अतः दिशाविदिशा आदि का आग्रह उचित नहीं होगा ॥ ४ ॥

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा
येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒
कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥

पदपाठः

येन॑ । द्यौः । उ॒ग्रा । पृ॒थि॒वी । च॒ । दृ॒ळ्हा । येन॑ । स्व१॒रिति॑ स्वः॑ । स्त॒भि॒तम् । येन॑ । नाकः॑ । यः । अ॒न्तरि॑क्षे । रज॑सः । वि॒ऽमानः॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम् ३

येन प्रजापतिना द्यौरन्तरिक्षम् उग्रा उद्गूर्णविशेषा गहनरूपा वा पृथिवी भूमिश्च दृळ्हा येन स्थिरीकृता । स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं कृतम् । यथाधो न पतति तथोपर्यवस्थापितमित्यर्थः । 'ग्रसितस्कभितस्तभित...' (पा०७।२।३४) इति निपात्यते । तथा नाक आदित्यश्च येनान्तरिक्षे स्तभितः । यश्चान्तरिक्षे रजस उदकस्य विमानो निर्माता । तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥[1]

(इत्यष्टमाष्टके सप्तमाध्याये तृतीयो वर्गः)

हिन्दीभाषान्तर

जिसने भयावह द्युलोक तथा पृथिवीलोक को दृढ़ किया, जिसने ऊपर स्वर्लोक और नाक लोक को स्तब्ध कर दिया, तथा जिसने अन्तरिक्ष में लोकों को नाप लिया, (उसके अतिरिक्त) किस देव के लिए हवि से विधान करें।

---

[1] (शु० य० सं० ३२।६—येन पुरुषेण द्यौरुग्रा उद्गूर्णा वृष्टिदायिनी कृता । पृथिवी च दृढा स्थिरा प्राणधारणाय वृष्टिग्रहणाय चान्ननिष्पादनाय च कृता । येन च स्व आदित्यमण्डलं स्तभितं स्तम्भितम् । येन च नाकः स्वर्गो लोकः स्तम्भितः । यश्चान्तरिक्षे रजस उदकस्य वृष्टिलक्षणस्य विमानो निर्माता । तं परित्यज्य कस्मै अन्यस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्म इति समञ्जसम् ।—(उव्वटः) ॥

येन पुरुषेण द्यौरुग्रा उद्गूर्णा । वृष्टिदा कृतेति शेषः । पृथिवी च येन दृढा कृता । सर्वप्राणिधारणं वृष्टिग्रहणमन्नादिनिष्पादनं चेति भूमेर्दार्ढ्यम् । येन स्व आदित्यमण्डलं स्तभितं स्तम्भितम् । येन नाकः स्वर्गोऽपि स्तम्भितः योऽन्तरिक्षे नभसि रजसो जलस्य वृष्टिरूपस्य विमानो विमिमीते । निर्माता । तं विहाय कस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः । न कस्मैचिदित्यर्थः ॥ (महीधर) ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य० सं० ३२।६; का० य० २९।३२, तै० सं० ४।१।८।५; अ० वे० ४।२।४ स्थलों में उपलब्ध होता है ।

टिप्पणियाँ

१. उग्रा—सायण के विचार में 'पृथिवी' के विशेषण रूप में उग्रा का प्रयोग हुआ है—उठी हुई, गहन। प्रतीत होता है कि सायण 'उग्रा' को 'द्यौः' का विधेय मानने के पक्ष मे हैं, जैसे 'पृथिवी' का विधेय 'दृळ्हा' है। यह मानने पर सायण-अभिप्रेत अर्थ होगा—जिसने अन्तरिक्ष को उठाकर ऊपर कर दिया। उव्वट—महीधर ने 'उग्रा' को 'द्यौः' का विधेय ही माना है। इन दोनो के मतानुसार अर्थ है—वृष्टिदायिनी। पीटर्सन—'उग्रा' को 'द्यौः' का विशेषण मानकर 'महान्' अर्थ करते हैं। उच—मिलना + रन् (उणा० २।२८)।

२. स्वः—सायण—स्वर्ग। उव्वट—महीधर—आदित्यमण्डल। पीटर्सन—'स्वः' तथा 'नाकः' को एकत्र कर—आकाश का विस्तृत क्षेत्र। वस्तुतः 'स्वः' एवं 'नाकः' दोनो विभिन्न लोको के ज्ञापक हैं। 'स्वः' का विसर्ग र् से उद्भूत हुआ है, अतएव पदपाठ में इति लगाकर 'स्वः' आवृत हुआ है। यह स्वतन्त्रस्वरितों में जात्य स्वरित है। जिस स्वरित के पूर्व उदात्त न हो उसे जात्य स्वरित कहते हैं—'येन स्वः'—में 'स्वः' का पूर्ववर्ती 'न' उदात्त नहीं है। स्वतन्त्र स्वरित के अनन्तर यदि उदात्त आता है तो कम्प होता है। जहाँ जात्य स्वरित ह्रस्व स्वर पर होता है वहाँ कम्प को स्वरित एवं अनुदात्त युक्त १ चिह्न से व्यक्त करते हैं। पदपाठ से 'स्वऽ १ रिति' पद में जात्य स्वरित युक्त 'स्वः' के आगे 'इति' का 'इ' उदात्त है, अतएव कम्प हुआ और उसकी अभिव्यक्ति के लिए १ चिह्न का उपन्यास किया गया। ध्यातव्य है कि ऐसी स्थिति में जात्य स्वरितयुक्त वर्ण के ऊपर से स्वरित का चिह्न हटा दिया जाता है।

३. अन्तरिक्षे रजसो विमानः—सायण—अन्तरिक्ष में जल का निर्माता है। पीटर्सन—मध्य आकाश को नापा। वस्तुतः लोकों को नापना सूर्य का एक विशिष्ट कर्म है, तुलनीय : 'एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः' १।१५४।३ ऋ०। रजसो विमानः, १०।१३९।५, १।१५४।१, ३।१६०।४, २।१२।२ ऋ० भी देखिए। टिप्पणी देखिए, विष्णुसूक्त १ मन्त्र में विममे पर ॥ ५ ॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने

अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।

यत्राधि सूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

पदपाठः

यम् । क्रन्दसी इति । अवसा । तस्तभाने इति । अभि । ऐक्षेताम् । मनसा । रेजमाने इति । यत्र । अधि । सूरः । उत्ऽइतः । विभाति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

क्रन्दिवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ । श्रूयते हि—'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै० ब्रा० २।२।९।४) इति । ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्याभ्यैक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम् । 'ईक्ष दर्शने' । लङ्यडादित्वादाद्युदात्तः । कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ । रेजमाने राजमाने दीप्यमाने । आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम् । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । यद्वा लिटः कानच् । 'फणां च सप्तानाम्' (पा० ६।४।१२५) इत्येत्त्वाभ्यासलोपौ । 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति सार्वधातुकत्वाच्छप [अतएव] 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् । यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्य उदित उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते । उत्पूर्वादेतेः कर्मणि निष्ठा । 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । 'तस्मै कस्मा इति सुज्ञानम् ॥'[१]

---

[१] (शु० य० सं० ३२।७)—"अवसान्नेन हविर्लक्षणेन वृष्टिधारणाद्युपकारजनितेन । तस्तभाने संस्तम्भमाने सर्वप्राणिजातम् । अभ्यैक्षेतां मनसा साध्वेतत्कृतमनेनेति । रेजमाने कम्पमाने । यत्र चाध्युपरिस्थितो यदाधार इत्यभिप्रायः । सूरः सूर्य उदितः सन् विभाति । तं देवं परित्यज्य कस्मै देवाय हविषा विधेम इति समञ्जसम् ।—(उव्वटः) ॥

क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ यं पुरुषं मनसाभ्यैक्षेतां साधु कृतमित्यपश्यताम् । कीदृश्यौ क्रन्दसी । अवसा हविर्लक्षणेनान्नेन वृष्टिजनकत्वेन तस्तभाने प्राणि-

हिन्दीभाषान्तर

सहायता के द्वारा स्थिर बनाये गये (तथा) मन से डरते हुए द्युलोक और पृथिवी लोक जिसकी ओर देखते हैं, जहाँ पर सूर्य उदित होकर दीप्तिमान् होता है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. क्रन्दसी—(प्रजापति के रोदन के स्थान) द्युलोक और पृथिवीलोक; [तै० सं० में—प्रजापति के रोदन से उत्पन्न द्युलोक और पृथिवीलोक (तै० सं० भा० ४, पृ० १०३)]। उव्वट एवं महीधर भी इस अर्थ से सहमत हैं। मैक्स-मूलर का कथन है कि यहाँ 'क्रन्दसी' के स्थान पर रोदसी पाठ स्वीकारना चाहिए। विभिन्न पाठों के परिसर में यह मान्य नहीं हो सकता। अ० वे० ४।२।३ भी इसी पाठ की ओर इंगित करता है (उद्धृत, पीटर्सन, भाग १, पृ० २८८)। निघण्टु (३।३०।४) में रोदसी द्यावापृथिवी नामों में पठित है। क्रन्दसी भी रोदसी के पर्याय रूप में प्रयुक्त होता है। विरुद के अभिव्यंजक शब्दों का, प्रभविष्णुता के निमित्त, विशेषण के रूप में भी प्रयोग उपलब्ध होता है (आर० एम्० मेयर, डूइत्शे स्ताइलिस्तिक, म्युनिख, १९१३, अनु० ५०; खोंदा, इं० ऋ०, पृ० १५७ आदि)। अथर्ववेद के ४।२।३ मन्त्र में क्रन्दसी का रोदसी के विशेषण रूप में ही प्रयोग हुआ है, अतएव मैक्समूलर का सुझाव नहीं माना जा सकता।

२. तस्तभाने—स्तम्भ् - स्तब्ध करना, सीमित करना, स्थिर करना—+कानच्; स्त्रीलिंग, प्रथमा, द्वि० व०। सायण—प्रजापति द्वारा निर्मित एवं स्थिर किये गये (तै० सं०—देवों एवं मनुष्यों के अवस्थान के लिए स्थिर किये गये)। स्तभ या स्तम्भ धातु के प्रयोग के लिए देखिए—२।१२।२

जातं स्तम्भयन्त्यौ। व्यत्ययेन स्तभो ह्वादित्वम्। रेजमाने शोभमाने। सूरः सूर्यो यत्र द्यावापृथिव्योरुदितः सन् अधिविभाति, अधिकं शोभते विभासयति वा। तं विहाय कस्मै हविर्दद्मः।—(महीधरः)॥

टिप्पणी—यह मन्त्र ३२।७; का० य० २९।३४; तै० सं० ४।१।८।५; का० सं० ४०।५०; मै० सं० २।१३।११५; अ० वे० ४।२।३ में उपलब्ध होता है।

पर मैकदोनेल की टिप्पणी। तुलनीय: यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी, ऋ० ७।८६।१; यस्तस्तम्भ रोदसी, ऋ० ९।१०१।१५; तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्, १०।८९।४; विरोदसी तस्तभुर्मरुतः, ऋ० ८।९४।११ आदि। उव्वट-महीधर—समस्त प्राणियों को स्तब्ध करती हुई (द्यावापृथिवी)।

३. मनसा—सायण—बुद्धि से। सायण 'मनसा' का अन्वय अभ्यैक्षेता'से कर—बुद्धि से समीक्षण किया—अर्थ करते हैं। वस्तुतः 'मनसा' का सम्बन्ध 'रेजमाने' से होना चाहिए, जैसे 'अवसा' का अन्वय 'तस्तभाने' से किया गया है।

४. रेजमाने—रेज् + कानच्, प्रथमा, द्वि०व०। सायण—राजमान, दीप्यमान। उव्वट—काँपती हुई। महीधर—शोभित होती है। भ्यस् एवं रेज धातु—दोनों भय एवं कम्पन के अर्थ को व्यक्त करती हैं (देवराज यज्वा—नैघण्टुकटीका परिशिष्ट २५) तुलनीय: रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते, ऋ० ६।५०।५; रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि भीषा, ऋ० ७।२१।३, रेजन्ते कृष्टयः, ऋ० ८।१०३।३, भूमिर्यामेषु रेजते, ऋ० ८।२०।५; क्रवणस्य रेजरे, ऋ० ५।४४।९; वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्, ऋ० ५।६०।२, रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः, ऋ० ६।६६।९; भिया वृषणो रेजमानाः, ७।६२।१० ऋ०, आदि। इन निदर्शकों के परिसर में रेज धातु का अर्थ काँपना ही उचित लगता है (इन स्थलों पर सायणभाष्य भी देखिए)। अभ्यस्त होने पर आदि वर्ण में उदात्त स्वर है 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९)।

५. यत्र अधि—जिस पर आधृत होकर। सायण—जिस आधारभूत प्रजापति में। उव्वट—जिसके ऊपर स्थित होकर, जिस आधार को ग्रहण कर। तु०—वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये; ऋ० १।८५।७; यत् किंच पृथिव्यामधि, ५।८३।९ ऋ०; यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु, ७।१०३।५ ऋ०; विराजोऽधि पूरुषः, १०।९०।५ ऋ० आदि। यह आधिक्य के अर्थ में उपसर्ग है। इसके योग में सप्तमी होती है। 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (पा० २।३।९)

६. सूर उदितो विभाति—सायण, उव्वट, महीधर—सूर्य उदित होकर दीप्तिमान् होता है। भौतिक सूर्य एवं उसके अभिमानी देवता में विभिन्नता है। यहाँ सूर्य दृश्यमान सूर्य के लिए आया है। यह नयनप्रेक्ष्य सूर्य उस देवता के कारण ही प्रकाशित होने में समर्थ होता है॥ ६॥

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

पदपाठः

आपः । ह । यत् । बृहतीः । विश्वम् । आयन् । गर्भम् । दधानाः । जनयन्तीः । अग्निम् । ततः । देवानाम् । सम् । अवर्तत । असुः । एकः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम् ७

बृहतीर्बृहत्यो महत्यः । 'जसि वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम्' (पा० ६।१।१७३ वा०) इति ङीप् उदात्तत्वम् । अग्निम् । उपलक्षणमेतत् । अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीर्जनयन्त्यस्तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधानाः धारयन्त्य आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वं जगद् व्याप्नुवन् (यद् यस्मात् ततस्तस्माद् हेतोर्देवानां देवादीनां सर्वेषा प्राणिनामसुः प्राणभूत एकः प्रजापतिः समवर्तत समजायत । यद्वा) यद् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थितास्ततो गर्भभूतात् प्रजापतेर्देवादीना प्राणात्मको वायुरजायत । अथवा । यत् । लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः । उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिता ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम । तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ।[1]

---

[1] (शु० य० सं० २७।२५)—'''आपः । पुराकल्पद्योतको 'ह' इति निपातः । यत् । बृहतीर्बृहत्यो महत्यः । विश्वं सर्वमात्मत्वेन । आयन् प्रापुः । ...हिरण्यगर्भवचनो वाग्निशब्दः । ततो गर्भात् संवत्सरोषिताद् देवानां मध्ये

हिन्दीभाषान्तर

प्रसिद्ध है कि जब गर्भ धारण करती हुई तथा अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि विश्व में आयी, तब देवों का अद्वितीय प्राण (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न हुआ, (उसके अतिरिक्त) किस देव के लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. आपः—सायण—जल। उव्वट-महीधर—सलिल (सृष्टि के आरम्भ में।)

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास······तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मय-माण्डं सम्बभूव······।—श० ब्रा० ११।१।६।१। सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वत्र सलिल ही था। यह जल 'अप्रकेत' (अप्रज्ञात) रूप में स्थित था। 'तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्'—ऋ० १०।१२९।३, १०।१२९।४ भी देखिए। इस जल में सौवर्ण अण्डा ही 'पर्यप्लवन' कर रहा था। वैज्ञानिकों के विचार से भी सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल व्याप्त था। सूर्य की जल में पड़ती हुई छाया सौवर्ण अण्डे के रूप में प्रतीत हुई, जिसे प्राकृत युग का मानव सोने का अण्डा समझ नाना भाव से अपनी युग-कथाओं में ख्यापित करता है।

२. जनयन्तीरग्निम्—जन् + णिच् + शतृ + ङीप्। सायण—अग्नि से उप-लक्षित आकाश आदि समस्त भूतों को उत्पन्न करता हुआ। उव्वट-महीधर—

समवर्तत समभवदसुः प्राणात्मक एको देवानाम्। स हि लिङ्गशरीरो य इत्थम्भूतो हिरण्यगर्भः······।—(उव्वटः) ॥

ह प्रसिद्धौ। यद् यदा पुरापो जलानि विश्वमायन् प्रापुः। कीदृश्य आपः। बृहतीर्बृहत्यो महत्यो बहुलाः। तथा गर्भं हिरण्यगर्भलक्षणं दधाना धारयन्त्यः। अत एवाग्निं जनयन्तीरग्निरूपं हिरण्यगर्भं जनयन्त्यः उत्पादयिष्यन्त्यः। ततो गर्भाद् संवत्सरोषिताद् देवानामसुः प्राणरूप आत्मा लिङ्गशरीररूपो हिरण्य-गर्भः समवर्ततोदपद्यत। कस्मै प्रजापतिरूपाय देवाय हिरण्यगर्भाय हविषा विधेम हविर्दद्मः। विभक्तिव्यत्ययः। विधतिर्दानार्थ।—(महीधरः) ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य० सं० २७।२५; का० य० २९।३५; तै० सं० २।२।१२।१, ४।१।८।५; अ० वे० ४।२।६, तै० आ० १।२३।८ में है।

अग्निरूप हिरण्यगर्भ या हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करता हुआ। पीटर्सन—अग्नि को उत्पन्न करता हुआ। सौवर्ण अण्डे का प्रकाश अग्नि से भी अधिक तेजः-पुञ्ज से युक्त था, अतः उसे अग्नि कहा गया। सृष्टि के आरम्भ में सूर्य का वर्तुल तेजःपिण्ड अत्यधिक गति से भ्रमणशील था, ऐसा वैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं। छन्द की दृष्टि से 'जनयन्तिरग्निम्' पढ़ना चाहिए।

३. ततः—सायण—गर्भभूत प्रजापति से। उव्वट महीधर—संवत्सर तक जल में स्थित गर्भ से—यह व्याख्यान श० ब्रा० के—जातो ह तर्हि संवत्सर आस......ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् ११।१।६।१-२ पर आधृत है। पीटर्सन—तब (जब जलराशि विस्तृत हुई)।

४. असुः—सायण—प्राणात्मक वायु। उव्वट-महीधर—प्राणरूप आत्मा, लिङ्गशरीररूप हिरण्यगर्भ। पीटर्सन—आत्मा। तुलनीय—एष उ एव प्राणः। एष हीमाः सर्वाः प्रजाः प्राणयति तस्यैते प्राणाः...श० ब्रा०....१०।२।१।१४। सूर्य से ही समस्त प्राणी प्राणवान् हैं। अस्यति वायुमित्यसुः—असु (फेंकना) + उण् (उणा० १।१०) निरुक्त ३।८।१०।३४ भी देखिए।

इस ऋक् में छन्दोविधान की दृष्टि से 'एकः' पद अधिक है अतएव आर्नाल्ड ने इसे 'अधिकाक्षर' ऋक् स्वीकारा है (अनु० २२४, पृ० १०८, अनुच्छेद १५७, पृ० १०२, वैदिक मीटर)। रॉथ का मत है कि यदि ऋक् को शुद्ध करने की दृष्टि से 'एकः' को निकाल दिया जाय तो भाव या अर्थ की कोई हानि नहीं है। वस्तुस्थिति का अनुरोध भी यही है ॥ ७ ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्
दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

पदपाठः

यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्। यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीरुत्पादयन्तीस्तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधाना धारयित्रीः। 'दधातेर्हैतौ' (पा० ३।२।१२६) शानच्। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। ईदृशीरापः। व्यत्ययेन प्रथमा। अपः प्रलयकालीनाः। महिना महिम्ना। छान्दसो मलोपः। स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान्। यश्च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवस्तेषामीश्वरः सन् एकोऽद्वितीय आसीद् भवति। अस्तेश्छान्दसो लुङ्। 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' (पा० ७।३।९६) इतीडागमः। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्॥[1]

हिन्दीभाषान्तर

जिसने अपनी महिमा से दक्ष को धारण करती हुई, (तथा) यज्ञ को उत्पन्न करती हुई जलराशि को चारों ओर देखा, जो देवों में अद्वितीय देव हो गया, (उसके अतिरिक्त) किस देव के लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. दक्षम्—सायण—प्रपञ्च रूप से वृद्धि के निमित्त समुद्यत प्रजापति को। महीधर—कुशल प्रजापति को। पीटर्सन—शक्ति, बल। दक्ष वस्तुतः सूर्य का एक रूप है (देखिए—इस संग्रह के प्रथम सूक्त, मन्त्र ३ पर टिप्पणी)। इस सूक्त के १ मन्त्र में हिरण्यगर्भ पर भी टिप्पणी देखिए।

निघण्टु (२।९।१४) में दक्ष बल-नामों में पठित हैं। यास्क ने दक्षिण (हस्त) को दक्ष् उत्साह करना एवं दाश् दान देना से सिद्ध किया है (निरु० १।७)। डॉ० सिद्धेश्वर ने भारोपीय मूल धातु + देक्स—लेना तथा + देक्—

[1] (शु० य० सं० २७।२६)–...महिना महाभाग्येन। पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान्।...यज्ञं सृष्टियज्ञम्...—(उव्वट)॥

चिदप्यर्थः। यो [ऽपि] देवोऽन्तर्यामी महिना महिम्ना। आपः। विभक्तिव्यत्ययः अपः पूर्वोक्ताः पर्यपश्यत् सर्वतो ददर्श। कीदृशीः। दक्षं कुशलं प्रजापतिं दधानाः। यज्ञं जनयन्तीः। यज्ञशब्देन यज्ञकर्त्री प्रजोच्यते। सृष्टिकर्त्रीरित्यर्थः। यश्च देवेष्वधि अधिक एको मुख्यो देव आसीत्। तस्मै देवाय हविर्दद्मः॥ (महीधरः)॥

आदर दिखाना, स्वीकार करना—की कल्पना दक्ष् धातु से की है। उनके अनुसार दाश् से की गयी व्युत्पत्ति लोक-व्यवहार के कारण है। दक्ष् शैघ्र्ये, दक्ष् गति-हिंसनयोः, से भी इस शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है—स्कन्दस्वामी।

२. यज्ञम्—सायण—यज्ञोपलक्षित विकार-समूह। उव्वट—सृष्टियज्ञ। पीटर्सन—यज्ञ। छन्द की दृष्टि से 'जनयन्तिः यज्ञम्' पढ़ना चाहिए।

मैक्समूलर का कथन है कि इस ऋक् में प्रयुक्त 'आपः' से सृष्टि के आरम्भ में स्थित जल को समझना चाहिए, जैसा कि (ऋ० १०।१२९।३) में कहा गया है कि सब कुछ समुद्र के समान प्रकाशहीन था (पीटर्सन, भा० १, पृ० २८९)।

मैक्समूलर के अनुसार ग्रॉसमन 'एकः' को इस ऋक् से हटाना चाहते हैं; क्योंकि मैत्रायणी शाखा में यह उपलब्ध नहीं होता। छन्दोविधान से भी यही प्रतीत होता है। पर यह सुझाव मान्य नहीं है ॥ ८ ॥

मा नो॑ हिंसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या
यो वा॑ दिवं॑ स॒त्यध॑र्मा ज॒जान॑ ।
यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒
कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ९ ॥

पदपाठः

मा । नः॒ । हिं॒सी॒त् । ज॒नि॒ता । यः । पृ॒थि॒व्याः । यः । वा॒ । दिव॑म् । स॒त्यऽध॑र्मा । ज॒जान॑ । यः । च॒ । अ॒पः । च॒न्द्राः । बृ॒ह॒तीः । ज॒जान॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम् ९

स प्रजापतिर्नोऽस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम्। यः पृथिव्या भूमेर्जनिता जनयिता स्रष्टा। 'जनिता मन्त्रे' (पा० ६।४।५३) इति णिलोपो निपात्यते। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (पा० ६।१।१७४) इति पृथिवीशब्दाद् विभक्तेरुदात्तत्वम्। यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितथधर्मो जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिर्दिवमन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वांल्लोकान् जजान जनयामास। 'जनी प्रादुर्भावे'। णिचि

वृद्धौ 'जनीजृष्क्नसुरञ्जः' (भ्वा० धातुपा० ग० सू०) इति मित्त्वात् 'मिता ह्रस्वः' (पा० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वम्। ततो लिटि '…अमन्त्र०' (पा० ३।१।३५) इति निषेधादाम्प्रत्ययाभावे तिपो णलि वृद्धौ 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। यश्च बृहतीर्महतीश्चन्द्रा आह्लादिनीरपः उदकानि जजान जनयामास। 'ऊडिदम्' (पा० ६।१।१७१) इत्यादिना अप्शब्दादुत्तरस्य शस उदात्तत्वम्। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्[1]॥

हिन्दीभाषान्तर

जो पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला है एवं जो सत्य धर्म वाला (देव) द्युलोक को उत्पन्न करता है, (तथा) जो आह्लाददायिनी, विशाल जलराशि को उत्पन्न करता है, वह हमें हिंसित न करे, (उसके अतिरिक्त) किस देव के लिए हवि से विधान करें।

टिप्पणियाँ

१. सत्यधर्मा—सायण—सत्यमवितथो धर्मो जगतो धारणं यस्य सः, जगद् को धारण करना जिसका सत्य धर्म है। उव्वट—सत्य का धारक। महीधर—

[1] (शु० य० सं० १२।१०२)……मा मा हिंसीत्। पूर्वः प्रतिषेधार्थीय उत्तरोऽस्मदादेशः।…'जनिता मन्त्रे' (पा० ६।४।५३) इति णिचो लोपः…—(उव्वटः)॥

…वा चार्थे। यो वा यश्च दिवं व्यानड् द्युलोकमसृजत्। व्यानडिति व्याप्तिकर्मा। श्रुतौ तु सृजतेरर्थे व्याख्यातः।……यश्च चन्द्रा आह्लादिका जगत्कारणभूता अपो जलानि प्रथम आदिभूतः सन् जजानोत्पादितवान्। तद्द्वारा मनुष्यानुत्पादितवानित्यर्थः।……कीदृशः। प्रथमः शरीरी सत्यधर्मा सत्यं धरतीति सत्यस्य धारयिता स प्रजापतिर्मा हिंसीन्मा हन्तु। यतः कस्मै काय प्रजापतये हविषा हविः वयं विधेम दद्मः। हविर्दानान्मा हन्तु। क शब्दस्य सर्वनामत्वाभावात् 'स्मै' आदेशश्छान्दसः। हविषा इति विभक्तिव्यत्ययः। विधतिर्धातुर्दानार्थः।—(महीधरः)॥

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य० सं० १२।१०२; का० य० १३।१०१; तै० सं० ४।२।७।१ में भी मिलता है।

सत्य को धारण करने वाला या सत्य को धारण कराने वाला। पीटर्सन—सच्चा और विश्वस्त। सत्य + धर्म + अनिच् , प्रथमा, ए० व०, पुल्लिङ्ग। यह विरुद अग्नि (१।१२।७), सवितृ (१०।३४।८), मित्रावरुण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द—धृ-धारण करना, वहन करना, कसकर पकड़ना—से बना है। तुलनीय : लैटिन-फेरो, एंग्लोसैक्सन-फेरेन-यात्रा करना, घटित होना)। इस प्रकार 'सत्यधर्मम्' का अर्थ-जो अपने चरित्र, अपनी प्रकृति में सत्य हो। (तुलनीय : हेनरिख जिमर, फ़िलासफ़ीज ऑफ़ इण्डिया, १९५१, पृ० १६३; राधाकृष्णन्, दि हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ १९४८, पृ० ७८; खोदा, इ० ऋ०, पृ० १९०)।

२. आपश्चन्द्राः—चन्द्राः आपः—चन्द्राः—चदि (आह्लादन) + रक (उणा० २।१३)। सायण—आह्लादक सलिल। उव्वट—(१) मनुष्य, (२) काम्य जल। महीधर-जगत् के कारण आह्लादक जल। पीटर्सन-देदीप्यमान जल। शतपथ में 'मनुष्या वा आपश्चन्द्राः'-७।३।१।२०-मनुष्य ही आह्लादक जल हैं—कहा गया है। वहीं इसका निर्देश भी किया गया है कि मनुष्यों को 'आपश्चन्द्राः' क्यो कहा गया है। जागतिक सृष्टिरचना में मनुष्य श्रेष्ठ है अतएव वह जल के समान सृष्टि का अग्रज है—यो मनुष्यान् प्रथमोऽसृजतेत्येतत् , श० वही।

उव्वट के अनुसार पितृमार्ग का अनुसरण करने वाले मनुष्य यज्ञ के द्वारा चन्द्रलोक में पहुँचते हैं, अतः श० ब्रा० में मनुष्यो को 'आपश्चन्द्राः' कहा गया है-'मनुष्या एव हि यज्ञेनाप्नुवन्ति चन्द्रलोकं पितृमार्गानुसारिणः'। उव्वट का एक अन्य विचार भी है—मनुष्य की रचना जल से होती है, अतएव जो कारण में है वही कार्य में भी है। लक्षणा से 'आपश्चन्द्राः' कहने से मनुष्य का बोध हो जाता है। महीधर ने भी इन विचारों में उव्वट का अनुसरण किया है ॥ ९ ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑

जा॒ता॒नि॒ परि॒ ता ब॑भूव।

यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु

व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥ १० ॥

पदपाठः

प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परि । ता । बभूव । यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ १० ॥

सायणभाष्यम् १०

इळादधाख्य इष्टययने प्राजापत्यस्य हविषः 'प्रजापते' इत्येषानुवाक्या । सूत्रितं च—"प्राजापत्य इळादधः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः" (आश्वा० श्रौ० २।१४) इति । केशनखकीटादिभिर्दुष्टानि हवींष्यनयैवाप्सु प्रक्षिपेत् । सूत्रितं च—"अपोऽभ्यवहरेयुः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः" (आश्व० श्रौ० ३।१०) इति । चौलादिकर्मस्वप्येषा होमार्था । सूत्रितं च—"तेषां पुरस्ताच्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयादग्न आयूँषि पवस इति तिसृभिः प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति च" (आ० गृ० १।४।४) इति ।

हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चिद् एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) इति शेर्लोपः । जातानि प्रथमविकारभाञ्जि ता तानि सर्वाणि भूतजातानि न परि बभूव न परिगृह्णाति न व्याप्नोति । त्वमेवैतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषि, इति भावः । परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थः । वयं च यत्कामा यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमो हवींषि प्रयच्छामस्तत्फलं नोऽस्माकमस्तु भवतु । तथा वयं रयीणां धनानां पतय ईश्वराः स्याम भवेम । 'नामन्यतरस्याम्' (पा० ६।१।१७७) इति नाम उदात्तत्वम् ॥[1]

---

[1] (शु० य० सं० १०।२०, २३।६५)······'अयममुष्य पितासावस्य पिता' इति यजुः ॥ हे प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वरूपाणि परि ता बभूव । त्वत्तोऽन्यो देवताविशेष एतानि सर्वाणि नानाजातीयानि वर्तमानकालसम्बन्धीनि रूपाणि परि समन्ततः । ता तानि च यान्युत्पन्नानि, उत्पत्स्यन्ते वा । बभूव । अत्र नकारः सम्बध्यते । न बभूव न भवत्यात्मरूपत्वेन यस्मादतो ब्रवीमि यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु येन कामेन ते तव जुहुमस्तत्कामरूपमस्माकमस्तु······वयमेव स्याम भवेम पतयो रयीणां धनानाम्···—(उव्वटः)॥

(इत्यष्टमाष्टके सप्तमाध्याये चतुर्थो वर्गः)

हिन्दीभाषान्तर

हे प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा, प्रसिद्ध इन सकल उत्पन्न (पदार्थों) के चारों ओर, अवस्थित नहीं हुआ; जिस कामना से युक्त होकर हम लोग तुम्हें पुकारते हैं, हमारी वह (कामना) पूरी हो, हमलोग धनों के स्वामी हो जायँ।

टिप्पणी

इस मन्त्र तथा अन्य पाँच मन्त्रों–७।५२।१२, १०।२०।१, १०।१९०।१–३, का पदपाठ नहीं उपलब्ध होता (पीटर्सन, भा० १, पृ० २९०, पा० टि० भी देखिए)। अन्यत्र, इस मन्त्र के अतिरिक्त ७।५९।१२, १०।२०।१, १०।१०।१-३ ऋचाओं को पदपाठविहीन कहा गया है (पं० रघुबरमिट्ठूलाल शास्त्री, डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, प्राथमिकवेदसङ्ग्रहः (प्रयाग, १९५४) पृ० ४२, पा० टि०, पं० र० मि० शास्त्री)। इन दोनों उद्धरणों में केवल ७।५२।१२, ७।५९।१२ में भेद पड़ता है। पूना-संस्करण के अनुसार ७।५९।१२ ही पद पाठरहित है ७।५२।१२ नहीं। यह भी सम्भव है कि पीटर्सन-संस्करण में मुद्रणजन्य प्रमाद से अशुद्धि आ गयी हो। केगी के मत से सम्भवतः पदपाठ की रचना के अनन्तर इन्हें संहिता में प्रक्षिप्त किया गया है।

···हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यो देवताविशेषस्तान्येतानि विश्वा विश्वानि। सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि वर्तमान-भूत-भविष्यत्कालविषयाणि न परिबभूव परिभवितुं समर्थो नाभूत्। परिभवः सृष्टेरप्युपलक्षणम्। त्वदन्यादेव एतानि भूतानि स्रष्टुं संहर्तुं चाप्यशक्त इत्यर्थः। अतो वयं यत्कामा येन कामेन त्वां जुहुमस्तत्कामरूपं फलं नोऽस्माकमस्तु।—(महीधरः)।

टिप्पणी—यह मन्त्र शु० य० ० १०।२०, २३।६५; का० य० ११।२९, २५।६७; तै० सं० १।८।१४।२, ३।२।५।६; अ० वेद ७।७९।४; तै० ब्रा० २।८। १।२, ३।५।७।१; नि० १०।४३ में उपलब्ध होता है।



वाक्सूक्तम्

१० म०　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　सू० १२५

दशममण्डले पञ्चविंशत्यधिकशततमं
[दशमेऽनुवाके त्रयोदश] सूक्तम् ।
(अष्टमाष्टके सप्तमाध्याये एकादशद्वादशवर्गौ)

वाग् आम्भृणी ऋषिः । वागाम्भृणी (परमात्मना तादात्म्यमनुभवन्ती) देवता । द्वितीयस्यां जगती शिष्टासु सप्तसु त्रिष्टुप् छन्दः ।

सायण—'अहम्' इत्यष्टर्चं त्रयोदशं सूक्तम् । अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी विदुषी स्वात्मानमस्तौत् । अतः सर्षिः । सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता । तेन ह्येषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति । द्वितीया जगती, शिष्टाः सप्त त्रिष्टुभः । तथा चानुक्रान्तम्—अहमष्टौ वागाम्भृणी तुष्टावात्मानं द्वितीया जगती । गतो विनियोगः ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

पदपाठः

अहम् । रुद्रेभिः । वसुऽभिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्वऽदेवैः । अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभी रुद्रैरेकादशभिः । इत्थंभावे तृतीया । तदात्मना चरामि । एवं वसुभिरित्यादौ

तत्तदात्मना चरामि, इति योज्यम्। तथा मित्रावरुणा मित्रं च वरुणं च। 'सुपां सुलुक्....' (पा० ७।१।३९) इति द्वितीयाया आकारः। उभा उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता बिभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी अप्यहमेव धारयामि। उभा उभौ अश्विना अश्विनौ अप्यहमेव धारयामि। मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते। माया च जगदाकारेण विवर्तते। तादृश्या मायया आधारत्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः॥

हिन्दीभाषान्तर

मैं (वागाम्भृणी) रुद्रों तथा वसुओं के साथ चलती हूँ, मैं आदित्यों और विश्वदेवों के साथ (चलती हूँ), मैं मित्र एवं वरुण दोनों को धारण करती हूँ, मैं इन्द्र तथा अग्नि और दोनों अश्विनों को (धारण करती हूँ)।

टिप्पणियाँ

इस सूक्त की द्रष्ट्री वाक् नामक विदुषी अम्भृण ऋषि की पुत्री है। अम्भृण ऋषि की पुत्री होने के कारण इन्हें वाग् आम्भृणी कहा जाता है। इस सूक्त में विदुषी वाक् ने आत्म-स्तवन किया है। परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई वाक् सर्वत्र, विश्व के अणु-परमाणु में, अपने को अनुस्यूत देखती है, और उसका वर्णन अत्यन्त उदात्त शब्दों में करती है।

इस सूक्त को प्रायः विद्वानों ने दार्शनिक स्वीकारा है। यास्क ने (निरु० ७।१-२) एवंविध ऋचाओं को आध्यात्मिकता से युक्त कहा है। वाक् की महिमा से ही विश्व के समस्त व्यापार परिचालित होते हैं। अनुवर्तीयुगीन वैयाकरण तो शब्द को ही ब्रह्म मानता है।

१. रुद्रेभिः—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति रुद् (रोना) धातु से हुई है (रुद्+रक्, उणा० २।२२)—यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः—(श० ६।१।३।८)। तुलनीय-यदरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् (बृ० आ० ३।९।४; यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्-इति हारिद्रवकम्) [अन्य व्युत्पत्तियों के लिए देखिए ऋ० १।१४४।१ सायणभाष्य।] रुत् दुःखं द्रावयति रुद्रः। रु गतौ—रवणं रुत् ज्ञानं राति ददाति रुद्रः। रोदयति इति रुद्रः। (महीधर, शु० य० सं० १६।१)।

ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अत्यन्त गौण है। केवल तीन सूक्तों (ऋ० १।११४, २।३३,७।४६) में इस देवता का वर्णन मिलता है। वेबर रुद्र को झंझा और तूफान का देवता स्वीकारते हैं। हिलब्रान्त के अनुसार इनका सम्बन्ध किसी विशेष नक्षत्र से है और ये ग्रीष्म के देवता हैं। श्रोदर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान को रुद्र देवता बना दिया गया, क्योंकि मृत आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। ओल्डेनबर्ग उपर्युक्त मत को स्वीकारते हुए रुद्र को पर्वत एवं अरण्यों का देवता मानते हैं (कीथ, रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ वेद, पृ० १४६–१४७)। रुद्र का नाम ऋग्वेद में लगभग ७५ बार आया है। इसका चित्रण उग्र एवं हिंसक देवता के रूप में हुआ है। क्रोधी होते हुए भी वे अपने पूजकों का हित-विधान करते हैं। ई० आर्बमान, रुद्र, (उप्सला, १९२२) प्र० परिच्छेद, (मैकदोनेल; वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० ७४ आदि, वैदिक रीडर, पृ० ५६)। रुद्र मरुतों का पिता है (ऋ० १।८५)। मरुतों की माता गोरूपा पृश्नि है। शतपथ में अग्नि को रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान कहा गया है। सम्भवतः इस कल्पना का आधार 'त्वमग्ने रुद्रो...' (ऋ० २।१।६) में प्रयुक्त रुद्र पद है। इसे वृषभ एवं रक्तवर्ण 'अरुष' (सूकर) (ऋ० १।११४।५) कहा गया है। कालान्तर में शिव और रुद्र का एकीकरण हुआ।

सायण इस पद का अर्थ करते हैं—११ रुद्रों के साथ। रुद्रगण में ११ देवता हैं।

२. वसुभिः—सायण–वसु नामक देवताओं के साथ। इनकी सङ्ख्या ८ है।

३. आदित्यैः—आदित्य नामक देवों के साथ। इनकी संख्या १२ है। आदित्यों की संख्या निश्चित नहीं–५, ७ और ८ आदित्यों का भी वर्णन मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इनकी संख्या १२ दी गयी है। ऋ० २।२७।१ में मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष और अंश का उल्लेख है। १०।७२।८ में—'अष्टौ पुत्रासः अदितेः' अदिति के आठ पुत्र कहे गये हैं। वरुण एवं मार्तण्ड को उपर्युक्त परिगणित आदित्यों में मिला देने से ८ हो जाते हैं। इनमें कुछ अदिति से प्राचीनतर हैं। वरुण, मित्र, अर्यमा भारतेराणी काल से चले आ रहे हैं। हिरण्यगर्भ-सूक्त के मन्त्र १ की टिप्पणी भी देखिए।

४. विश्वदेवैः—विश्वदेवों के साथ। ऋ० ८।३५।३ में विश्वेदेवाः को तैंतीस देवता बताया गया है—विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैः। ऋ० १।१४।३ में इनकी गणना—इन्द्रवायू, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग, आदित्यगण, मरुद्गण; ऋ० १०।६५।१ मे अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, सजोषस्, आदित्य, विष्णु, मरुत्, स्वर्, बृहत्, सोम, रुद्र, अदिति और ब्रह्मणस्पति एवं ऋ० ८।२८।२ में वरुण, मित्र, अर्यमा, रातिषाच्, अग्नि, पत्नीवान्, वषट्कृत की गयी है। पीटर्सन—सब देवों के साथ। 'विश्व' में अन्त्य स्वर उदात्त—'बहुव्रीहौ विश्वं सञ्ज्ञायाम्' (पा० ६।२।१०६) ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं
त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते
सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

पदपाठः

अहम्। सोमम्। आहनसम्। बिभर्मि। अहम्। त्वष्टारम्। उत। पूषणम्। भगम्। अहम्। दधामि। द्रविणम्। हविष्मते। सुप्रऽअव्ये। यजमानाय। सुन्वते ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

आहनसमाहन्तव्यमभिषोतव्यं सोम यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोममहमेव बिभर्मि। तथा त्वष्टारमुतापि पूषणं भगं चाहमेव बिभर्मि तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे। अवतेस्तर्पणार्थात् 'अविस्तृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उणा० ३।१५८) इतीकारप्रत्ययः। चतुर्थ्येकवचने यणि। 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) इति सुपः स्वरितत्वम्। सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते। 'शतुरनुमः' (पा० ६।१।१७३) इति चतुर्थ्या उदात्तत्वम्। ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपमहमेव दधामि धारयामि। एतच्च ब्रह्मणः फलदातृत्वं "फलमत उपपत्तेः" (ब्र० सू० ३।२।३८) इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकारेण समर्थितम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

मैं आवेश उत्पन्न करने वाले या पराक्रमी सोम को धारण करती हूँ, और मैं त्वष्टा, पूषा तथा भग को (धारण करती हूँ), मै सोम निचोड़ते हुए हवि-प्रदाता (एवं) भली-भाँति सहायता के योग्य या देवों को तृप्त करने वाले यजमान के लिए धन धारण करती हूँ।

टिप्पणियाँ

१. सोमम्—सायण—(१) सोमरस, (२) द्युलोक में स्थित (शत्रुओं को मारने वाला) सोम देवता—देखिए विश्वेदेवा सूक्त के मन्त्र ३ पर टिप्पणी। सोम का आदि स्वर उदात्त होता है—'ग्रामादीनां च' (फि० सू० २।३८)।

२. आहनसम्—आ + हन् + असुन्, द्वितीया, ए० व०, सोम का विशेषण। सायण—(१) रस निचोड़ने के योग्य; (२) आहन्ता, सेचक, (३) शत्रुओं का सामने से वध करने वाला, (४) निचोड़े जाते हुए, (५) स्तुति किये गये, (६) शब्दकारी, (७) नियन्ता, दण्डधारक, (८) वध करने वाला, दुःख देने वाला। (देखिए, सायणभाष्य, ऋ० २।१३।१, ४।४२।१३, ९।७५।५, १०।१०।६,८) यास्क—वञ्चक (दुर्गाचार्य); मादक, उन्मादक = आवेश में लाने वाला (निरु० ४।१५, ५।२)।

सेण्टपीटर्सबर्ग कोष भी इसे आ + हन् से व्युत्पन्न स्वीकार, इसका अर्थ—पीटा हुआ, निचोड़ा हुआ—प्रस्तुत करता है। नैस्सर के विचार से इसका अर्थ—फूला हुआ, भरा हुआ—है। इनके अनुसार इसका सम्बध 'घन-मोटा' से है। राजवाड़े के मत में 'आहनस्' का अर्थ—सुखदायी, प्रिय, रुचिकर—एवं 'आहनः' का—प्रिय बहन—है निरुक्त-मराठी भाषान्तर, पृ० २७२)। सेण्टपीटर्सबर्ग कोष इस पद को भारोपीय ग्हेन्-फूलना, भरना = आधुनिक फारसी-आगन्दन्—भरना से सम्बद्ध करता है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा इसे हन् धातु से निष्पन्न मानकर भारोपीय—गुहेन्—चोट करना, ग्रीक—थेइनो—मै चोट करता हूँ, के अनुरूप स्वीकारते हैं।

इस प्रकार अनेक मतवादो से दृष्टिगत होता है कि इसकी मूल धातु हन् है, जिसका अर्थ हिंसा करना, चलना है। गतिपरक अर्थ स्वीकारने पर—सोम-

पान से आविष्ट होना सद्यः उपस्थित हो जाता है। सोम की मादकता सामान्य मादकता से भिन्न है। अतएव आहनस् का अर्थ आवेश में लाने वाला–उचित प्रतीत होता है। यह अर्थ यास्क के मादक अर्थ के समीप भी है।

३. त्वष्टारम्—सायण—त्वष्टा नामक देवता को त्वक्षू तनूकरणे + तृन्, तूर्ण + अश् + तृन् (निपातनात्) (निरु० ८।१३)। त्वक्ष्—से व्युत्पत्ति की संपुष्टि ऐ० २।४ के ताष्टि = भारो० तुएक् = बुनना, परिश्रम से काम करना—से भी होती है। दूसरी व्युत्पत्ति आधुनिक विद्वानो को स्वीकार्य नहीं है (इटिमोलोज्जीज ऑफ् यास्क, पृ० ९७)। तक्ष तनूकरणे से भी यह पद निष्पन्न हो जाता है (मैकदोनेल, वै० री०, पृ० २३५)। त्विष् दीप्तौ + तृन् (उणा० २।९५, सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी)। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अनुसार त्वष्टा—त्वष्—बनाना, काटना से व्युत्पन्न हुआ है।

त्वष्टा देवशिल्पी है। वह देवों के शस्त्र–निर्माण के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि उसके अन्य शारीरिक अंगों का वर्णन नहीं उपलब्ध होता तथापि हाथों अथवा भुजाओं का, जिनसे वह शस्त्र-रचना करता है, प्रायः वर्णन किया गया है। १।८५।९ में उसे इन्द्र के वज्र का निर्माण करने का श्रेय दिया गया है, जिससे वृत्र का वध कर इन्द्र ने जलधाराओं को मुक्त किया––

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
यत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन् वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम्॥

तुलनीय—त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष, ऋ० १।३२।२; तक्षन् त्वष्टा वज्रम्, ५।३१।४; त्वष्टा'''वज्रं सहस्रभृष्टिं ववृतच्छताश्रिम्, ६।१७।१०। वह अनेक रूपों का निष्पादक है–देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः; ३।५५।१९। अन्यत्र उसे गर्भ में दम्पती का निर्माता कहा गया है–गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः, ऋ० १०।१०।५। त्वष्टा गर्भ में समस्त रूप का निर्माण करता है—त्वष्टा रूपाणि पिंशतु–१०।१८४।१। वह मनुष्यों, पशुओं के गर्भस्थ बीज को विकसित करता है (१।१८८।९)। त्वष्टा के विरुद प्रायः उसके गुणों का ही ख्यापन करते हैं; व्यक्तित्व का नहीं (देखिए, मैकदोनेल, वैदिक माइथॉलॉजी पृ० ११६; ओल्डेनबर्ग Die Religion des Veda, १९२३, पृ० २३७ आदि

भी देखिए) विश्वरूप असुर त्वष्टा का पुत्र कहा गया है (ओल्डेन बर्ग, वही, पृ० १४१; कीथ, रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्, पृ० २०५) । अनुवर्ती ग्रन्थों में भी वह समस्त रूपों की रचना करता है—देखिए, तै० ब्रा० १।४।७।१; श० ब्रा० ११।४।३।३; अ० वे० २।२६।१ ।

४. सुप्राव्ये—सु + प्र + अव् (सहायता करना, रक्षा करना) + ईप्रत्ययः (उणा० ३।१५८) च०, ए० व० । 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) से सुप् को स्वरित हुआ है । सायण—देवों को शोभन हविषो से तृप्त करने वाले के लिए । अन्यत्र भी सायण इसकी उपर्युक्त व्युत्पत्ति कर 'भलीभाँति रक्षा करने वाला' अर्थ करते हैं—

सुप्राव्यं सुष्ठु प्रकारेण रक्षितारं दूतम्... । सुप्राव्यम् । सुष्ठु प्रकर्षेण अवति रक्षतीति सुप्रावीः । उपसर्गद्वयोपसृष्टादवतेरवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईरितीकार प्रत्ययः—(सायण) १।८३।१ । देखिए—२।२६।१; ४।२५।५-६ पर भी सायणभाष्य ।

रॉथ अपने विचार से इसका अर्थ—अति चैतन्य, सचेत, अत्यन्त अवहित, सावधान, सतर्क तथा उत्साह–उद्युक्त कहते हैं । पीटर्सन—धर्मशील, पुण्यवान्, शुचिव्रत, धर्मनिष्ठ, सदाचारी ।

सुप्राव्ये में 'व्ये' पर लगा हुआ स्वरित स्वतन्त्र स्वरित है । स्वतन्त्र स्वर के उत्तर यदि उदात्त स्वर आता है तो कम्प होता है । यदि स्वरित दीर्घ होता है तो उसे व्यक्त करने के लिए उसके आगे अंक तीन लिखकर उसके ऊपर स्वरित एवं नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है—३ ।

यह जगती छन्द है । जगती के प्रत्येक चरण में १२ वर्ण होते हैं । छन्द की दृष्टि से १, २, ४ चरण में परिमार्जन अनिवार्य है, अतएव प्रथम चरण में 'आहनसम्' को 'आअहनसम्', 'बिभर्म्यहम्' को 'बिभर्मि अहम्' एवं 'सुप्राव्ये' को 'सुप्राविये' पढ़ना चाहिए ॥ २ ॥

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

पदपाठ

अहम् । राष्ट्री । सम्ऽगमनी । वसूनाम् । चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् । ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । भूरिऽस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

अहं राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । सर्वस्य जगत ईश्वरी । तथा वसूना धनाना सङ्गमनी सङ्गमयित्र्युपासकानां प्रापयित्री । चिकितुषी यत् साक्षात् कर्त्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञातवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती । अतएव यज्ञियाना यज्ञार्हाणा प्रथमा मुख्या । या एवङ्गुणविशिष्टाहं ता मा भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातान्यावेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीमीदृशीं मा पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुर्देवा विदधति कुर्वन्ति । उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येणावस्थानाद् यद्यत् कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

हिन्दीभाषान्तर

मैं रानी हूँ, धनों को एकत्र करने वाली हूँ, पूज्यों में प्रथम ज्ञानवती हूँ । अनेक स्थलों में स्थित तथा बहुतेरों में अपने को प्रवेश कराती हुई (उस) मुझे देवों ने नाना स्थलो पर पृथक् पृथक् स्थापित किया ।

टिप्पणियाँ

१. राष्ट्री—राज् + ष्ट्रन् + ङीष् । सायण—समस्त जगत् की ईश्वरी । निघण्टु (२।२२।१) में राष्ट्री पद ईश्वर नामो में पढ़ा गया है । पीटर्सन—रानी । 'सङ्गमनी वसूनाम्' राष्ट्री का समानाधिकरण है । राज् धातु निघण्टु (२।२१।४) में ऐश्वर्ययुक्त-परक धातुओं में परिगणित है, अतः इसका अर्थ रानी उचित ही है । 'वसूना सङ्गमनी' भी इसी की पुष्टि करता है । ऐश्वर्ययुक्त रानी धनों को एकत्र ही करती है । धन के एकत्रीकरण के कारण ही वह ऐश्वर्ययुक्त है । एक अन्य स्थल पर सायण ने राष्ट्री शब्द का अर्थ राष्ट्रवान् किया है—वायुर्न राष्ट्रयत्यक्तून्, ऋ० ६।४।५—'राष्ट्रं राज्यं तद्वान्'—सायण । तुलनीय—यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवाना निषसाद मन्द्रा । चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम—८।१००।१० ऋ० । 'वाग वै राष्ट्री' तै० ब्रा० २।४।३।११, ऐ० ब्रा० ४।२।

२. सङ्गमनी—सम् + गम् + णिच् + ल्युट् + ङीप्। सायण—(उपासकों को) प्राप्त कराने वाली। पीटर्सन—एकत्र करने वाली। दामोदर सातवलेकर—एकत्र करने वाली। तुलनीय—वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्—ऋ० १०।१४।१। रायो बुध्नः सङ्गमनो वसूनाम्, १०।१३९।३। तै० सं० ३।५।१।१।

३. चिकितुषी—कित् + क्वसु + ङीप्, स्त्री०, प्र०, ए० व०। सायण—(ब्रह्म का) साक्षात्कार कर लेने वाली।

चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्—सायण ने 'चिकितुषी' तथा 'प्रथमा यज्ञियानाम्' को अलग-अलग विशेषण माना है। रॉथ, ग्रॉसमन एवं पीटर्सन के अनुसार—यज्ञियाना प्रथमा चिकितुषी—देवताओं को सर्वप्रथम जानने वाली अन्वय होना चाहिए। वस्तुतः यही योजना उचित प्रतीत होती है।

४. वि अदधुः—वि + धा + लुङ्, प्र० पु०, ब० व०। सायण करते हैं—स्थापित किया। पीटर्सन—पृथक्-पृथक् स्थापित किया।

५. पुरुत्रा—पुरु + त्रल्, स्त्री०, द्वि०, ए० व०। सायण—बहुत से देशों में, अनेक स्थानों में। पीटर्सन भी इसी अर्थ को स्वीकारते हैं।

पुरु शब्द पॄ (पालन-पूरणयोः)—पृणाति पूर्यते वा–पॄ + कुः (उणा० १।२३) अथवा पिपर्ति पालयति पूरयति वा—पॄ + कुः। अथवा पारयति पूरयति–पॄ + कुः। निघण्टु (३।१।३) में पुरु शब्द का बहुवाचक नामों में परिगणन किया गया है। त्रा—का अर्थ 'मे' मध्य में, बीच में है—पाकत्रा–ऋ० ८।१८।१५, १०।२।५; अस्मत्रा–१।१३२।२, १३७।१, ३; ४।३२।१८, ४१।१०; ८।१८।१४, ६३।४; १०।४४।३; देवत्रा—१।५०।१०, ९३।९, १०५।१०, १२८।६, १८२।५; ३।१।२२, ५।२०।१, ७।७३।५ आदि, दक्षिणत्रा ६।१८।९, मर्त्यत्रा—१।१२३।३, १६९।२; ६।४४।१०, ६२।८; ७।५२।१; पुरुषत्रा—३।३३।८, ४।१२।४। पुरुत्रा के लिए तुलनीय—वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः—३।५५।३, भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्, ४।३२।२१; पुरुत्रा ते मनता विष्ठितं जगत्, ६।४७।२९; अयं सो अग्निराहुतः पुरुत्रा, ७।१।१६; क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः, ८।१।७; पुरुत्रा ते वि पूर्तयो नवन्त १०।२२।९ आदि प्रयोगों के परिसर में पुरुत्रा का अर्थ 'अनेक स्थानों में, बहुत से स्थलों में' करना समुचित है। अन्यथा अर्थ

की कल्पना अन्धमति का परिचायक है । तुलनीय—अवेस्ता—पोर्डर—बहुत—हओम यश्त, यस्न ९।२५।२७ ।

६. भूरिस्थात्राम्—भूरि + स्था + त्रल् + टाप्—स्त्री०, द्वि०, ए० व० । सायण—नाना भाव से प्रपञ्च रूप में अवस्थित । पीटर्सन—मुझे हर स्थान पर निवास करवाते हुए । भूरि–भू + क्रिन् (उणादि ४।६५) । निघण्टु (३।१।४) में भूरि बहुवाचक कहा गया है ।

७. आवेशयन्तीम्—आ + विश् (प्रवेश करना) + णिच् + शतृ + ङीप् द्वि०, ए० व० । सायण—(जीव रूप में अपने-आपको भूतों में) प्रवेश कराती हुई । पीटर्सन—प्रविष्ट कराते हुए । दा० सा०—अनेक में आवेश उत्पन्न करने वाली ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

पदपाठः

मया । सः । अन्नम् । अत्ति । यः । विऽपश्यति । यः । प्राणिति । यः । ईम् । शृणोति । उक्तम् । अमन्तवः । माम् । ते । उप । क्षियन्ति । श्रुधि । श्रुत । श्रद्धिऽवम् । ते । वदामि ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

योऽन्नमत्ति सा भोक्तृशक्तिरूपया मयैवान्नमत्ति । यश्च विपश्यति । आलोकयतीत्यर्थः । यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपं व्यापारं करोति सोऽपि मयैव । यश्चोक्तं शृणोति । 'श्रु श्रवणे' । 'श्रुवः शृच' (पा० ३।१।७४) इति श्नुप्रत्ययः । धातोः शृभावः । य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवोऽमन्यमाना अजानन्त उपक्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण हीनाः भवन्ति । मनेरौणा-

दिकस्तुप्रत्ययः (उणा० १।७५)। नञ्समासे व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। यद्वा। भावे तु प्रत्ययः। ततो बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। मामन्तवो मद्विषयज्ञानरहिता इत्यर्थः। हे श्रुत विश्रुत सखे! श्रुधि। मया वक्ष्यमाणं शृणु। छान्दसो विकरणस्य लुक्। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यः' (पा० ६।४।१०२) इति हेर्धिभावः। किं तच्छ्रोतव्यम्। श्रद्धिवम्। श्रद्धिः श्रद्धा। तया युक्तम्। श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थः। 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते' (पा० १।४।५७ वा०—२) इति श्रच्छब्दस्योपसर्गवद्वर्तमानत्वात् 'उपसर्गे घोः किः' (पा० ३।३।९२) इति किप्रत्ययः। मत्वर्थीयो वः। ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो अन्न खाता है, जो देखता (और समझता) है, जो श्वास लेता है, जो इस कहे हुए को सुनता है, वह मेरे द्वारा ही होता है। मुझे न मानने वाले वे नष्ट हो जाते हैं, हे विश्रुत! सुनो, तुम्हारे लिए विश्वसनीय (बात) कहती हूँ।

टिप्पणियाँ

१. सो अन्नम्—सः + अन्नम्—संस्कृत में 'एङः पदान्तादति' से, ऐसे स्थलों पर अ की प्रत्यक्ष सत्ता समाप्त कर उसे—ऽ—चिह्न से अभिव्यक्त किया जाता है। वैदिक संस्कृत में उभयथा रूप उपलब्ध होते हैं। विद्वानों का अभिमत है कि पूर्वरूप वाले पद अर्वाचीन हैं। (पाणिनि का–'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे'–६।१।११५ सूत्र भी देखिए)।

पीटर्सन का कथन है कि इस मन्त्र का अन्वय करने में प्रायः सभी विद्वान् सायण का अनुसरण करते हैं। इनके विचार से सम्बन्ध उपवाक्यों एवं प्रथम उपवाक्य–'सो अन्नमत्ति' में कोई भेद नहीं है। परन्तु ध्यातव्य है कि यहाँ–जो देखता है, जो साँस लेता है, जो सुनता है वह दैव संसार से अन्न ग्रहण करता है–अर्थ अभीष्ट है। तुलनीय : अग्रिम उपवाक्य—'अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति।'

वस्तुतः यहाँ इस प्रकार अन्वय करना चाहिए—(यो) अन्नमत्ति, यो विपश्यति, यः प्राणिति, य ईं शृणोत्युक्तम्, मया सः (क्रियते इति शेषः)। यहाँ भाव यह है कि जो कुछ भी इस विश्व में प्राणी करता है, वह सब मैं

(वाग् या वागाम्भृणी) स्वयं करती हूँ। समस्त वाक्यों का विधेय 'मया सः' है। 'यः' के द्वारा निर्दिष्ट 'सः' पद है–यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः। अन्न की व्युत्पत्ति–अद् (खाना) + क्तः।

२. अमन्तवः—अ + मन् (मानना, मनन करना) + तु; (उणा० १।७९), प्रथमा, ब० व०। नञ्समास में व्यत्यय से अन्तोदात्त है अथवा भाव में तु प्रत्यय कर ब० व्री० समास कर 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) से उत्तरपद के अन्त में उदात्त हुआ है। सायण—(इस प्रकार अन्तर्यामी रूप में वर्तमान मुझे) न मानने वाले; न जानने वाले। पीटर्सन–न जानने वाले। तुलनीय—'अमन्यमानाञ्छर्वा जघान' (ऋ० २।१२।१०)। अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः (ऋ० १०।२२।८)—कर्म न करने वाले, दूसरे व्रत में स्थित अमानुषः हमें न जानने वाले (वा अवमानना करने वाले) दस्यु··· (को इन्द्र ! मारो।)—में 'अमन्तु' पद। यहाँ सायण 'अमन्तु' को अव + मन् + तु से व्युत्पन्न करते हैं। अव् उपसर्ग का वकार लुप्त हो गया है—अमन्तुः अज्ञाता। यद्वा। अत्र अवत्युपसर्गस्य वकारलोपो द्रष्टव्यः। अवमन्तुरवमन्ताभिभविता। अमन्तु अमन्ता का वैदिक रूप है। अ पूर्वक मन् धातु का इस अर्थ में प्रयोग—अभि ये नो मर्तासो अमन्ति (ऋ० ७।२५।२)—जो मर्त्य सम्मुख आकर हमें अभिभूत करते हैं (नहीं मानते हैं, नहीं जानते हैं)—अभि अभिमुखाः सन्तः···अमन्ति अभिभवन्ति (सायण)।

३. उप क्षियन्ति—क्षि (नष्ट होना, क्षीण होना) + लट्, प्र० पु०, ब० व०। सायण—उपक्षीण होते हैं, संसाररहित हो जाते हैं। पीटर्सन—मेरे नियन्त्रण में हैं, शासन में हैं। दा० सा०—नष्ट हो जाते हैं।

४. श्रुधि—शृणु श्रु + लोट् ['हि' को श्रुशृणुपृकृवृभ्यः' (पा० ६।४।१०२) से 'धि' हुआ है, श्रु के स्थान पर 'श्रुवः शृ च' (पा० ३।१।७४) से श्रु के स्थान पर होने वाले शृ का छान्दस् लोप]। सुनो।

५. श्रुत—श्रु + क्तः, सम्बोधन, ए० व०। श्रु के लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप मानना कथमपि सगत नहीं माना जा सकता। तुलनीय–श्रुत श्रावय चर्षणिभ्यः–हे श्रुत विश्रुतेन्द्र चर्षणिभ्यः···(सायण)–ऋ० ६।२१।९। सायण का

इस पद को सम्बोधन परक स्वीकारना सर्वथा उचित है। रनू इसका अर्थ प्रसिद्ध करते हैं (उद्धृत, खोदा स्टाइलिस्टिक रिपीटीशन इन वेद, पृ० २४२)।

लुडविग, रॉथ तथा ग्रॉसमन का अनुसरण करते हुए, यहाँ सायण की प्रतिकूलता करते हैं। इनके विचार से 'श्रुत' एवं 'श्रद्धिवम्' को एक साथ मिलाकर 'श्रुतश्रद्धिवम्' पद मानना चाहिए। तदनुसार अर्थ होगा—परम्परा से विश्वसनीय। परन्तु यह मत असंगत है; क्योंकि भारतीय परम्परा इन दोनों शब्दों की अलग स्थिति ही स्वीकारती है (देखिए पदपाठ)। इसे सम्बोधन मानने पर 'ते' का इससे वैषम्य भी नहीं रहेगा—श्रुत! श्रुधि, ते श्रद्धिवं वदामि—विश्न! सुनो, तुम्हारे लिए विश्वास के योग्य बात कहती हूँ।

६. श्रद्धिवम्—श्रत् + किः ['श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते' (पा० १।४।५७—वा० ८) से श्रत् को उपसर्ग के समान मानकर 'उपसर्गे घोः किः' (पा० ३।३।९२) से 'कि' प्रत्यय] श्रद्धिः-विश्वास (अनुवर्ती काल में इसी शब्द से आदरार्थक श्रद्धा)। श्रद्धि + मतुप्—विश्वास के योग्य, विश्वसनीय। सायण—श्रद्धा से प्राप्तव्य। पीटर्सन—सत्य, सच्चा। देखिए—इन्द्रसूक्त के मन्त्र ५ में श्रत् पर टिप्पणी ॥ ४ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

पदपाठः

अहम्। एव। स्वयम्। इदम्। वदामि। जुष्टम्। देवेभिः। उत। मानुषेभिः। यम्। कामये। तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि। तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम् ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम् ५

अहं स्वयमेवेदं वस्तु ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवेभिर्देवैरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितमुतापि च मानुषेभिः मनुष्यैरपि जुष्टम्। ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये

यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषमुग्रं कृणोमि सर्वेभ्योऽधिकं करोमि । तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि । तमेव ऋषिमतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि तमेव सुमेधा शोभनप्रज्ञं च करोमि ॥ (इत्येकादशो वर्गः)

हिन्दीभाषान्तर

मैं स्वयं ही देवों और मनुष्यों के लिए प्रिय इसे कहती हूँ। जिसे-जिसे चाहती हूँ, उसे-उसे बलयुक्त, उसे ब्रह्मा, उसे ऋषि, उसे ज्ञानी बनाती हूँ।

टिप्पणियाँ

१. जुष्टम्—जुष् (प्रीति करना, सेवन करना) + क्तः—प्रिय, संप्रीतिकर। सायण—सेवित (देवों तथा मनुष्यों के द्वारा)। तुलनीय—जुश्त (दो, जोड़ा), और उससे विकसित अनुवर्ती शब्द—दोस्त (मित्र)। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के मत में जुष् का प्राचीन अर्थ पसंद करना है। सायण 'इदम्' का अर्थ ब्रह्मात्मक पदार्थ करते हैं। जुष्ट शब्द में आदिस्वर उदात्त होता है— 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० ६।१।१०९) 'नित्यं मन्त्रे' (पा० ६।१।२१०)।

२. उग्रम्—उच् (संघर्ष करना, समवेत होना) + रन् (उणा० २।२८)। सायण—सर्वश्रेष्ठ, सर्वाधिक। पीटर्सन—बलवान्।

३. ब्रह्माणम्—बृंहि (वृद्धि करना, बढ़ना) + मनिन् (उणा० ४।१४६) बृंह धातु से भी यह शब्द निष्पन्न किया जा सकता है। ब्रह्मन् शब्द का मूल अर्थ मन्त्र था, अनुक्रम से इसका प्रयोग मन्त्ररचयिता के लिए भी होने लगा। प्रस्तुत अंश में इसका प्रयोग 'मन्त्ररचना करने वाले' के अर्थ में हुआ है। सायण—स्रष्टा। पीटर्सन—ब्रह्मन्। सायण का अर्थ पौराणिक आयामों से प्रतिबद्ध है। इन्द्रसूक्त के मन्त्र ६ में 'ब्रह्मणः' पर टिप्पणी भी देखिए।

म्योर (ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स् १, पृ० २४६) के अनुसार ब्राह्मण जन्म अथवा स्वभाव से नहीं होता था अपितु देवी की कृपा एवं प्रेरणा से ही उस पद पर पहुँच पाता था। इस बात का संकेत इस मन्त्र में मिलता है। ब्राह्मण को ब्राह्मण होने के लिए देवी की अपेक्षा नहीं रहती, अतएव यहाँ ब्रह्मन् ब्राह्मण का द्योतक नहीं है (उद्धृत, पीटर्सन, भा० १, पृ० २९४)।

४. ऋषिम्—ऋषी (गत्यर्थक) + इन् (उणा० ४।१२९), द्वि०, ए० व०। श्रम एवं तपस्या के कारण मनुष्य ऋषि होता है—ये यत्पुरास्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषन् तस्माद् ऋषयः—श० ब्रा० ६।१।१।१। तपस्या करना-पर्यालोचन—ऋषिकर्म है—पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः, १०।१०९।४—ऋ०। मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि है—ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः—(निरु० २।३।३)। ऋषिः मन्त्रद्रष्टा गत्यर्थत्वात् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वात् मन्त्रं दृष्टवन्त ऋषयः—श्वेतवनवासिवृत्ति, उणा० ४।१२९।

५. सुमेधाम्—शोभना मेधा यस्य स तम्। अच्छी मेधावाला। धारणावती बुद्धि को मेधा कहते हैं। ज्ञानी, मेधावी। सायण—अच्छी प्रज्ञा वाला। पीटर्सन—बुद्धिमान्॥ ॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

पदपाठः

अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊँ इति। अहम्। जनाय। सऽमदम्। कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश॥ ६॥

सायणभाष्यम् ६

पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुश्चापमहमातनोमि ज्ययाततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरु हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवे हन्तुं हिंसितुम्। हन्तेः 'तुमर्थे सेसेन्...' (पा० ३।४।९) इति तवैप्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (पा० ६।१।२००) इत्याद्यन्तयोर्युगपदुदात्तत्वम्। 'शॄ हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'शॄस्वृस्निहि' इत्यादिना उप्रत्ययः। 'क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। उशब्दः पूरकः। अहमेव समदम्। समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत्

संङ्ग्रामः। स्तोतृजनार्थं शत्रुभिः सह सङ्ग्राममहमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावापृथिवीं दिवं च पृथिवीं चान्तर्यामितयाहमेवाविवेश। प्रविष्टवती।

हिन्दीभाषान्तर

ब्रह्मद्वेषी हिंसक को मारने के निमित्त मै रुद्र के लिए धनुष तान देती हूँ, मैं मनुष्यों के लिए युद्ध करती हूँ, (तथा) द्युलोक एवं पृथ्वीलोक में समायी हुई हूँ।

टिप्पणियाँ

१. रुद्राय—रुद्र के लिए। रुद्र पर टिप्पणी देखिए इसी सूक्त के मन्त्र १ में। सायण—रुद्र का (धनुष्) [त्रिपुर-विजय के अवसर पर महादेव का धनुष् तानती हूँ]। पौराणिक शिव एवं रुद्र का यद्यपि एकीकरण हुआ है तथापि वैदिक रुद्र, महादेव से सर्वथा भिन्न हैं। सायण यहाँ अपने अर्थ में पौराणिक गाथाओं की ओर उन्मुख हैं, जो सर्वथा संगत स्वीकारा जा सकता है। ऋ० २।३३।१४, १।११४।१० में रुद्र के धनुष् एवं हेति मारक कहे गये हैं। सायण 'रुद्राय' में षष्ठी अर्थ में चतुर्थी मानते हैं। षष्ठी स्वीकारने पर रुद्र की अशक्ति का बोध सम्भव नहीं। वस्तुतः वहाँ कथ्य यह है कि धनुष् तानने में समर्थ इस ऋषि के कारण ही हैं, अतएव चतुर्थी मानना ही उचित है।

२. धनुः—धनुष् का द्वि०, ए० व०। धनुष् को। धन् (शब्द करना) + उस् (उणा० २।११७)। धन्व् (गत्यर्थक या बधार्थक) + उस (धन्वन्ति, अपनयन्ति अस्मादिषव घ्नन्ति वा)। क्षीरस्वामी—इस शब्द को धनि मारणार्थक से निष्पन्न करते हैं। धन्व् (जाना, हिंसा करना) + उस निरु० ९।१६)। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा इसे भारोपीय *धनुओ *या धोनुओ—वृक्ष के समकक्ष स्वीकारते हैं।

३. ब्रह्मद्विषे—ब्रह्म द्वेष्टि—ब्रह्म + द्विष् + क्विप्, चतुर्थी, ए० व०। सायण—ब्राह्मणों के द्वेषी को। पीटर्सन—ईश्वरद्वेषी। मन्त्रद्वेषी अर्थ अधिक उपयुक्त है—तुलनीय—ब्रह्मद्विषे तपुषि हेतिमस्य, ऋ० ३।३०।१७, ६।५२।३, ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च, ६।२२।८, ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे...७।१०४।२।

४. हन्तवे—हन् + तवै—"तुमर्थे सेसेन्...." (पा० ३।४।९)। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (पा० ६।१।२००) से आदि, अन्त के दोनों वर्णों में उदात्त।

५. शरवे—शृ (हिंसा करना)+उः (उणा० १।१०) । सायण–हिंसक। पीटर्सन—बाण, अस्त्र—१।१००।१८, २।१२।१० में सायण ने शरु का आ अर्थ वज्र किया है । शरु का हिंसक अर्थ में प्रयोग–अपो षु ण इयं शरुरादित्या अप दुर्मतिः—८।६७।१५ ऋ०, मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः–८।६७।२० । इन्द्रसूक्त के मन्त्र १० पर टिप्पणी देखिए ।

६. उ—पदपाठ में 'सर्वदा ऊँ इति' लिखा जाता है । निश्चय ।

७. कृणोमि—कृ+लट्, उ० पु०, ए० व० । वैदिक रूप । पीटर्सन—शरवे को प्रथमान्त मान पूर्वार्द्ध का इस प्रकार अर्थ करते हैं—मैं रुद्र के लिए धनुष् तानती हूँ, जिससे उसके बाण ईश्वरद्वेषी मनुष्य को काट डालें ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु
विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

पदपाठः

अहम् । सुवे । पितरम् । अस्य । मूर्धन् । मम । योनिः । अप्ऽसु । अन्तरिति । समुद्रे । ततः । वि । तिष्ठे । भुवना । अनु । विश्वा । उत । अमूम् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम् ७

"द्यौः पिता" (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इति श्रुतेः पिता द्यौः । पितरं दिवमहं सुवे प्रसुवे जनयामि । "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० आ० ८।१) इति श्रुतेः । कुत्रेति तदाह । अस्य परमात्मनो मूर्धन् मूर्धन्युपरि । कारणभूते । तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु पट इव । मम च योनिः कारणं समुद्रे । समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन् । अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः । यत ईदृग्भूताहमस्मि ततो हेतोर्विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातान्यनुप्रविश्य

वितिष्ठे। विविधं व्याप्य तिष्ठामि। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा० १।३।२२) इत्यात्मनेपदम्। उतापि चामूं द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम्। उपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उप स्पृशामि। यद्वा अस्य भूतस्य (भूलोकस्य) मूर्धन् मूर्धन्युपर्यहं पितरमाकाशं सुवे। समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिर्वर्तते। यद्वा। समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते। ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि। अन्यत् समानम्॥

हिन्दीभाषान्तर

मैं इस (संसार) के ऊपर द्युपिता को उत्पन्न करती हूँ, मेरा उत्पत्ति-स्थान जल के भीतर समुद्र में है; वहाँ से मै सकल भुवनों में पृथक्-पृथक् अवतरण करती तथा इस द्युलोक को चूड़ा के द्वारा समीप से परसती हूँ।

टिप्पणियाँ

१. पितरम्—पिता को। द्यौस् पिता है—'द्यौः पिता' (तै० ब्रा० ३।७।५।४)। मनुष्य की धार्मिक पिपासा ने भूमि, द्युलोक और उन पर स्थित अनेक पदार्थों में देवत्व का आरोपण किया (हाप्किन्स्—ओरिजिन् एण्ड इवोल्यूशन ऑफ रिलीजन, पृ० १३ सोदरब्लॉम, दि लिविंग गाड्, पृ० २१)। सर्वत्र प्राकृतयुगीन संस्कृतियों में इस प्रकार की कल्पना दृष्टिगत होती है (तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी, हिन्दू धर्म की समीक्षा) दिव् धातु से ही द्यौस् शब्द निष्पन्न होता है। इस धातु से निष्पन्न शब्द भारोपीय युग से उपलब्ध होते हैं—संस्कृत देव <लैटिन दिउस्<नार्वे की प्राचीन धार्मिक गाथाओं में तिवर। इसी प्रकार संस्कृत द्यौस्पितर <ग्रीक जेउसपातेर<रोमी जुपिटर के रूप में द्यौस् पिता के महत्त्व का आकलन किया जा सकता है।

२. अस्य मूर्धन्—सायण—(१) इस परमात्मा के ऊपर, (क्योंकि इसमें निखिल आकाश आदि कार्य समूह रहता है। (२) इस भूतलोक के ऊपर, (३) इस भूलोक के ऊपर। पीटर्सन—समस्त संसार के ऊपर।

मुह् वैचित्त्ये+कन् (उणा० १।१६५) रॉथ—उसके सिर पर; जो सब में एक है। किस नाम से ईश्वर का कथन किया जाय यह अनिश्चित है।

३. योनिः—यु मिश्रणे + निः (उणा० ४।५१)। सायण—(१) कारण, (२) कारणभूत अम्भृण ऋषि, (३) कारणभूत ब्रह्म चैतन्य। पीटर्सन—बैठने का स्थान।

४. अप्सु अन्तः समुद्रे—सायण—समुद्रवन्ति अस्माद् भूतजातानि—इति समुद्रः—परमात्मा। अप्सु—व्यापक धीवृत्ति के—अन्तः—(१) मध्य में (स्थित चैतन्य ब्रह्म)। (२) समुद्र के जल में, (३) अन्तरिक्ष के जलमय देवशरीरों में।

५. वितिष्ठे—वि + स्था + लट्, उ० पु०, ए० व०। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा० १।३।२२) से आत्मनेपद। पृथक्-पृथक् स्थित हूँ।

६. वर्ष्मणा—वृष् + मनिन् (उणा० ४।१४५)। सायण—कारणभूत मायात्मक वाक्शरीर से। पीटर्सन—सिर से। इसका भी मूल वही है, जो वर्षीयस् एवं वर्षिष्ठ का, अतएव इसका अर्थ ऊँचाई, उच्चतम स्थान, शिर का मुकुट होता है। इन्हीं पर आधृत हो पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का मत है कि इसका अर्थ चूडा, शिखा करना समुचित है। सायण ने १०।९३।४ में 'वर्ष्माणम्' का अर्थ समुच्छ्रित प्रदेश किया है ॥ ७ ॥

अहमेव वातं इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥८॥

पदपाठः

अहम्। एव। वातःऽइव। प्र। वामि। आऽरभमाणा। भुवनानि। विश्वा। परः। दिवा। परः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्र वामि प्रवर्ते। वात इव। यथा वातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते यथा अध इति अधस्तादित्यर्थे। तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिवा आकाशस्य परस्तात्। एना

पृथिव्या। 'द्वितीयाटौस्वेनः' (पा० २।४।३४) इतीदम एनादेशः। [सुपां सुलुक्…' (पा० ७।१।३९) तृतीयाया अजादेशः।] अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमानासङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सम्बभूव। एतच्छब्देनोक्त सर्वं परामृश्यते। एतत्परिमाणमस्याः। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे'—(पा० ५।२।३९) इति वतुप्। 'आ सर्वनाम्नः' (पा० ६।३।९१) इत्यात्वम्। सर्वजगदात्मनाहं सम्भूतास्मि। महच्छब्दादिमनिचि 'टेः' (पा० ६।४।१५५) टिलोपः। ततस्तृतीयायामुदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्या उदात्तत्वम् (पा० ६।१।१६८)। छान्दसो मलोपः॥

(इति द्वादशो वर्गः)

हिन्दीभाषान्तर

मैं ही सकल भुवनों को प्रारम्भ करती हुई, वात के सदृश प्रवहित हूँ। मैं द्युलोक से परे, (तथा) इस पृथ्वी से परे हूँ। (मैं) अपनी महिमा से इतनी हो गयी हूँ।

टिप्पणियाँ

यह सूक्त अथर्ववेद ३।३० में है, यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन भी है। इस सूक्त से वैदिक नारी की सामाजिक स्थिति की महत्ता का भी प्रतिपादन होता है॥८॥

पुरुषसूक्तम्

१० म०　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　सू० ९०

दशममण्डले नवतितमं

(सप्तमेऽनुवाके षष्ठं) सूक्तम्

(अष्टमाष्टके सप्तदशाष्टादशैकोनविंशवर्गाः)

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः ।

सायणः—'सहस्रशीर्षा' इति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम् । नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' (क० उ० १।३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता । तथा चानुक्रान्तं—'सहस्रशीर्षा षोळश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु' इति । गतो विनियोगः ॥

स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात् ।
स भूमिं॑ वि॒श्वतो॑ वृ॒त्वात्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम् ॥१॥

पदपाठः

स॒हस्र॑ऽशीर्षा । पुरु॑षः । स॒ह॒स्र॒ऽअ॒क्षः । स॒हस्र॑ऽपात् । सः । भूमि॑म् । वि॒श्वतः॑ । वृ॒त्वा । अति॑ । अ॒ति॒ष्ठ॒त् । द॒श॒ऽअ॒ङ्गु॒लम् ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुष सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ।

शुक्लयजुर्वेदसंहितायामेकत्रिंशाध्यायात्मकं (पु० सू० १–१६।३१ अध्या०) सोत्तरनारायणपुरुषसूक्तम् (उ० ना० १७–२२)

तत्र तृतीयपाद इत्थम्—

स भूमि ँ सुर्वतः स्पृत्वा ·······॥ १ ॥

उव्वटभाष्यम् १

परमात्मज्ञानानन्दादिगुणाध्यात्मनि प्रभूतः (सम्भूतः) पुरुषमेधो यज्ञः प्रजापतिः लोककालाग्न्यादिवपुः पुरुषोत्पत्ति-स्थिति-संहृतीनां हेतुः स्वर्गापवर्गैश्वर्य-मोक्षदो ज्ञानकर्मसमुच्चयकारणं शरीरं, यज्ञो वा अस्यात्मा भवतीति श्रुतिः। 'सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्यनुवाकेन षोडशर्चेनानुष्टुभेन त्रिष्टुबन्त्येन 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (३०।५) इत्याद्यवयवभूतपुरुषद्वारेणावयवी स्तूयते। इदानीं स्तुत्यर्थं निर्वचन-द्वारेण द्रढयितुमाह। 'अथ यस्मात् पुरुषमेधो नामेमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः। तस्य यदेष लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधस्तदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधः' [श० ब्रा० १३।६।२।१]।

पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः, पुरुषो देवता, अनुष्टुप्छन्दः अन्त्या त्रिष्टुप्, मोक्षे विनियोगः।

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्।

स पुरुषो नारायणाख्यः[1] सर्वतो भुवनकोशस्य भूमिं स्पृत्वा व्याप्य दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्। दश च तानि अङ्गुलानि दशाङ्गुलानीन्द्रियाणि। केचिदन्यथा रोचयन्ति—दशाङ्गुलप्रमाणं हृदयस्थानम्। अपरे तु—नासिकाग्रं दशाङ्गुलमिति। किम्भूतोऽसौ? सहस्रशीर्षा। अनेकपर्यायः सहस्रशब्दः। अनेकानि शिरांसि यस्य स सहस्रशीर्षा पुरुषः। सहस्राक्षः सहस्राण्यक्षीणि नेत्राणि यस्यासौ सहस्राक्षः।

---

[1] अथ नारायणनाम्ना पुरुषसूक्तनाम्ना च व्यवह्रियमाणोऽनुवाक उच्यते।·········अश्वमेधेऽपि प्रेतदाहोपस्थाने विनियोगं भरद्वाज आह— "नारायणाभ्यामुपस्थानम्" इति। अयं चोत्तरश्चेत्युभावनुवाकौ नारायणसञ्ज्ञौ, नारायणाख्येन केनचिद् ऋषिणा दृष्टत्वात्तत्कारणस्य नारायणाख्यस्य पुरुषस्य प्रतिपादकत्वाच्च।

(तैत्तिरीयारण्यके तृतीयप्रपाठकद्वादशानुवाकभाष्यारम्भे सायणाचार्याः)

सहस्रपात् । पादानामङ्गानां सहस्राणि यस्य स सहस्रपात् । एतद्गुणः पुरुषः तद् व्याप्यातिक्रम्य स्थित इति ।

महीधरभाष्यम्

रमाकान्तं गिरं नत्वा हेरम्बं शिवमम्बिकाम् ।
एकत्रिंशेऽधुनाध्याये वेददीपो निगद्यते ॥

'नियुक्तान् ब्रह्माभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति' (का० श्रौ० २१।१।११) । अस्यार्थः नियुक्तान् ब्राह्मणमित्यादिपशून्, सहस्रशीर्षेत्यनुवाकेन षोडशर्चेन ब्रह्मा स्तौति होतृवदिति । त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामित्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः। 'त्रैधातव्यन्ते समारोह्यात्मन्नग्नी सूर्यमुपस्थाय "अद्भ्यः सम्भृतः" (शु० य० सं० ३१।१७-२२) इत्यनुवाकेनानपेक्षमाणोऽरण्यं गत्वा न प्रत्यवेयाद् ग्रामे वा विवत्सन्नरण्योः' (का० श्रौ० सू० २१।१।१७-१८) । 'त्रैधातवी उदवासनीयेष्टिस्तदन्ते' 'अयं ते योनिः' (शु० य० सं० ३।१४, १२।५२, १५।५६) इत्यग्नी आत्मनि समारोह्य तदुष्माणमास्ये प्रवेश्याद्भ्यः सम्भृतः' (शु० य० सं० ३१ १७-२२) षड्चेनानुवाकेन सूर्यमुपस्थाय पश्चादपश्यन् वनं गत्वा ग्रामं नागच्छेत् । वानप्रस्थो भवेदित्यर्थः । यद्वा ग्रामे वस्तुमिच्छन्नरण्योरग्नी समारोप्यार्कोपस्थानानन्तरं ग्रामे गत्वा यज्ञान् कुर्यादिति सूत्रार्थः ।

अथ मन्त्रार्थः—नारायणपुरुषदृष्टा जगद्बीजपुरुषदेवत्याः षोडशर्चः पञ्चदशानुष्टुभः षोडशी त्रिष्टुप् । 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (शु० य० सं० ३०।५) इत्याद्याः पुरुषमेधरूपस्य परमात्मनोऽवयवाः पूर्वाध्यायान्ते प्रोक्तास्तेषामवयवी पुरुषोऽत्र स्तूयते । अव्यक्त-महदादि विलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः । 'पुरुषान्न परं किंचिद्' (कठोप० १।३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराजाख्योऽस्ति । कीदृशः ? सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दो बहुत्ववाची । सङ्ख्यावाचकत्वे सहस्राक्ष इति विरोधः स्यात् । नेत्रसहस्रद्वयेन च भाव्यम् । ततः सहस्रमसङ्ख्यानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य सः । 'शीर्षश्छन्दसि' (पा० ६।१।६०) इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्नादेशः । शिरोग्रहणं सर्वावयवोपलक्षणम् । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि । तद्देहान्तःपातित्वात् सर्वस्यैवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवमग्रेऽपि । सहस्राक्षः । सहस्रमक्षीणि यस्य सः । अक्षिग्रहणं सर्वज्ञाने-

न्द्रियोपलक्षकम्। सहस्रपात्। सहस्र पादा यस्य। 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) इति पादस्यान्त्यलोपः। पादग्रहणं कर्मेन्द्रियोपलक्षणम्। स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपां सर्वतः। तिर्यग् ऊर्ध्वमधश्च स्पृत्वा व्याप्य। स्पृणोतिर्व्याप्ति कर्मा। यद्वा—भूमिशब्दो भूतोपलक्षकः। पञ्चभूतानि व्याप्य दशाङ्गुलपरिमितं देशमध्यतिष्ठत्। अतिक्रम्यावस्थितः। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः। यद्वा—नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। नाभित इति कुतो लभ्यते ? 'कतम आत्मा' इत्युपक्रम्य 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' (बृहदा० ४।३।७) इति श्रुतेर्विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थाने कर्मफलोपभोगायान्तर्यामिणो नियन्तृत्वेन। तदुक्तम्—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति'॥ (ऋ० १।१६४।२०; अथर्व० सं० ९।९।२०; मुण्डकोप० ३।१।१, श्वेताश्वतरोप० ४।६) इति। स पुरुषोऽत्र देवता। तथा च श्रुतिः–'इमे वै लोकाः पूरयमेवपुरुषो योऽयं पवते सोऽस्या पुरि शेते तस्मात् पुरुषः' (शत० ब्रा० १३।६।२।१) इति॥

हिन्दीभाषान्तर

पुरुष, हजारो सिर वाला, हजारों नेत्रों वाला (तथा) हजारों पैरों वाला है। वह भूमि को सब ओर से आवृत कर दश अंगुल का अतिक्रमण कर अवस्थित हो गया।

टिप्पणियाँ

१. सहस्रशीर्षा—सहस्रं शीर्षाणि यस्य सः, ब० व्री०, (शीर्ष को शीर्षन् आदेश—'शीर्षश्छन्दसि' (पा० ६।१।६०)। हजारो शिरो से युक्त। जिसके हजार शिर हो। सायण–सहस्र उपलक्षणमात्र है। सहस्र से अनन्त का बोध होता है। अतएव भाव हुआ–असंख्य शिरो से युक्त पुरुष। संसार के समस्त प्राणी उस विराट् पुरुष से ही उत्पन्न होते हैं, अतएव उनका शरीर भी उसी पुरुष का है।

उव्वट के अनुसार सहस्र शब्द अनेक का पर्याय है। अतएव अनेक शिरवाला विराट् पुरुष। महीधर के विचार में सहस्र शब्द बहुत्व का वाचक है। सहस्र को बहुलवाचक न मानकर संख्यावाचक स्वीकारने पर उस पुरुष को दो हजार नेत्रों से युक्त होना चाहिए—पर है वह 'सहस्राक्ष'; सिर कह

देने से अन्य शारीरिक अंगो की भी अनिर्वक्ति हो जाती है, अर्थात् उस पुरुष के अंगो की गणना का प्रयत्न सिकता-तैल है।

इसी प्रकार–सहस्राक्षः एवं सहस्रपात् का भी अर्थ करना चाहिए। इन पदो में भी सहस्र शब्द आनन्त्य का ज्ञापक है। सहस्रमक्षीणि यस्य सः सहस्राक्षः—हजारो आँखो वाला=अनन्त नयनो से युक्त। सहस्रं पादा यस्य—सहस्रपात्—'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) से पाद के द के अ का लोप हो गया। अनन्त पैरों वाला 'अक्षि' (नेत्र) तथा 'पाद' (पैर) शब्दो के द्वारा क्रमशः सकल ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो का बोध होता है। ये तीनो पद पुरुष की महिमा का ज्ञापन करते हैं। तुलनीय—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
ऋ० १०।८१।३; शु० य० सं० १७।१९।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
श्वेताश्व० ३।१६।

मैकडोनेल तथा पीटर्सन भी इसी अर्थ को स्वीकारते हैं।

२. पुरुषः—पुरि शेते इति। पुर्+शी+कः—प्राण अथवा शरीर में स्थित आत्मा, भौतिक जगत् में स्थित प्राण। श० ब्रा० के अनुसार दृश्यमान लोकों को पुर कहते हैं, उस पुर में स्थित व्यापक पुरुष है। पृ—भरना, पिपर्ति इति—समस्त पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्म। पूर्व+अस्—पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' (पा० ५।३।३९)। पुरः—पुरः शेते समस्त पदार्थो में पहले से विद्यमान प्रजापति।

पुरति—पुर् (आगे चलना)+कुषन् (उणा० ४।७४)। पूरयति—पूरी (आप्यायित करना)+कुषन्। अग्रगामी, समस्त पदार्थो को आप्यायित करने वाला।

सायण—प्राणिसमूह की समष्टि के रूप में स्थित ब्रह्माण्डशरीरी विराट् नाम वाला पुरुष। उव्वट—नारायण अभिधानवाला पुरुष। महीधर—अव्यक्त, महत् आदि से विलक्षण चेतन पुरुष।

वैदिक धारणाओं के परिसर में धर्म या तत्त्व की दृष्टि से 'पुरुष' की धारणा सर्वातिशायिनी है। यहाँ 'पुरुष' शब्द से विश्व के अन्तिम सत्य पुरुषरूप परमेश्वर की अभिव्यक्ति की गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी को 'उत्तमपुरुष' की आख्या प्रदान की गयी है। वेदों में आदिपुरुष को अग्निरूप अथवा सूर्यरूप में स्वीकारा गया है। अग्निचयन में आहित 'हिरण्मय पुरुष' इसी 'सौर पुरुष' का प्रतिनिधित्व करता है। तामस पाश के छिन्न होने पर मनुष्य आदित्यवर्ण महान् पुरुष को जानकर मृत्यु की सीमा का अतिक्रमण कर लेता है। इससे बढ़कर श्रेयस् का अन्य पथ नहीं है (शु० य० सं० ३१।१८)। मानव-चेतना, काल-चेतना तथा विश्व-चेतना में तत्त्व रूप में पुरुष अवस्थित है। आदित्य में स्थित पुरुष कालचैतन्य है। इस कालचैतन्य के अभाव में संवत्सरात्मक काल या महाकाल का सम्बोध दुष्कर है। ऋतुचक्र का निरन्तर आवर्तन असम्भव है। विश्वचेतना का परम तत्त्व विराट् पुरुष है। मानव चैतन्य आत्मा उसकी एक मूर्च्छना मात्र है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य यही पुरुष है, अतएव याज्ञवल्क्य शाकल्य से कहते हैं—तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृहदा० ३।९।२६)। 'ऋग्वेद के विद्वान् महदुक्थ में उसी का विचार करते हैं। अध्वर्यु अग्निचयन में इसी की मीमांसा करते हैं। सामवेदी महाव्रत में इसी का मनन करते हैं। पृथिवी, स्वर्ग, वायु, आकाश, जल, ओषधि, वनस्पति, चन्द्र, नक्षत्र, प्राणिमात्र आदि में इसी की उपासना की जाती है'—

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एवं महाव्रते छन्दोगा एतस्यामेतं दिव्येतं वायावेतमाकाशं एतमप्स्वेतमोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते।—ऐ० आ० ३।२।३। तुलनीय श० ब्रा० १०।१।२।२०।

३. भूमिम्—भवतीति भूमिः—भू + मिः (उणा० ४।४५)—ब्रह्माण्ड-गोलक को। उव्वट—भुवनकोश की भूमि को। महीधर—ब्रह्माण्डीय लोकों की भूमि को अथवा पाँचो महाभूतो को—क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश। मैकदोनेल—पीटर्सन—पृथ्वी। यजुर्वेद में अनुस्वार के आगे यदि सकार होता है तो अनुस्वार तो ग्वँ पढ़ा जाता है।

४. विश्वतो वृत्वा—वृ + क्त्वा—सायण—उव्वट-महीधर चारों ओर से आच्छादित कर। सबको व्याप्त कर। यजुर्वेद के 'सर्वतः स्पृत्वा' का भी यही अर्थ है—सर्वतः सर्व + तसिल्—पञ्चम्यास्तसिल् (पा० ५।३।७) विश्वतः की व्युत्पत्ति [विश्व + तसिल्]—सब ओर से। स्पृत्वा = स्पृ + क्त्वा—व्याप्त कर।

५. दशाङ्गुलम्—सायण—दश अंगुल स्थान। दशाङ्गुल उपलक्षक है, वस्तुतः वह ब्रह्माण्ड के बाह्य पदार्थों में भी व्याप्त होकर अवस्थित है। उव्वट (शौनक)—दश इन्द्रियाँ। दश अङ्गुल के प्रमाण वाला हृदय-प्रदेश। नासिका का अग्र भाग।

मैकदोनेल के विचार में यह केवल कथ्य शैली है। वस्तुतः उसका आकार पृथ्वी से भी बड़ा था। पीटर्सन—दश अङ्गुलियों की लम्बाई।

यह अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का प्रत्येक पाद आठ वर्णों का होता है। इस प्रकार, वृत्वात्यतिष्ठत् = स्पृत्वात्यतिष्ठत्, को वृत्वा अत्यतिष्ठत् = स्पृत्वा अत्यतिष्ठत् पढ़ना चाहिए।

यह मन्त्र श्वेताश्वतरोप० ३।१४, तै० आ० ३।१२।१, तथा अथर्व० १९।६।१ में (अथर्व०—सहस्रबाहुः पुरुषः, परिवर्तन के साथ) उपलब्ध होता है।

इस सूक्त की अर्वाचीनता के लिए देखिए—म्योर ओ० टे०। १, पृ० १५ आदि। आर्नाल्ड के विचार मे छन्द की यह लय अत्यन्त नवीन है॥ १॥

पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म्।
उ॒ताम॑त॒त्वस्येशा॒नो यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति॥ २॥

पदपाठः

पुरु॑षः। ए॒व। इ॒दम्। सर्व॑म्। यत्। भू॒तम्। यत्। च॒। भव्य॑म्। उ॒त। अ॒मृ॒त॒ऽत्वस्य॑। ईशा॑नः। यत्। अन्ने॑न। अ॒ति॒ऽरोह॑ति॥ २॥

सायणभाष्यम् २

यदिदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव। यच्च भूतम् अतीतं जगद् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव। यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः

सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवास्तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यम् इत्यभिप्रायः। उतापि च अमृतत्वस्य देवत्वस्यायम् ईशानः स्वामी। यद् यस्मात् कारणाद् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेनातिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात् प्राणिना कर्मफलभोगाय जगदवस्था-स्वीकारान्नेदं वस्तुत्वमित्यर्थः ॥

शु० य० संहितायाम्—

पुरुष एवेद१ सर्वं……भाव्यम्………॥ २ ॥

उव्वटभाष्यम् २

स एव पुरुषः। पूर्वपर्यायविशेषित 'एव' शब्दो नान्यः। इदं वर्तमानात्मकं सर्वं, यच्च भूतमतीतं, यच्च भाव्यं भविष्यत्, तस्य कालत्रयस्येशानः, उत अमृत-त्वस्यापि मोक्षस्यापि। उतशब्दोऽपिशब्दार्थे। कस्मात्। कारणात्। यद् अन्नेन अमृतेन अतिरोहति अतिरोधं करोति। सर्वस्येश्वर इति॥

महीधरभाष्यम्

यद् इदं वर्तमानं जगत् तत्सर्वं पुरुष एव। यद् भूतमतीतं जगद् यच्च भाव्यं भविष्यं जगत् तदपि पुरुष एव। यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः, तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमिति भावः। उतापि च। अमृतत्वस्य देवस्य ईशानः स्वामी स पुरुषो यद् यस्माद् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन फलेन निमित्तभूतेनातिरोहति स्वीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्य-माना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मात् पुरुष एव। प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्था-स्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः। यद्वा—सर्वं पुरुषश्चेत्तर्हि परिणामीत्याशङ्क्याह— अमृतत्वस्य अमरणधर्मस्य ईशानो मुक्तेरीशः। यो हि मोक्षेश्वरो नासौ म्रियत इत्यर्थः। किञ्च यज्जीवजातम् अन्नेनातिरोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशानः। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्तः तस्यान्नेनैव स्थितेः, इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति, इति श्रुतेः॥

हिन्दीभाषान्तर

यह सब कुछ—जो उत्पन्न हो चुका है और जो उत्पन्न होगा तथा अमरता का स्वामी (और) जो अन्न से बढ़ता है—पुरुष ही है।

टिप्पणियाँ

१. पुरुष एव—पुरुष ही है। उव्वट—'एव' शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतएव पूर्वकथित पर्यायों से विशिष्ट पुरुष ही वहाँ व्याप्त है, उससे व्यतिरिक्त कोई दूसरा नहीं।

२. इदम्—सायण, उव्वट, महीधर—यह वर्तमान जगत्। यजुर्वेद में जब अनुस्वार 'स' के पूर्व आता है, तब उसका उच्चारण 'ग्वँ' होता है तथा ँ चिह्न से व्यक्त किया जाता है।

३. यत् भूतं यत् च भव्यम्—भू + क्तः–भूतम्। भू + ण्यत्—'भव्यगेय:' (पा० ३।४।६८) से निपातन—सिद्ध—भव्यम्। अतीत, भावी–जो कुछ हो चुका है, जो कुछ होने वाला है। सायण—महीधर–जिस प्रकार इस कल्प में वर्तमान प्राणि-शरीर उस विराट् पुरुष के अवयव हैं, उसी प्रकार से वे अतीत में थे एवं भावी जीवन में रहेंगे। मैकदोनेल आदि भी इसी का अनुगमन करते हैं।

४. उत अमृतत्वस्य ईशानः–उत—और नास्ति मृतिर्मरणं यस्य यस्मिन् तत् तस्य भावः—अ + मृत + त्व—अमरता ईशानः—ईश + शानच् या चानश् = स्वामी। सायण—देवत्व का स्वामी। उव्वट—मोक्ष का स्वामी। महीधर—देवत्व अथवा मोक्ष का स्वामी। मैकदोनेल–अमरता का स्वामी। पीटर्सन–अमरता पर शासन करता हुआ–अमरता का शास्ता।

५. यत् अन्नेन अतिरोहति—सायण—महीधर—(वह देवत्व का स्वामी है) यत्—क्योंकि (वह) (अन्नेन) प्राणियों के भोग्य फल अन्न के कारण (अतिरोहति) अपनी कारण अवस्था का परित्याग कर परिदृश्यमान जागतिक अवस्था को प्राप्त करता है। महीधर अन्य अर्थ भी उपन्यस्त करते हैं- (यत्) जो जीव-समूह (अन्नेन) अन्न से (अतिरोहति) उत्पन्न होता है (पुरुष उस सबका स्वामी है)। यदि सब कुछ पुरुष ही है, तो वह परिणामी है, इस विचिकित्सा को दृष्टि में रख प्रस्तुत किया जाता है—(उतामृतत्वस्येशानः)- वह अमृतत्व का—मोक्ष का स्वामी है। कहीं मोक्षेश्वर की भी मृत्यु होती है!

उव्वट के विचार से—(यत्) क्योंकि (वह) (अन्नेन) अमृत से (अतिरोहति) अतिरोध करता है, (अतः मोक्ष का स्वामी है)।

म्योर के अनुसार भागवत पुराण के व्याख्यान को दृष्टि में रखते हुए इसका अर्थ होगा—'देखते हुए उसने मानवीय अन्न का अतिक्रमण किया है।' अथर्ववेद में उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह, १९।६।४—पाठ है—वह अमरत्व का स्वामी है, क्योंकि वह दूसरे मिल गया है। उनका अर्थ है—'क्योंकि वह अन्न से फैलता है।'

ग्रॉसमन के अनुसार इसे 'अमृतत्वस्य' से सम्बद्ध करना चाहिए। (अमरता) जो हमारे यज्ञों से पुष्ट की जाती है।

लुडविग के विचार से–'जो अन्न से स्थित है; वह उससे ऊपर वितत है'।

मैकडोनेल—मन्त्र १ का अत्यतिष्ठत्, मन्त्र ५ का अत्यरिच्यत–इन दोनों की अतिरोहति से तुलना करने पर दो बातों का संकेत उपलब्ध होता है। (१) पुरुष कर्ता है और 'यत्' (देवता) कर्म। (२) प्रथम (पुरुष) जो अवमों (देवों) को अन्न से=यज्ञान्न द्वारा अतिक्रान्त करता है। जो (देव) (यज्ञ के) अन्न से बढ़ते हैं', तथा 'और जो कुछ अन्न से उत्पन्न होता है उसका'—इन दोनों व्याख्यानों में अति का पूरा-पूरा भाव स्पष्ट नहीं होता है।

यह मन्त्र श्वेता० ३।१५; तै० आ० ३।१२।२ तथा अथर्व० १९।६।४ में (अथर्व०—उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह) मिलता है।

छन्द की दृष्टि से ऋग्वेद में 'भव्यम्' के स्थान पर 'भवियम्' तथा शु०य० सं० में 'भाव्यम्' के स्थान पर 'भावियम्' पढ़ना चाहिए ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो
ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

पदपाठः

एतावान् । अस्य । महिमा । अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः । पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद् यावदस्ति, एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतो महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थोऽशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे। व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० आ० ८।१, तै० उ० २।१) इत्याम्नातस्य (०म्नानात्) परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः॥

शु० य० संहितायाम्॥ ३॥ ज्यायांश्च

उव्वटभाष्यम् ३

अस्य पुरुषस्य पूर्वोक्त विशेषणविशेषितस्य एतावान् महिमा एतदेव महत्त्वमस्य। अतः कारणाद् ज्यायाश्च पुरुषः। महानित्यर्थः। कस्मान्महत्त्वमायातम्। यस्मात् पाद एकोंऽशोऽस्य पुरुषस्य विश्वा भूतानि विश्वानि चतुर्दशभुवनसमूहे यानि चतुर्धा भूतानि तान्येकोंऽशः। त्रिपात् पुनस्त्रयोंऽशा अस्य पुरुषस्यामृतम् ऋग्यजुःसामलक्षणम् आदित्यलक्षणं वा दिवि द्योतत इति॥

महीधरभाष्यम्

अतीतानागतवर्तमानकालसम्बद्धं जगद् यावदस्ति। एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषो विभूतिर्न तु वास्तवं—स्वरूपम्। वास्तवपुरुषस्तु। अतोस्मान् महिम्ना जगजालाज्ज्यायाश्च अतिशयेनाधिकः। एतदुभय स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्ट त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं तद् दिवि द्योतनात्मकस्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै आ० ८।१, तै० उप० २।१) इत्याम्नातस्य (०म्नानात्) परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं, तथापि जगदिदं ब्रह्मरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादोपन्यासः॥

हिन्दीभाषान्तर

इस पुरुष की इतनी महिमा है और पुरुष इससे अधिक बड़ा है। समस्त प्राणी इसका चतुर्थांश है, इसका तीन-चौथाई द्युलोक में अमर है।

टिप्पणियाँ

१. एतावान् अस्य–एतत् + वतुप्–। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे–'(पा० ५।२।३९) से वतुप्, 'आ सर्वनाम्नः' (पा० ६।३।९१) से आकार—एतावान्—इतना। सायण–महीधर–अतीत, अनागत एवं वर्तमानकाल से जो कुछ भी सम्बद्ध है।

मैकदोनेल—ऐसे स्थलों पर 'आन्' को 'आँ' होता है। ऋग्वेद के प्राचीन भागों में यही सन्धि का रूप उपलब्ध होता है। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में (१०।८५।४५ में 'पुत्रान् आ' में भी) उपर्युक्त सन्धि-स्वरूप की अनुपलब्धि इस सूक्त की अर्वाचीनता की द्योतक है।

२. पुरुषः—पदपाठ में 'पुरुषः' संहिता में छन्द की दृष्टि से दीर्घ हुआ है। अनुवर्ती काल में 'पूरुष' को भी स्वीकृति मिली है।

३. अमृतम्—सायण—विनाशरहित पुरुष। महीधर सायण का अनुगमन करते हैं। उव्वट–ऋक्, यजुष् और सामरूप वाला अथवा आदित्य रूप वाला। इस ऋक्–यजुष्–सामरूप पुरुष का वर्णन वक्ष्यमाण मन्त्र में है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो, गायत्रं चक्षु, बृहद्रथन्तरे पक्षौ, स्तोम आत्मा, छन्दांस्याङ्गानि, यजूंषि नाम, साम ते तनूर्वामदेव्यं; यज्ञायज्ञियं पुच्छं, धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत।

[शु० य० सं० १२।५; तै० सं० ४।१।१०; का० सं० १६।८५, मै० सं० २।७।८; श० ब्रा० १०।५।२।२; तै० आ० प० १४]

तु०—यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्तिरव्ययः।
स ब्रह्मेति विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महान्॥

—शां. आ. ३।७

श० ब्रा० में आदित्यमण्डल का स्वरूप भी ऋग्-यजुष्-सामलक्षण है—

यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्, ताऽऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः, अथ य

एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद् हैतदप्यविद्वांसऽआहुस्त्रयी वाऽएषा विद्या तपति…। १०।५।२।१-२।

वैदिक सुपर्ण, अग्निचयन का पुरुष एवं आदित्य एक ही है। आदित्यवर्ण की विलोकन-महनीयता का प्रतिपादन याजुष् प्रस्थान में सम्प्रतिष्ठ है (देखिए, इसी सूक्त का १८ मन्त्र)।

'अमृतम्' में मृत आदि स्वर उदात्त है—'नञो जरमरमित्रमृताः' (पा० ६।२।११६)।

४. दिवि—द्योतनात्मक स्वप्रकाश; स्वरूप में—सायण-महीधर। मैक-डोनेल—स्वर्गलोक में। पीटर्सन—आकाश में।

सायण—महीधर के विचार में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति द्वारा आम्नात परब्रह्म की इयत्ता का निर्देश असम्भव है। उसके पादचतुष्टय का निरूपण अशक्य होते हुए भी यहाँ केवल इतना कथ्य है कि यह परिदृश्यमान नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म की अपेक्षा अल्पीयान् है।

म्योर (ओ० सं० टे०, ५, पृ० ३६८-३६९) का कथन है कि इस मन्त्र की तुलना अथर्ववेद १०।८।७-१३ से करनी चाहिए। वहाँ वर्णित है—ब्रह्म का सहस्राक्षर एकनेमिचक्र निरन्तर गतिशील रहता है, उस चक्र के आधे भाग से समग्र विश्व की रचना की गयी। अवशिष्ट अर्धांश कहाँ है ? इसे कौन बता सकता है ?

> एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
> अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव ॥
>
> अ० वे० १०।८।७।

गर्भ में स्थित अदृश्यमान प्रजापति बहुधा विभिन्न रूपों में उत्पन्न होता है। अपने अर्धांश से वह समग्र भुवन को उत्पन्न करता है, पर अवशिष्ट अर्धांश का कौन-सा पदार्थ प्रकेत (प्रज्ञापक) है ?

अथर्ववेद-निर्दिष्ट उपर्युदित तथ्य का यहाँ इतर प्रकार से प्रस्ताव परि-लक्षितव्य है। तुलनीयः अ० वे० १०।७।८-९।

छन्द की दृष्टि से 'महिमा अतो' पढ़ना चाहिए।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।३ में तथा अ० वे०१९।६।३ में—तावन्तो अस्य महिमानस्ततु⋯परिवर्तन के साथ उपलब्ध है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

पदपाठः

त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति । ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् । साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयम ऊर्ध्व उदैत्। अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्यास्य सोऽयं पादो लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनरभवत्। सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तम्—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥" (भ० गी० १०।४२) इति। ततो मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामद् व्याप्तवान्। किं कृत्वा? साशनानशने [अभि] अभिलक्ष्य साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम्। अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥

शु० य० संहितायाम्—

⋯व्यक्रामत्⋯॥ ४ ॥

उव्वटभाष्यम् ४

यस्मादयं पुरुषस्त्रिपाद् त्र्यंशभूत ऊर्ध्व उपरिष्टाद् उदैद् देदीप्यमानस्तिष्ठति। अस्य च पुरुषस्य पाद एकोंऽश इह त्रैलोक्ये बीजभूतं चतुर्षु भूतेषु अभूद् भूतम्। ततस्तस्मात् कारणात् विष्वङ् भुवनकोशं व्याक्रामद् उत्पन्नमित्यर्थः। तस्मादेव पुरुषात्। साशनानशने अभि साशनं स्वर्गम् अनशनं मोक्षं सर्वं जगत् स्वर्गंप्रति मोक्षं प्रति च तस्मादेवोत्पन्नमित्यर्थः ॥

महीधरभाष्यम्

योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसारस्पर्शरहितब्रह्मरूपः, अयमूर्ध्वं उदैद् अस्माद् ज्ञानकार्यात् संसराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्यास्य पादः लेशो जगद्रूप इह मायाया पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तम्—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (भ० गी० १०।४२) इति। ततो मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् विषु सर्वत्राञ्चतीति विष्वङ् देवतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामद् व्याप्तवान्। किं कृत्वा? साशनानशने अभि अभिलक्ष्य। अशनेन सह वर्तमानं साशनम् अशनादिव्यवहारोपेतं चेतनप्राणिजातम्। अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। ते अभिलक्ष्य स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः॥

हिन्दीभाषान्तर

पुरुष तीन चौथाई ऊपर उठ गया और इसका चतुर्थांश पुनः इस लोक में हुआ, अतएव खाने वालों और न खाने वालों को उसने चारों ओर से व्याप्त कर लिया।

टिप्पणियाँ

१. त्रिपात्—त्रयः पादाः अस्य—'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) से 'पाद' के अन्त्य अ का लोप। सायण-महीधर—संसार के सस्पर्श से रहित ब्रह्मरूप पुरुष, जो पूर्ण पुरुष का 'तीन-चौथाई' (त्रिपात्) है।

२. ऊर्ध्व उदैत्—ऊपर उठ गया। उदैत्—उत्+इण् गतौ+लङ्, प्र० पु०, ए० व०। सायण-महीधर—इस अज्ञानकार्य संसार से बहिर्भूत जागतिक गुण-दोषों के संस्पर्श से रहित पुरुष उत्कर्षपूर्वक स्थित हुआ। मैकदोनेल—अमरो के लोक में ऊपर उठ गया। पीटर्सन—ऊपर चला गया। उव्वट—ऊपर देदीप्यमान होकर स्थित है। 'ऊर्ध्व' में अन्त्य स्वर उदात्त—'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' (पा० ६।२।१९७)।

छन्द की दृष्टि से '—दूर्ध्वौदैत्' पढ़ना चाहिए। इस पाद में आठ वर्णों के स्थान पर नव वर्णों का प्रयोग किया गया है।

३. पादः अस्य इह अभवत्। पुनः—सायण-महीधर—उस पुरुष का चतुर्थांश जगद्रूप हो माया में पुनः स्थित हुआ। पुरुष सृष्टि एवं संहार के

द्वारा इस संसार में बार-बार आता है। उव्वट—इस पुरुष का एक अंश इस त्रिलोक में चारों भूतों में बीज-रूप में स्थित हुआ। मैकदोनेल—पुरुष का चौथाई अंश यहाँ पुनः जीवन में आया। पीटर्सन—चतुर्थांश यहाँ रह गया। मैकदोनेल—पुनः—अपने प्रकृत रूप से। ततः = भौम क्षेत्र से।

'त्रिपात्' में 'पात्' आद्युदात्त है।

४. विष्वङ्—सायण—महीधर—(ततः) वहाँ से अथवा तब माया में आने के पश्चात् देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपों में। महीधर—विषु सर्वत्र अञ्चति इति वि + अञ्च् (गति) + क्विन् (पा० ५।३।९) सब में गति रखने वाला, व्याप्त होने वाला। उव्वट—भुवनकोश। मैकदोनेल—चारों ओर से। पीटर्सन—चारों ओर। ञित् होने से 'विष्वङ्' का आदि स्वर उदात्त है—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७)।

५. व्यक्रामत्—वि + क्रम् + लङ्, प्र० पु०, ए० व०। सायण-महीधर—व्याप्त हो गया। उव्वट—उत्पन्न हुआ। मैकदोनेल—अपने को विभक्त किया, विकसित किया। पीटर्सन—प्रसरित हो गया, फैल गया।

छन्द की दृष्टि से 'वि अक्रामत्' पढ़ना चाहिए। आठ वर्णों के स्थान पर सात ही वर्ण हैं।

६. साशनानशने—अशनेन सहितं साशनं, अविद्यमानम् अशनं यस्य, अनशनं, साशनं च अनशनं च, साशनानशने—द्वन्द्व समास। अश्यते इति अशनम्—अश् (भोजन करना) + ल्युट्। सायण—महीधर—भोजन आदि व्यवहार से युक्त चेतन प्राणिसमूह तथा भोजन आदि व्यवहार से रहित अचेतन गिरि, नदी आदि। उव्वट—स्वर्ग एवं मोक्ष। मैकदोनेल—खाने वाले तथा न खाने वाले। पीटर्सन—सजीव एवं जीवनरहित संसार। मैकदोनेल के विचार से यह द्वन्द्व समास इस सूक्त की उत्तरवर्तिता का द्योतक है।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।४ एवं अथर्ववेद १९।६।२ में—त्रिभिः पुद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः। तथा व्यक्रामद् विष्वङ्ङशनानशने अनु॥—इस रूप में उपलब्ध होता है॥ ४॥

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

पदपाठः

तस्मात् । विऽराट् । अजायत । विऽराजः । अधि । पूरुषः । सः । जातः । अति । अरिच्यत । पश्चात् । भूमिम् । अथो इति । पुरः ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम् ५

विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते । तस्माद् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव (० त्मा से एव) स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराज देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव" (नृ० ता० २।१।९) इति । स जातः विराट्पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत् । विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषा जीवाना पुरः ससर्ज । पूर्यन्ते सप्तधातुभिरिति पुरः शरीराणि ॥ (इति सप्तदशो वर्गः)

शु० य० संहितायाम्—

ततो विराडजायत…॥ ५ ॥

उव्वटभाष्यम् ५

तस्मादेव पुरुषाद् विश्वोत्पत्तिः । तत्र पूर्वं विराड् अजायत । विराजोऽधिपूरुषः प्रधानं तेजः । स क्षेत्रज्ञो ब्रह्मा सृष्टिकृत् जातः सन् अतिरिच्यते । पश्चाद् अस्मात् क्षेत्रज्ञाद् ब्रह्मणो भूमिः पृथिव्यादौ जाता उत्पन्ना इति । अथोऽनन्तरं पुरः शरीराणि चतुर्विधानि भूतान्यजायन्त । पुरादीनि तेनैवोत्पादितानि । एवमेकोंऽशः । तेनैव सर्वं विश्वमुत्पादितमिति ॥

महीधरभाष्यम्

विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्च्यते। ततस्तस्मादादिपुरुषाद् विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत जातः। विविधं राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमान्येक एव पुमानजायत। सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वमायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवदित्यर्थः। एतच्चाथर्वणोत्तरतापनीये स्पष्टमुक्तम्—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वात्र[1] प्रविष्ट इव विहरति" इति। किञ्च स जातो विराट् पुरुषोऽत्यरिच्यत अतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चाद् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तधातुभिरिति पुरः शरीराणि॥

हिन्दीभाषान्तर

उस पुरुष से विराज् उत्पन्न हुआ। (और) विराज् से पुरुष (उत्पन्न हुआ)। वह उत्पन्न (पुरुष) पीछे तथा आगे की भूमि से अधिक हो गया।

टिप्पणियाँ

१. तस्मात्—उससे। सायण—महीधर—('विष्वङ् व्यक्रामत्' के द्वारा पूर्व मन्त्र में जो प्रतिपादन किया गया है, इस मन्त्र में उसी का प्रपञ्च किया जा रहा है।) उस आदिपुरुष से। उव्वट—उसी पुरुष से (विश्वउत्पत्ति हुई)। मैकदोनेल—पुरुष के अविकृत अंश से। यजुर्वेद के 'ततः' का भी यही अर्थ है।

२. विराट्—सायण—महीधर—विविधं राजन्ते वस्तूनि अत्र इति (वि + राज् + क्विप्)—जिसमें विविध पदार्थ विद्यमान हों, वह विराज् है। (विशेषेण राजति – विराट् विशेष रूप से दीप्तिमान्) ब्रह्माण्डदेह। मैकदोनेल—आदि पुरुष एवं व्याकृत पुरुष के मध्य की स्थिति विराज् है।

---

[1] अस्य वाक्यस्य पाठो मुद्रितनृसिंहतापनीयोपनिषदि नवमखण्डे किञ्चिद्भेदेनोपलभ्यते, यथा—"स वा एष······कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते, माययैव··· इति। एवमेव तु सायणभाष्येऽपि॥" इति पादटिप्पण्यां प्राथमिकवेदसङ्ग्रहस्य षट्षष्टितमे पृष्ठे पं० रघुवरमिट्ठूलालशास्त्री, डॉ० चण्डिकाप्रसादशुक्लश्च।

ऋग्वेद में पद के मध्य में डकार को 'ळ' तथा ढकार को 'ळ्ह' हो जाता है—पदमध्यस्थडकारस्य ळ्कारं बह्वृचा जगुः। पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बह्वृचा जगुः ॥ सा० भा०, ऋ० १।१।१। तु०, ऋ० प्रा० १।५२।

३. विराजो अधि पूरुषः— सायण—महीधर—विराज् के शरीर को अधिकरण बनाकर उस शरीर का अभिमानी एक पुरुष उत्पन्न हुआ। सर्ववेदान्तवेद्य वही परमात्मा अपनी माया से ब्रह्माण्डरूप विराट् देह की सृष्टि कर तथा उसमें जीवरूप से प्रवेश कर ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव हुआ। उव्वट—प्रधान तेजोरूप सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के रूप में वह क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होकर प्रमुख हुआ। उव्वट की वाक्ययोजना इस प्रकार है—ततः विराड् अजायत, विराजः अधिपूरुषः, स जातः (अतिरिच्यते)।

मैकदोनेल-पीटर्सन–विराज् से पुरुष उत्पन्न हुआ। इन्होंने विराज् में पञ्चमी मानी है। यहाँ चाहे षष्ठी विभक्ति मानी जाय अथवा पञ्चमी, अर्थ अथवा भाव में विसदृशता नहीं आती। विराज् तथा उससे उत्पन्न पुरुष का वर्णन यहाँ किया गया है, दोनों में जन्य-जनकभाव स्पष्ट है। तुलनीय–अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाददितिः परि–ऋ० १०।७२।४ देखिए–ऋ० १।१६४।२०; अथर्व० ९।९।२०; मुण्डकोप० ३।१।१; श्वेताश्वतरोप० ४।६ तथा ऋ० १।१६४।४४।

४. स जातो अत्यरिच्यत—उत्पन्न हुआ, वह प्रमुख बना। सायण-महीधर—उत्पन्न होने वाला वह विराज् पुरुष अतिरिक्त हुआ—देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि रूपों वाला हो गया। देव आदि की सृष्टि के अनन्तर भूमि एवं शरीरों की रचना की। मैकदोनेल-पीटर्सन—जब वह उत्पन्न हुआ, तब पीछे एवं आगे की भूमि से परे हो गया।

५. पुरः—पूर्यन्ते सप्तधातुभिः इति पुरः—सात शरीर-धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, शुक्र—रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः—सुश्रुत) से प्रपूरित होने वाले—शरीर (सायण-महीधर)। उव्वट—शरीर अथवा चार तरह के भूत। मैकदोनेल-पीटर्सन—आगे।

पीटर्सन के विचार में 'भूमिम्' को 'अत्यरिच्यत' के कर्म के रूप में ग्रहण करना अधिक समीचीन है।

'परः' अस प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है ।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।५ में तथा अथर्व० १९।६।९ में—विराडग्रे समभवद्...। परिवर्तन के साथ उपलब्ध होता है ॥ ५ ॥

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।

व॒स॒न्तो अ॑स्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ ६ ॥

पदपाठः

यत् । पुरु॑षेण । ह॒विषा॑ । दे॒वाः । य॒ज्ञम् । अत॑न्वत । व॒स॒न्तः । अ॒स्य॒ । आ॒सी॒त् । आज्य॑म् । ग्री॒ष्मः । इ॒ध्मः । श॒रत् । ह॒विः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

यद् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्य-द्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वतान्वतिष्ठन्। तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तो वसन्तर्तुरेवाज्यम् आसीत् [अभूत्]। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। [तथा] शरद्धविरासीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्वं पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन सङ्कल्पः। अनन्तरं वसन्तादीना-माज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम् ॥

शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम्—

...। व॒स॒न्तो॒ऽस्या॒सी॒दाज्यं॑......॥१४॥

उव्वटभाष्यम् ६

कथमन्नेनाधिरोहति [० तिरोहति ?]। यद् यस्मात् कारणात् पुरुषेण हविर्भूतेन देवा इन्द्रादयो यथा यज्ञम् अतन्वत विस्तारितवन्तः। तथा योगिनोऽपि पुरुषेणैवामृतभूतेन दीपितेनात्मना आत्मयज्ञं समधिकृतवन्तः। अत्र यज्ञे वसन्त आज्यमासीद् ग्रीष्म इध्मः शरद्धविरिति। इतरयागे वसन्तशब्देन सात्त्विको गुण उच्यते। ग्रीष्मशब्देन राजसः। शरच्छब्देन तामसः। त्रयो हि गुणास्तत्रात्मयज्ञे योगिनो जुह्वतीति ॥

महीधरभाष्यम्

यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेण देवशरीरेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टिसिद्धयर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वतातनिषत तदानीमस्य वसन्त ऋतुरेवाज्यमासीत्। आज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्तः। पूर्वं पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन संकल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम्॥

अत्र कण्डिकाव्युत्क्रमोऽस्ति। अस्यानन्तरं "तं यज्ञम्" (९) ततः "तस्माद्यज्ञात्" इति तिस्रः (६, ७, ८) क्रमेणैव। ततः "सप्तास्यासन्" (१५) इतिक्रमोऽपेक्षितः॥

हिन्दीभाषान्तर

जब देवताओ ने पुरुषरूप हवि से यज्ञ सम्पन्न किया, (तो) इस (यज्ञ) का आज्य (तपा हुआ घृत) वसन्त, समिधा ग्रीष्म (और) हवि शरद् (हुई)।

टिप्पणियाँ

१. सायण तथा महीधर के अनुसार पूर्वकथित क्रम से शरीर-रचना हो जाने पर देवो ने उत्तरसृष्टि की कामना की। उस समय विश्व में अन्य किसी पदार्थ की सत्ता न होने से यज्ञ के निमित्त हवि का अभाव था। इस समस्या के समाधान हेतु देवों ने पुरुष-स्वरूप की हविरूप में मानस आकल्पना की और उसी पुरुष-हवि से मानस-यज्ञ सुप्रतिष्ठ हुआ। इस यज्ञ में आज्य, समिधा एवं हवि के रूप में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुओं का उपयोग किया गया।

उव्वट के विचार से जिस प्रकार इन्द्र आदि देवो ने पुरुष-हवि से यज्ञ किया और उसमें वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् को क्रमशः आज्य, इध्म तथा हवि के रूप में प्रयुक्त किया गया, उसी प्रकार से योगिजन आत्मयज्ञ का सम्पादन करते हैं। आत्मयज्ञ में, योगिसमूह अमृतस्वरूप देदीप्यमान पुरुषप्रतीक आत्मा के द्वारा सम्यक् अधिकार प्राप्त करता है। इस आत्मयज्ञ में सत्त्व, रजस्, तमस् गुणो का हवन किया जाता है। वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणो के प्रतीक हैं।

मैकदोनेल का कथन है कि यहाँ देवताओं के द्वारा व्याकृत पुरुष को हवि बनाकर आदिपुरुष के निमित्त सम्पादित आदर्श पुरुषमेध का वर्णन किया गया है।

२. अतन्वत—तन् + लङ्, प्र० पु०, ए० व० । विस्तृत किया, फैलाया । मैकदोनेल—इस क्रिया का प्रायः 'यज्ञतन्तु' के विस्तार के अर्थ मे आलंकारिक प्रयोग किया जाता है, अतएव इसका अर्थ—करना, संपन्न करना है ।

यजुर्वेद में तृतीय पाद में एक वर्ण कम है, अतः छन्द की दृष्टि से 'आज्यम्' को 'आजियम्' पढ़ना चाहिए । ऋग्वेद के पाठ को देखते हुए 'वसन्तो अस्या०' पढ़ना ही उचित प्रतीत होता है । जब एक पाठ हमारे समक्ष है, जिसमें छन्दोदृष्टि से कोई न्यूनता नहीं है, तब उसे ही क्यो न स्वीकारा जाय ? और अन्य कल्पना से कोई लाभ भी नही है ।

महीधर के विचार से यहाँ मन्त्रो का व्युत्क्रम है । क्रम इस प्रकार होना चाहिए ९, ६, ७, ८, १५ ।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।३, अथर्व १९।६।१० में उपलब्ध होता है ॥६॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

पदपाठः

तम् । यज्ञम् । बर्हिषि । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रतः । तेन । देवाः । अयजन्त । साध्याः । ऋषयः । च । ये ॥ ७ ॥

यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः । कीदृशमित्यत्राह अग्रतः । सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुष जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । एतच्च प्रागेवोक्तम्—"तस्मात् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः" इति । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त । मानसं यागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः । के ते देवा इत्यत्राह । साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयस्तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति । ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥

शु० य० संहितायाम्—तं यज्ञम्०००० ॥ ९ ॥

उव्वटभाष्यम् ९

यथेन्द्रेण तत्र यज्ञेऽग्निष्टोमाख्ये बर्हिषा प्रोक्षितः पुरुषो जातः । तद्वदात्मयज्ञे बर्हिषा प्राणायामेन दीपितेन तस्मिन् पुरुषो जातः । ज्ञानमुत्पद्यते दिव्यम् ।

अग्रतः प्रथमतः। तेन देवा इन्द्रादयः साध्याश्च ऋषयश्च यथायजन्त। तथा देवा योगिनः कपिलादयश्च साध्याश्चापरे ऋषयः। ऋषयश्चाप्येतेनैव (०श्चान्ये तेनैव प्रणवाविद्देन पुरुषेणात्मयज्ञः) कृतवन्त इति ॥

महीधरभाष्यम्

यज्ञसाधने यज्ञशब्दः। यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वमाभाव्य यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः प्रोक्षणादिभिः संस्कारैः संस्कृतवन्तः। कीदृशम्? अग्रतः सृष्टेःपूर्वं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तं ॥ तस्माद् [ततो] विराडजायत विराजो अधि पूरुषः इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयज्ञं निष्पादितवन्तः। के ते देवा इत्याह—ये साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः। ये च तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारस्ते सर्वेऽप्ययजन्त ॥

हिन्दीभाषान्तर

सर्वप्रथम उत्पन्न उस यज्ञ-पुरुष को कुश पर (रखकर) जल छिड़ककर (पवित्र किया)। उससे देवों, साध्यों तथा ऋषियों ने यजन किया।

टिप्पणियाँ

१. साध्याः ऋषयश्च ये—साध्य और ऋषि। सायण—महीधर-सृष्टिसाधन के योग्य प्रजापति आदि तथा तदनुकूल मन्त्रद्रष्टा। ऋषि। उव्वट—(देवाः) योगी कपिल आदि तथा साध्य नामक ऋषि (ऋषि का अन्तर्भाव भी साध्यों में ही हो जाता है)। पीटर्सन—पवित्र, ऋषि और देव।

साध्य शब्द का इस सूक्त में दो बार तथा १।१६४।५० मे उल्लेख हुआ है। मैकदोनेल के अनुसार साध्य प्राचीन स्वर्लोकीय प्राणियों के समूह का बोधक है।

ग्रिफिथ के विचार में साध्य सम्भवतः प्राचीन देव याज्ञिकों की अभिव्यक्ति करता है।

साध्य शब्द निघण्टु (३।५।१४) में रश्मिवाचक शब्दों एवं अन्यत्र (५।६।२८) देव-नामों में पढ़ा गया है। साध् (संसिद्धौ) + ण्यत् 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० ३।१।१२४)। नैरुक्त इसे रश्मिवाचक मानते हैं, परन्तु ऐतिहासिकों के अनुसार ये पूर्वकालिक देवसमूह के रूप में 'विश्वसृज्' नामक ऋषि हैं।

ऋषि के लिए देखिए—वाक्सूक्त मन्त्र ५ पर टिप्पणी।

यह निर्देश किया जा चुका है कि उव्वट इस मन्त्र का अर्थ आत्मयज्ञपरक स्वीकारते हैं। जिस प्रकार अग्निष्टोम यज्ञ में कुशप्रोक्षित पुरुष उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार आत्मयज्ञ में प्राणायाम से प्रदीप्त पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणायाम की साधना से दिव्यज्ञान का उद्भव होता है। बर्हि प्राणायाम का एवं पुरुष दिव्यज्ञान का प्रतीक है। इन्द्र, साध्य एवं ऋषियों ने उस पुरुष से यजन किया है। योगी कपिल आदि एवं अन्य ऋषि आत्मयज्ञ में प्रणव-पुरुष से यज्ञ करते हैं। उव्वट की दृष्टि में विधि-परक यज्ञ एवं आत्मयज्ञ में कोई विभेदक रेखा नहीं है।

छन्द की दृष्टि से 'साध्या' के स्थान पर 'साधिया' पढ़ना चाहिए।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।८ में इसी प्रकार अथर्व० १९।६।११ में—तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः ······वसवश्च ये॥—परिवर्तन के साथ मिलता है॥ ७॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥ ८॥

पदपाठः

तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। सम्ऽभृतम्। पृषत्ऽआज्यम्। पशून्। तान्। चक्रे। वायव्यान्। आरण्यान्। ग्राम्याः। च। ये॥ ८॥

सायणभाष्यम् ८

सर्वहुतः। सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तान्मानसाद् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतं सम्पादितम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं सम्पादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशूंश्चक्र उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः। तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादयस्तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते। "—वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः वायव एवैनान् परिददाति" (तै० ब्रा० ३।२।१।३) इति॥

शु० य० संहितायाम्—

······। पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यान् आरण्या ग्राम्याश्च ये॥६॥

उव्वटभाष्यम् ६

यथा अग्निष्टोमाख्यात् तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यं तेन वायव्यान् पशून् आरण्या ग्राम्याश्च ते तान् कृतवन्तः। एवमात्मयज्ञात् सर्वहुतात् पूरिताद् उत्पन्नेन योगिनः सर्वान् पशून् सर्वाणि भूतजातानि करतलवत् पश्यन्ति। पश्यन्ति किल ज्ञानतेजसा भूतजातानि।

महीधरभाष्यम्

सर्वं हूयते यस्मिन् स सर्वहुत् तस्मात् पुरुषमेधाख्याद् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतं सम्पादितम्। दध्याज्यादिभोग्यजातं सम्पादितमित्यर्थः। पुरुषेणेति शेषः। तथा स पुरुषो वायव्यान् वायुदेवताकान् तान् प्रसिद्धान् पशून् चक्र उत्पादितवान्। "अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः" इति श्रुतेः। अन्तरिक्षस्य च वायुदेवत्यत्वात् पशूनां वायुदेवत्वम्। तान् कान्? ये चारण्या अरण्ये भवा हरिणादयः। ये च ग्रामभवा गवाश्वादयस्तान् पशून् चक्रे॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसमें सब कुछ होम दिया जाता है—सर्वहुत् उस यज्ञ से आज्य की बूँदें भलीभाँति एकत्र की गयीं (उनसे) वायुदेवता से सम्बद्ध, बनैले तथा ग्रामीण पशुओं को बनाया।

टिप्पणियाँ

१. यज्ञात्—सायण—मानस यज्ञ से। महीधर—पुरुषमेध नामक यज्ञ से।

२. सर्वहुतः—सायण—सर्वात्मकः पुरुषो हूयते यस्मिन् तस्मात्—जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होमा गया है (उस यज्ञ से)। महीधर—सर्वं हूयते यस्मिन्—जिसमें सब कुछ होमा गया है, (उस पुरुषमेध यज्ञ से)। सर्व + हु + क्विप् पञ्चमी, ए० व०, 'यज्ञात्' का विशेषण।

३. सम्भृतम्—सम् + हृ + क्तः। वेद में हृ एवं ग्रह धातुओं के 'ह' को भ हो जाता है—'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (वा०, पा० ३।१।८४)। सायण-महीधर—सम्पादित किया गया। मैकदोनेल—एकत्र किया गया। पीटर्सन—उत्पन्न किया गया। भली-भाँति एकत्र किया गया।

४. पृषदाज्यम्—पृषत् च तद् आज्यम् (पृषु सेचने—पर्षति—पृष् + अतच् (उणा० ३।१११), कर्मधारय समासों में अन्त्य पर उदात्त होता है,

अतः 'आज्यम्' में उदात्त। सायण-महीधर—दधि-मिश्रित आज्य (दधि, आज्य आदि भोग्य पदार्थ)। मैकदोनेल—घनीभूत, जमा हुआ घृत। पीटर्सन—घृत।

५. वायव्यान्—वायोः इमे वायव्याः-वायु + अण्। सायण-महीधर-वायु देवता से सम्बद्ध पशु। मैकदोनेल—वायवीय जङ्गली पशु। पीटर्सन—आकाशीय पशु।

यह पद उन अपवादो मे से है जिनमें उच्चारण-दशा में भी स्वतन्त्र स्वरित की स्थिति बनी रहती है। इसके 'अन्' को आगे आने वाले अ के कारण—'दीर्घादटिसमानपादे' (पा० ८।३।९ से) 'आँ' नही हुआ; क्योंकि यह पाद के अन्त में है। इससे यह प्रतीत होता है कि पहले आन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार के पाद मूलतः स्वतन्त्र होते थे (मैकदोनेल, वै० ग्रा० स्टू०, पृ० १९९)।

६. आरण्यान्—अरण्ये भवाः आरण्याः—अरण्य + अण्। सायण-महीधर—लोकप्रसिद्ध वन्यपशु।

७. ग्राम्याः—ग्रामे भवाः—ग्राम + यत्, 'ग्रामाद्यखञौ' (पा० ४।२।९४) गाँव मे होने वाले पशु (गो, अश्व आदि)।

यजुर्वेद के मन्त्र का भी यही अर्थ होता है।

छन्द की दृष्टि से द्वितीय पाद में 'पृषदाज्यम्' के स्थान पर 'पृषदाजियम्' तथा चतुर्थ पाद में 'ग्राम्याश्च' के स्थान पर 'ग्रामियाश्च' पढ़ना चाहिए, क्योंकि दोनो पादों मे एक-एक वर्ण की कमी है।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।३ में तथा अथर्व० १९।६।१४ में भी उपलब्ध होता है।

८. उव्वट यहाँ भी आत्मयज्ञपरक अर्थ करते हैं। इस प्रकार के सर्वहुत् यज्ञ के द्वारा प्राप्त ज्ञानतेज से योगिजन समस्त भूतों को करतलगत देखता है ॥८॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

पदपाठः

तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे। छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम् ९

सर्वहुतस्तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् ऋच सामानि [च] जज्ञिर उत्पन्नाः। तस्माद् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजुरपि अजायत ॥

शु० य० संहितायाम्—
……छन्दा॑ꣳसि……॥७॥

उव्वटभाष्यम् ७

तस्मादेव यज्ञात् सर्वहुतः प्रज्वालिताद् यथा ऋचः सामानि यजूंषि च देवा उत्पादयन्ति छन्दांसि च। एवमात्मयज्ञे प्रणवेन दीपिते स्वयमेव ज्ञानादधिष्ठितानि भवन्ति। एवं येन परमात्मनि ज्ञायते सर्वे जग्धाः (?) सर्वं वाङ्मयं ज्ञानं (तं) भवतीति ॥

महीधरभाष्यम्

सर्वहुतस्तस्माद् यज्ञाद् ऋचः सामानि च जज्ञिर उत्पन्नानि। छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे तस्माद् यजुरप्यजायत। ऋग्यजुःसामभिश्छन्दोभिश्च विना यज्ञा न सिध्यन्ति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसमें सब कुछ होम दिया जाता है—सर्वहुत् उस यज्ञ से ऋचाएँ (और) साम उत्पन्न हुए। उससे छन्द उत्पन्न हुए। उससे यजुष् उत्पन्न हुए।

टिप्पणियाँ

१. ऋचः—ऋचाएँ, ऋग्वेद में स्थित मन्त्रों को ऋक् कहते हैं। जिन मन्त्रों में अर्थ के कारण पाद व्यवस्थित रहते हैं, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् कहते हैं—तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था—जै० सू० २।१।३५। तुलनीय—नियताक्षरपादावसाना ऋक्—उव्वट, शु० य० सं० १।१।

२. सामानि—गेय ऋचाओं को 'साम' कहते हैं—गीतिषु सामाख्या—जै० सू० २।१।३६। इनका संग्रह सामवेद में है।

३. यजुः—ऋक् एवं साम से व्यतिरिक्त मन्त्रों को यजुष् कहते हैं—शेषे यजुः—जै० सू० २।१।३७। तुलनीय—अनियताक्षरपादावसानं यजुः—उव्वट, शु० य० सं० १।१। गद्यमन्त्रों को यजुष् कहते हैं।

सायण एवं महीधर इस मन्त्र से ऋक्, यजुष्, साम एवं छन्दों का ग्रहण करते हैं। सेन्टपीटर्सबर्गकोष के अनुसार छन्द से सम्भवतः जादू-टोने का द्योतन होता। जादू-टोने का वर्णन अथर्ववेद में है, अतः इससे अथर्ववेद का ग्रहण सम्भव है। तुलनीय—ऋचः सामानि छन्दांसि•••११।७।२४ अथर्व० हरिवंश ५।९४९।१ (म्योर; ओ० सं० टे० २, पृ० १८९)।

मैकदोनेल के विचार से इस मन्त्र में ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद चतुर्थवेद के रूप में बहुत बाद में स्वीकृत हुआ है।

सम्भवतः अथर्ववेद के अनेक अंशों की रचना या तो ऋग्वेद के साथ-साथ या उसके पूर्व हुई है (ब्लूमफील्ड, दि अथर्ववेद, पृ० २२ आदि), अतएव छन्द से अथर्ववेद का संकेत मानना तर्कहीन नहीं कहा जा सकता। इस सूक्त की रचना उत्तरकालीन स्वीकारी जाती है, अतएव इसमें अथर्ववेद का संकेत पाना विस्मयावह नहीं होगा।

ऋग्यजुःसामरूपत्वात् त्रयी सा परिकीर्तिता।
कार्यभेदात् त्रयीत्वेऽपि चतुर्धा सा प्रकीर्तिता॥
ऋचो यजूंषि सामानि ह्यथर्वाङ्गिरसस्तथा।
चातुर्होत्रप्रधानत्वादृगादित्रितयं त्रयी॥

—अहि० सं० १२।५-७

उव्वट के विचार से यह मन्त्र भी आत्मयज्ञपरक है। पूर्वोक्त प्रणव पुरुष से आत्मयज्ञ के प्रदीप्त हो जाने पर मनुष्य स्वतः ज्ञान का अधिष्ठान बन जाता है।

९. जज्ञिरे—जन् (आत्मनेपद) + लिट्, प्र० पु०, ब० व०।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।१० मे एवं १९।८८।१३ अथर्व० में (छन्दोंह परिवर्तन के साथ) उपलब्ध होता है॥ ९॥

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॑त् तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑॥१०॥

पदपाठः

तस्मा॑त्। अश्वाः॑। अ॒जा॒य॒न्त॒। ये। के। च॒। उ॒भ॒याद॑तः। गावः॑। ह। ज॒ज्ञि॒रे॒। तस्मा॑त्। तस्मा॑त्। जा॒ताः। अ॒जा॒वयः॑॥ १०॥

सायणभाष्यम् १०

तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः उर्ध्वाधोभागयोरुभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा तस्माद् यज्ञात् गावश्च जज्ञिरे । किंच तस्माद् यज्ञाद् अजावयः च जाताः ॥ (इत्यष्टादशो वर्गः)

शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम्—तस्माद् ॥ ८ ॥

उव्वटमहीधरयोर्भाष्यम् ८

तस्माद् यज्ञादश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के चाश्वातिरिक्ता गर्दभादयोऽश्वतराश्च उभयादतः उभयोर्भागयोर्दन्ता येषां ते उभयदतः । छान्दसं दीर्घत्वम् । ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा ह स्फुटं तस्माद् यज्ञाद् गावश्च जज्ञिरे । किञ्च तस्माद् यज्ञाद् अजावयोऽजा अवयश्च जाताः । न हि पशुभिर्विना यज्ञः सिध्येत ॥

हिन्दीभाषान्तर

उससे घोडे और जो कोई दोनों ओर दाँतो वाले (पशु) (हैं)—उत्पन्न हुए । उससे गायें उत्पन्न हुईं । उससे भेड़-बकरियाँ जनमीं ।

टिप्पणियाँ

१. उभयादतः—उभयोः दन्ताः येषां ते—उभयादतः—ऊपर-नीचे दोनों ओर, जिन पशुओं के दाँत होते हैं उन्हें उभयादत् कहते हैं ।

२.अजावयः—अजाश्च—अवयश्च—अजावयः—बकरियाँ और भेंड़े । पदपाठ में द्वन्द्व समास अवगृहीत नहीं होता । अवि—तुलनीय—ग्रीक ओविस्, लैटिन ओवस् ।

भाष्यकार 'उभयादतः' पद से खच्चर, गधे आदि का ग्रहण करते हैं । पशुओं के बिना यज्ञ सफल नहीं हो सकता, अतएव पशुसृष्टि आवश्यक थी ।

छन्द की दृष्टि से 'चोभयादतः' के स्थान पर 'च उभयादतः' पढ़ना चाहिए । यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।११, अथर्व० १९ । ६ । १२—ये च के चोभ्...में मिलता है ॥ १० ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

पदपाठः

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः । कृतिधा । वि । अकल्पयन् । मुखम् । किम् । अस्य । कौ । बाहू इति । कौ । ऊरू इति । पादौ । उच्येते इति ॥११॥

सायणभाष्यम् ११

प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते । प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड् रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः । अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत् । कौ बाहू अभूताम् । का ऊरू । का च पादावुच्येते । प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥

शु० य० संहिताम्—

····। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥१०॥

उव्वटभाष्यम् १०

यत् पुरुषं देवा इन्द्रादयस्तस्मिन् यज्ञे व्यदधुः कृतवन्तो यथा । तद्वद् योगिन आत्मयज्ञे पुरुषं ज्ञानं यद् ज्ञानान्तं तत् कृतवन्तः कतिप्रकारं विकल्पित-वन्तः । तस्येवंविधस्य कि मुखं कौ बाहू कौ ऊरू पादौ उच्येते उच्यन्तामित्यर्थः। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा स्थिता इत्यर्थः ॥

महीधरभाष्यम्

प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते । प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद् यदा पुरुषं व्यदधुः कालेनोदपादयन् । यदा कतिधा कतिभिः प्रकारैर्व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्त अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत् किं बाहू ऊरू चास्ताम् । किं च पादौ उच्येते पादावपि किमास्तामित्यर्थः ॥

हिन्दीभाषान्तर

जब पुरुष को देवों ने विभक्त किया, तब (उसे) कितने भागों में कल्पित किया ? इसका मुख क्या (हुआ), (इसकी) भुजाएँ क्या (हुईं), (इसकी) जाँघें क्या (हुईं), (और इसके) पैर क्या कहे जाते हैं ।

टिप्पणियाँ

यह मन्त्र अगले मन्त्र की अवतरणिका है। वक्ष्यमाण वर्ण्य को प्रस्तुत करने के निमित्त यहाँ विचिकित्सा की जा रही है।

१. व्यदधुः—वि + धा + लङ्, प्र० पु०, ब० व०। सायण—(संकल्प के द्वारा) उत्पन्न किया। मही०—(समय प्राप्त कर) उत्पन्न किया। मैकदोनेल—जब देवताओं ने पुरुष का मेध्य पशु के रूप में संज्ञपन किया। साक्ष्यों के अनुसार यहाँ पदपाठ 'विऽअदधुः' होना चाहिए। प्रधान वाक्य की क्रिया होने पर उपर्युक्त पद-पाठ उचित होता। प्रधान वाक्य की सोपसर्गक क्रियाओं में पद-पाठ के समय उपसर्ग और क्रियारूप को अलग-अलग लिखा जाता है, पर उपवाक्य की क्रिया को अवगृहीत किया जाता है। पदपाठ में इस प्रकार का व्यतिक्रम अन्यत्र भी मिलता है—देखिए—ऋ० ८।४८।५ में 'प्रागाः' एवं ८।४८।१० में 'न्यधायि'। इस पदपाठ का असमीचीनताहेतुक एक अन्य प्रमाण भी है—मुख्य क्रियारूप स्वरविहीन होता है, परन्तु यहाँ 'अट्' उदात्तयुक्त है।

२. कतिधा—किम् + डति—'किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च' (पा० ५।२।४१) = कति + धा—'सङ्ख्याया विधार्थे धा' (पा० ५।३।४२)। कितने प्रकार से, किस तरह।

३. व्यकल्पयन्—वि + क्लृप् + लङ्, प्र० पु०, ब० व०। सायण—महीधर—विविध प्रकार से कल्पित किया। मैकदोनेल—बाँटा, विभक्त किया। पीटर्सन—आकार दिया, रूप दिया।

४. कौ—किम्, द्विव०, प्रथमा। मैकदोनेल—ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में व्यंजनों के पूर्व द्विवचन के 'औ' के स्थान पर 'आ' उपलब्ध होता है।

५. उच्येते—वच् + लट्, प्र० पु०, द्वि० व०।

छन्द की दृष्टि से प्रथम पाद में 'व्यदधुः' के स्थान पर 'वि अदधुः' तथा द्वितीय पाद में 'व्यकल्पयन्' के स्थान पर 'वि अकल्पयन्' पढ़ना चाहिए; क्योंकि इन दोनों चरणों में एक-एक वर्ण कम है।

यजुर्वेद मन्त्र के तृतीय पाद में ८ वर्णों के स्थान पर ९ वर्णों का प्रयोग किया गया है, अतः १ वर्ण अधिक है। प्रथम 'किम्' को निकाल देने पर इस समस्या का समाधान करना शक्य है—'मुखमस्यासीत् किं बाहू'।

आर्नाल्ड के अनुसार 'पुरुषम्' पूरुषम्' तथा 'उच्येते' को 'उच्यते' पढ़ना चाहिए (वैदिक मीटर, पृ० ३२२)।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।१२ में मिलता है। अथर्व० १९।६।५ में—'किमस्य किम्' को छोड़कर शु० य० सं० की भाँति है ॥ ११ ॥

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद्बा॒हू रा॑ज॒न्य॑: कृ॒तः ।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्य॑: प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ॥१२॥

पदपाठः

ब्रा॒ह्म॒णः । अ॒स्य॒ । मुख॑म् । आ॒सी॒त् । बा॒हू इति॑ । रा॒ज॒न्य॑: कृ॒तः । ऊ॒रू इति॑ । तत् । अ॒स्य॒ । यत् । वैश्य॑: । प॒त्ऽभ्याम् । शू॒द्रः । अ॒जा॒य॒त॒ ॥१२॥

सायणभाष्यम् १२

इदानीं पूर्वोक्तानां [०क्त] प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति । अस्य प्रजापते-र्ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् । मुखादुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः स बाहू कृतो बाहुत्वेन निष्पादितः । बाहुभ्या-मुत्पादित इत्यर्थः । तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेर्यद् [यो] ऊरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्न । ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्व-जातिमान् पुरुषः अजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यः संहितायां सप्तमकाण्डे ॥ " स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता । अतः प्रश्नोत्तरे उभे तत्परतयैव योजनीये ॥

शु० य० संहितायाम्—

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्य॑: कृ॒तः ।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्य॑: प॒द्भ्याᳪ᳭ शू॒द्रो अ॑जायत ॥ ११ ॥

उव्वटभाष्यम् ११

अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य ये केचिद् ब्राह्मणास्ते मुखमासीत् । ये क्षत्रियास्ते बाहू कृताः । ये वैश्यास्तेऽस्योरू कृताः । ये शूद्रास्ते पद्भ्याम् अजायन्तेति कल्प (ल्प्य) न्ते तदस्योपन्नत्वादिति । एवमेतेऽवयवाः शिरःप्रभृतयः पुरुषस्य विद्यन्ते नान्ये इति ।

महीधरभाष्यम्

पूर्वोक्तप्रश्नोत्तराण्याह । ब्राह्मणो ब्रह्मत्वजातिविशिष्टः पुरुषोऽस्य प्रजापतेर्मुखमासीत् । मुखादुत्पन्न इत्यर्थः । राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टो बाहू कृतो बाहुत्वेन निष्पादितः । तदानीमस्य प्रजापतेर्यद् यावूरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः । ऊरुभ्यामुत्पादिता इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्या शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायतोत्पन्नः॥

हिन्दीभाषान्तर

इसका मुख ब्राह्मण हुआ, दोनों बाहुओं को क्षत्रिय बनाया गया । इसकी जो जाँघें (हैं) उन्हें वैश्य (बनाया गया), (और) पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणियाँ

इस मन्त्र पर आधृत हो प्रायः सभी विद्वान् चातुर्वर्ण्य समाज की कल्पना करते हैं । इससे वर्णों की तात्कालिक सामाजिक अवस्था का भी परिज्ञान होता है । इसी मन्त्र में सर्वप्रथम चारो वर्णों का संकेत मिलता है ।

अवेस्ता में भी इस प्रकार का विभाजन उपलब्ध होता है—आथ्रवन् जओतर; ख्षथ्र, रथैस्तर, वास्य । वैश्य, तु० लैटिन विओस, ग्रीक आइकोस । शूद्र–तु०, सिन्धुदेश का नगर-सुद्रोस्; जन-सुद्रोइ ।

१. राजन्यः–राजन् + यत् 'ये चाभावकर्मणोः' (पा० ६।४।१६८), अथवा । 'राजश्वशुराद्यत्' (पा०४।१।१३७)या राजति-राज दीप्तौ + अन्यः-(उणा०३।१००)।

छन्द की दृष्टि से 'राजन्यः' के स्थान पर 'राजनियः' पढ़ना चाहिए, क्योंकि ७ वर्णों का ही प्रयोग किया गया है ।

यह मन्त्र तै०आ०३।१।२।१२ में एवं अथर्व०१९।६।६ में–राजन्योऽभवत् । मध्यं तदस्य…॥—परिवर्तन के साथ उपलब्ध होता है ॥ १२ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

पदपाठः

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत । मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत ॥१३॥

सायणभाष्यम् १३

यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि अस्मादेवोत्पन्ना इत्याह । प्रजापतेर्मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः । चक्षोश्च चक्षुषः सूर्योऽप्यजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ । अस्य प्राणाद् वायुरजायत ॥

शु० य० संहितायाम्

....

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

उव्वटभाष्यम् १२

तस्यैवंविधस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य चन्द्रमा मनसश्चेतसो जातोऽजायतेति कल्पना । मन एव चन्द्रमाः । चक्षोर्नेत्राभ्यां सूर्यः । नेत्रे एव सूर्यः । यः प्राणो जीवः स एव वायुः श्रोत्रादजायतेति कल्प्यते । श्रोत्रमेव वायुः । योऽयमग्निः स मुखाद् अजायतेति कल्प्यते । मुखमेवाग्निः । अंशोत्पन्नत्वादिति ॥

महीधरभाष्यम्

यथा दध्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह—मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः । चक्षोश्चक्षुषः सकाशात् सूर्योऽजायत । वायुः प्राणश्च श्रोत्रात् कर्णादजायत । मुखादग्निरजायत ॥

हिन्दीभाषान्तर

मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्रों से सूर्य जनमा, मुख से इन्द्र तथा अग्नि, और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

यजुर्वेदीय मन्त्र के ३, ४ पाद का हि० भा०—

कान से वायु तथा प्राण एवं मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ।

टिप्पणियाँ

१. चन्द्रमाः—चायन् (पश्यन्) द्रमति (गच्छति) इति—चायन् + द्रम + असुन्– (निरु० ११।५)। चन्द्रश्चासौ माता च—च चन्द्र + मा + असिः– (उणा० ४।२२८)। चन्द्रं सादृश्येन माति—(उणा० ४।२२८)। चान्द्रं

मानमस्य— चन्द्रमाः । चारु + (शोभनं द्रवति) द्रु + असुन् (बाहुलकात्) । चिरं द्रवति—चिर—द्रु + असुन (बाहुलकात्) । चन्द्र (आह्लादं) मिमीते—चन्द्र + मा + असुन् ।

२. चक्षोः—मैकदोनेल के अनुसार चाक्षुष् का एवंविध पञ्चम्यन्त रूप केवल इस मन्त्र में आया है । सामान्यतः चक्षुष् पद का प्रयोग हुआ है । एक अन्य सूक्त में चक्षुष् एवं प्राण का सम्बन्ध सूर्य एवं वायु से बताया गया है—सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा—ऋ० १०।१।१६ ।

३. अग्निः—अग्र + नी + क्विप् (पा० ३।२।६१) । अग्र + वेज् + इन् (बाहुलकात) । अङ्ग + नी + क्विप् । अ + क्नूय् + क्विन् । अङ्गनं दहनं वा नयति—अञ्ज् या दह + नी + क्विप् । तुलनीय—लैटिन—इग्निस, स्लावी-ओग्नि, लिथुआनी—उग्निस स्जवेन्ता, लेटिश—उग्गुनस माता । आधुनिक विद्वानों के अनुसार अग्नि शब्द, 'अज' धातु से निष्पन्न हुआ है—तुलनीय—लैटिन—अगो, ग्रीक—अगो ।

४. वायुः—वातीति—वा + उण् (उणा० १। १ ।) वेञ् (गति) + अण् (बाहुलकात्) अथवा उण् (उणा० १।२) ।

यह मन्त्र तै०आ० ३।१२।१४, अथर्व०१३।६।७ में उपलब्ध होता है ॥ १३ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥

पदपाठः

नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत । पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥१४॥

सायणभाष्यम् १४

यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनः प्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथान्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन् उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति । नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्ततः उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पन्नाः ॥

शु० य० संहितायाम्—

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष ँ शीर्ष्णो ……….।

……………………लोकाँ ॥२॥ अकल्पयन् ॥१३॥

उव्वटभाष्यम् १३

तस्यैवंविधस्य पुरुषस्य या नाभिस्तदेवान्तरिक्षं नभः। यद्यौस्तच्छीर्षं शिरः। समवर्ततेति कल्पितम्। पादौ भूमिरेव। श्रोत्रं श्रवणौ दिशः। श्रोत्रावयवा यस्माद् दिशो ब्राह्मणो जातास्तथैव सर्वान् पुरुषस्यावयवभूतान् अकल्पयदिति ॥

महीधरभाष्यम्

यथा प्रजापतेर्मनः प्रभृतयश्चन्द्रादीनकल्पयस्तथान्तरिक्षादिलोकानित्याह— नाभ्या इति। प्रजापतेर्नाभेः सकाशादन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्णः शिरसो द्यौः स्वर्गः समवर्ततोत्पन्ना। अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिरुत्पन्ना श्रोत्राद् दिश उत्पन्नाः। तथा तेनोक्तेन विधिना लोकान् भूरादीन् प्रजापतेः सकाशादकल्पयन् कल्पितवन्तः। फलदानोत्सुकाः काला इति शेषः ॥

हिन्दीभाषान्तर

नाभि से अन्तरिक्ष हुआ, सिर से द्युलोक बना। पैरो से भूमि और कानों से दिशाएँ इस प्रकार लोकों को कल्पित किया।

टिप्पणियाँ

१. नाभ्याः—णह् (बन्धने)+इञ् (उणा० ४।११८), पञ्चमी, ए० व०।

२. शीर्ष्णः—देखिए, इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में सहस्रशीर्षा।

३. समवर्तत—मैकदोनेल—पद्भ्या भूमिर्दिशः श्रोत्रात् के साथ भी इसका अन्वय करना चाहिए—अधि समवर्तत, १०।१२९।१ ऋ०।

एड्डा के सृष्टि-वर्णन में 'यमिर, हिमिर' नामक दैत्यों की सृष्टि से यह मन्त्र तुलनीय है (ग्रिफिथ)।

छन्द की दृष्टि से 'द्यौः' के स्थान पर 'दिऔः' पढ़ना चाहिए।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।२५, अथर्व० १९।६।८ में भी है ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

पदपाठः

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽधयः । त्रिः । सप्त । सम्ऽइधः । कृताः । देवाः । यत् । यज्ञम् । तन्वानाः । अबध्नन् । पुरुषम् । पशुम् ॥१५॥

सायणभाष्यम् १५

अस्य साङ्कल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधयः उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधि प्रतिनिधिरूपः। अत एवाम्नायते—"न पुरस्तात् परिदधात्या [ध्यादा] दित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" (तै० सं० २।६।६।३) इति। तत एत आदित्यसहिताः सप्तपरिधयोऽत्र सप्तच्छन्दोरूपाः। तथा समिधस्त्रिः सप्त त्रिगुणीकृत [गुणित—] सप्तसङ्ख्याका एकविंशतिः कृता। "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" (तै० सं० ५।१।१०।३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेन्धनत्वेन भाविताः। यद् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापति प्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अबन्धन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र "यत्पुरुषेण हविषा" इत्युक्तम् ॥

शु० य० संहितायाम्—सप्ता·········॥ १५ ॥

उव्वटभाष्यम् १५

देवा इन्द्रादयो यथा यज्ञं पुरुषमेधाख्यं विस्तारयन्तः पुरुषं पशुम् अबध्नन् हतवन्तः। अस्य पुरुषमेधयज्ञस्य सप्त समुद्राः परिधय आसन्। भारते हि वर्षे यागः प्रवर्तते। त्रिः सप्त छन्दांसि गायत्र्यादीनि समिधः कृता आत्मयागे परिधिशब्देन पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं मनो बुद्धिरित्येते परिधयः कल्प्यन्ते। त्रिः सप्त समिधः—पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यादीनि पञ्चतन्मात्राणि रूपादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पाण्यादीनि मनश्च एतत्त्रिः सप्त समिधः कल्पयन्ति। तथा देवा दीप्यमाना ज्ञानेन योगिनः समाध्याख्यं यज्ञं तन्वानां विस्तारयन्तः। पुरुषं ज्ञानं पुरुमेधरूपेणावस्थितम् अबध्नन् अगृह्णन् ॥

महीधरभाष्यम्

यद् यदा देवाः प्रजापति प्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं कुर्वाणाः पुरुषं पशुमबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वं (१४) "पुरुषेण हविषा" इत्युक्तम्। तदा सङ्कल्पितस्य यज्ञस्य सप्त गायत्र्यादीनि छन्दांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय औत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यः सप्तमः परिधिः प्रतिनिधिरूपः तथा च श्रुतिः—"गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति" (श० ब्रा० १।३।४।८) इति। तत एते आदित्यसहिताः सप्तपरिधयोऽत्र सप्तच्छन्दोरूपाः। त्रिः सप्त त्रिगुणाः सप्त, एकविंशतिसङ्ख्याकाः समिधः कृताः। "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्यः" (श० ब्रा० ७।१।१।३४, तु० श० ब्रा० १।३।५।११; ११।२।६।११) एत एकविंशतिरेकविंशदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। यद्वा सप्त समुद्राः क्षीरोदादयोऽस्य यज्ञस्य परिधय आसन्। भारतखण्डे यागा भवन्तीति समुद्राणां परिधित्वम्। त्रिस्त्रिगुणाः सप्त छन्दोवर्गाः समिधः कृताः—गायत्र्यादीनि सप्त, अतिजगत्यादीनि सप्त, कृत्यादीनि सप्तेति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जब देवों ने यज्ञ सम्पन्न करते हुए पुरुष-पशु को (यूप में) बाँधा, (तब) इसकी सात परिधियाँ थीं, (और) तीन सात (इक्कीस) समिधाएँ बनाई गयीं।

टिप्पणियाँ

१. सप्त परिधयः–परि + धा + किः–'उपसर्गे घोः किः' (पा० ३।३।९२)। सायण—पूर्वोक्त साङ्कल्पिक यज्ञ में गायत्री आदि (उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती) सात छन्द। आहवनीय अग्नि के तीन ओर रखी जाने वाली हरी लकड़ी को परिधि कहते हैं। इनकी लम्बाई बाहु के बराबर होती है। इनका निर्माण पलाश, विकंकत या कर्ष्मरि वृक्ष के काष्ठ से होता है। आहवनीय अग्नि ऐष्टिक एवं याज्ञिक द्विधा होता है। दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की ओर परिधि लगा दी जाती है, परन्तु पूर्व की ओर आदित्य की ही परिधि के रूप में भावना की जाती है। इस प्रकार ऐष्टिक एवं औत्तरवेदिक परिधियों का योग करने पर इनकी संख्या ६ तथा १ आदित्य को संयुक्त कर ७ संख्या पूरी हो जाती है (दे० श० १।३।४, का० श्रौ० २।८।१, श्रौ०

प० नि० १३।९१, ८९।४८४)। सायण के अनुसार इन सात परिधियों के प्रतीक सात छन्द हैं। महीधर अपने भाष्य में सायण का ही अनुसरण करते हैं।

उव्वट इस यज्ञ की परिधियों के रूप में ७ समुद्र मानते हैं—क्षीरोद, लवणोद, इक्षुरसोद, सुरोद, दधिमण्डोद, स्वादूद और घृतोद। इन समुद्रों का उल्लेख केवल पुराकथाओं में मिलता है। महीधर ने वैकल्पिक रूप में इस अर्थ को भी स्वीकारा है। उव्वट गायत्री आदि सात छन्दों वाले व्याख्यान का भी उल्लेख करते हैं तथा आत्मयज्ञपरक अर्थ में पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, मनस् और बुद्धि को सात परिधियों के रूप में मानते हैं।

२. त्रिः सप्त समिधः—तीन सात = इक्कीस समिधाएँ—सामिधेनी ऋचाओं के द्वारा इन्हें यज्ञाग्नि में छोड़कर उसे प्रज्वलित किया जाता है। सायण—तै० सं० (५।१।१०।३ तु० ऐ० ब्रा० १।३०) के साक्ष्य पर १२ मास, ५ ऋतुएँ (हेमन्त तथा शिशिर को एक मानकर) ३ लोक एवं १ आदित्य को मिलाकर २१ समिधाओं के प्रतीक रूप में ग्रहण करते हैं। इस यज्ञ में २१ समिधाओं के स्थान पर पूर्वपरिगणित २१ पदार्थों की भावना की गयी। महीधर इस अर्थ का अनुसरण करते हैं। इनके विचार में एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। इक्कीस समिधाओं के प्रतीक रूप में गायत्री आदि पूर्ववर्णित ७ छन्द, अतिजगती आदि ७ छन्द (शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति) एवं कृति आदि ७ छन्द (प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अतिकृति, उत्कृति) यज्ञ में नियोजित किये गये। वस्तुतः ये छन्दोवर्ग के रूप में स्वीकृत हैं। गायत्री २४ वर्णों का छन्द है। उत्तरोत्तर प्रत्येक में ४ वर्ण बढ़ते जायेंगे। इस प्रकार २४ वर्णों से लेकर १०४ वर्णों तक के छन्द हैं। अन्यत्र २१ धेनुनामों को 'परम' कहा गया है—त्रिः सप्तः मातुः परमाणि वन्दम्—ऋ० ४।१।१६, ध्यातव्य है कि सायण ने यहाँ इन्हीं २१ छन्दों का संकेत समझा है।

उव्वट के विचार से ५ महाभूत (पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश); ५ तन्मात्राएँ (गन्ध, रस, उष्णता, स्पर्श, शब्द); ५ बुद्धिइन्द्रियाँ (नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र); ५ कर्मेन्द्रियाँ (पायु, उपस्थ, पाणि, पाद, वाक्) एवं मन (कुल मिलाकर २१) ही आत्मयज्ञ में समिधस्थानीय होते हैं। समिधा

की व्युत्पत्ति है—समिध्यतेऽनया—सम् + इन्ध + क्विप्— 'सम्पदादिभ्यो क्विप्' (वा० पा० ३।३।१०८)—देखिए—९।२३।४४ श० ब्रा० ।

३. वैदिक ऋषियो को ७ तथा २१ की संख्या अत्यन्त प्रिय है। वरुण को सात (सिन्धुओं-सायण) का स्वामी कहा गया है—ऋ० में—८।४१।९, अग्नि की सात रश्मियों—२।५।२; सात नदियों २।१२।३, १२, ३।१।४; सात विप्र ३।७।७, ८।३१।५, ४।२।१५; अग्नि के सात धाम ४।७।५; सूर्य की सात रश्मियाँ ४।१३।३, १६।३ आदि का वर्णन उपलब्ध होता है।

इक्कीस का प्रयोग अघ्न्या के नाम त्रिः सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति–७।८७।४, आदित्य के पद—त्रिः सप्त सख्युः पदे–८।६९।७, गिरि के सानु–त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्–८।९६।२, धेनु के नामों ९।७०।१, ८६।१, नदियों–त्रिः सप्त सस्रा नद्यः–१०।६४।८, ऋषियों–अथर्व० १२।२।२९ के लिए किया गया है।

४. तन्वानाः—तन् + शानच्—विस्तार करते हुए।

५. अबध्नन्—बन्ध + लङ् प्र० पु० ब० व०। बाँधा।

६. उव्वट—(देवाः) योगिजनो ने समाधि नामक यज्ञ का विस्तार करते हुए (पुरुषम्) पुरुषमेध के पशुरूप में ज्ञान को (अबध्नन्) ग्रहण किया।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।७ तथा अथर्व० १९।६।१५ में उपलब्ध होता है ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

पदपाठः

यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह। नाकम्। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः ॥ १६ ॥

सायणभाष्यम् १६

पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं सङ्क्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। त (अ) स्मात् तानि पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तन्नाकं विराटप्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति॥

(इत्येकोनविंशो वर्गः)

उव्वटभाष्यम् १६

शु० य० संहितायाम्—यज्ञेन—············॥ १६॥

यथेन्द्रादयो देवा यज्ञेन ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञपुरुषं वासुदेवं विधिनायजन्त। यतस्तानि यजनरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह महाभाग्ययुक्ता नाकं सचन्त स्वर्गं सेवन्ते। यत्र पूर्वे साध्याः प्रथमे सुरा सन्ति विद्यन्ते देवास्तेजसा देदीप्यमानाः एवं योगिनोऽपि दीपनाद् देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपम् अयजन्त। यतस्तानि समाधिरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते तु नाकं सनकादीना स्थानं गच्छन्ति। ये तु योगिनो महिमानो जन्मान्तरैर्निर्धूतगुणाः शुद्धास्ते नारायणाख्यं पुरुषमाविशन्ति। मुक्तिं गच्छन्तीत्यर्थः॥

महीधरभाष्यम्

पूर्वप्रपञ्चेनोक्तमर्थं सङ्क्षिप्याह। देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञेन यज्ञं यज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणा धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि भूतान्यासन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थ उक्तः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः सङ्गृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपाधिसाधकाः देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तं नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ह एव ते महिमानस्तदुपासका महात्मान सचन्त सचन्ते समवयन्ति प्राप्नुवन्ति।

अङभाव आर्षः सूत्रैः प्रवाहनित्यता दर्शयति। तदुक्तम्—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) इति ॥

(इति पुरुषसूक्तानुवादः)

हिन्दीभाषान्तर

देवों ने यज्ञ से यज्ञ सम्पन्न किया; वे प्राथमिक धर्म थे। वे महिमाशाली स्वर्ग में पहुँच गये, जहाँ प्राचीन साध्यदेव हैं।

टिप्पणी

१. छन्द की दृष्टि से 'प्रथमान्यासन्' के स्थान पर 'प्रथमानि आसन्' तथा 'साध्याः' के स्थान पर 'साधियाः' पढ़ना चाहिए। यह त्रिष्टुप् छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं। तृतीय, चतुर्थ पाद में एक-एक वर्ण की न्यूनता है।

यह मन्त्र तै० आ० ३।१२।१८ में मिलता है ॥ १६ ॥



उत्तरनारायणम्

३१ अ० क० १७

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥१७॥

उव्वटभाष्यम् १७

त्वष्टा प्रजापतिर्ब्रह्मा यद्रूपमेकांशभूतं विदधत् कृतवांस्तदेव मर्त्यस्य मर्त्ये भूलोके देवत्वं प्रभुत्वम् आजानमाप्तमित्यर्थः। किम्भूतोऽसौ ? अद्भ्यः सकाशात् सम्भृतः पिण्डीभूतः पृथिव्या रसाच्च । विश्वकर्मणोऽग्रे प्रथमतः समवर्तत संयोग-रूपेण कृतः। तस्यैव नान्यस्य तदेव कारणान्मर्त्ये प्राप्तवान् स तु पालनाय दानवादिविनाशायेति ।

१७–(तै० आ० ३।१३।१)—अथोत्तरनारायणाख्यः कश्चिदनुवाकस्तस्य च विनियोगं पुरुषमेधे आपस्तम्ब आह—"उत्तरनारायणेनादित्य-मुपस्थाय" इति । तत्र प्रथमामृचमाह—अद्भ्यः सम्भृतः...समवर्तताधि । ......तत्पुरुषस्य विश्वमाजानमग्रे ॥—इति ॥

योऽयं विराड्रूपो नारायणाख्यः पुरुषः सोऽयमद्भ्यः सम्भृतः सर्वत्र (? सर्वतो) व्याप्तेषु जलेषु क्षीरमध्ये मण्डवद् ब्रह्माण्डगोलकमुत्पन्नम् । न केवलमद्भ्य एव किन्तु पृथिव्यै रसाच्च भूम्याः सम्बन्धी योऽयं रसः सारस्तस्मादप्युत्पन्नः "मण्डस्य योऽयं घनीभावः स पार्थिवः । ये च तन्मध्ये द्रवांशास्त आप्याः । यत्कठिनं सा पृथिवी । यद्द्रवं तदापः" इत्यादिश्रुतेः । विश्वकर्मणो जगत्कर्तुः परमेश्वरादधि समवर्तत। ऐक्येन निष्पन्नो योऽयं ब्रह्माण्डा-भिमानी चेतनः पुमान् सोऽयमीश्वरांशस्तस्य विराट् पुरुषस्य रूपं चतुर्दशलोक-रूपावयवसंस्थानं विदधत् निष्पादयंस्त्वष्टा विश्वकर्मा जगदीश्वरः । एति प्रवर्तते । पुरुषस्य विराडाख्यस्य सम्बन्धि तद्विश्वं प्रसिद्धं देवमनुष्यादिरूपं सर्वं जगदग्रे सृष्ट्यादावाजानं सर्वत उत्पन्नम् ॥—(सा० भा०)

महीधरभाष्यम्

अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाय (श० १३।६।२।२०) इति षट् कण्डिका **उत्तरनारायणम्** । उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभे शेषास्त्रिष्टुभआदित्यदेवत्याः।

पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते । अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च । पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम् । भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः । तथा विश्वं कर्म यस्य विश्वकर्मणः कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे पञ्चभूतानि तुष्टानि कालश्च । ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलरूप उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयंस्त्वष्टादित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति । अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण । द्विविधा देवाः कर्मदेवा आजानदेवाश्च । कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः । सृष्टयादावुत्पन्ना आजानदेवाः । ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—"ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः" (बृहदा० ४।३।३५) इति श्रुतेः सूर्यादय आजानदेवाः।

हिन्दीभाषान्तर

जलों तथा (उनके) द्रव से एकत्रित किया गया (पदार्थ) पृथिवी के निर्माण के लिए विश्वकर्मा के आगे (उपस्थित) हुआ। त्वष्टा उसका रूप बनाता हुआ आता है और मनुष्य के पहले वही आजानदेवत्व को प्राप्त हुआ।

टिप्पणियाँ

१. यह छह मन्त्रों का समूह वैदिक साहित्य में 'उत्तरनारायण' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके देवता आदित्य हैं। पुरुषमेध में इसके द्वारा आदित्य के उपस्थान का विधान है। वैज्ञानिक साक्ष्यों के परिसर में पुराकथाओं एवं वैदिक कथ्यों पर आधृत हो यह प्रतिपादन सुशक्य है कि सृष्टि के आरम्भ में आकाश में उत्तप्त और पिण्ड तथा भूतल पर जल के अतिरिक्त कुछ न था। सूर्य का विष्णु या नारायण के रूप में विकास अत्यन्त सुपरिचित तथ्य है। (प्रजापतिसूक्त के प्रथम मन्त्र में हिरण्यगर्भ टिप्पणी भी देखिए)।

२. अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै०—उव्वट—जलों, पृथिवी, एवं रस से एकत्र किया गया। इनके विचार से 'पृथिव्यै' का पञ्चमी के अर्थ में प्रयोग किया

गया है। महीधर भी इसे पञ्चमी ही मानते हैं। पृथिवी और जल के कथन से पाँचो महाभूतों का संकेत मिलता है। इनसे रस संपुष्ट हुआ।

३. विश्वकर्मणः—विश्वं कर्म अस्मात्, अस्य वा विश्वकर्मा तस्मात्। जिससे समस्त कर्म परिचालित होते हैं अथवा समस्त कर्म जिसके हैं, वह विश्वकर्मा है। उव्वट—विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल, पृथिवी एवं रस को संयोजित किया। महीधर—पाँच महाभूतो से संभृत एवं विश्वकर्मा (काल) की प्रीति से सर्व-प्रथम रस स्थिति में आया। पञ्च महाभूत एवं काल समस्त पदार्थों के कारण हैं, अतएव पुरुषमेधयाजी के सूक्ष्म शरीर में दोनों तुष्ट हुए। इनकी तुष्टि से रसरूप विशेष फल उत्पन्न हुआ जो उत्तम जन्म देने वाला है।

४. त्वष्टा०—उव्वट—प्रजापति ब्रह्मा ने जिस रूप की रचना की, वही मर्त्य की प्रभुता है। महीधर—पूर्वोक्त रस के रूप को धारण करता हुआ त्वष्टा (सूर्य) प्रतिदिन उदित होता है। यही पुरुषमेधयाजी मनुष्य—जो पहले मर्त्य था—का सूर्य रूप में प्रमुख देवत्व है।

५. आजानम्—आ + जन—आजान श्रेणी के देवता। देवता द्विधा हैं, कर्मदेव तथा आजानदेव। कर्म के द्वारा देवत्व प्राप्त करने वाले कर्मदेव। सृष्टि के आदि में समुत्पन्न आजान देव (दे० म०, उद्धृत, बृहदा०)।

६. समस्त भाष्यकारो ने त्वष्टा एवं विश्वकर्मा का अर्थ सूर्य लिया है। यह अर्थ प्रकरण को देखते हुए उचित प्रतीत होता है। सूर्य समस्त कर्मों का प्रेरक है, अतः उसे सविता कहते हैं=अतएव उसे विश्वकर्मा कहा गया। विश्वकर्मा का अर्थ यदि काल भी लें तो भी सूर्य का ही बोध होता है। काल-चक्र का प्रवर्तयिता वही है। मास, ऋतु, दिन, रात—सब उसी के कारण हैं। संस्कृत-साहित्य में विश्वकर्मा पद का सूर्य के लिए प्रयोग भी इसी तथ्य को संकेतित करता है (विश्वकर्मा सहस्रांशौ—मे०) त्वष्टा की व्युत्पत्ति एवं रूप-सृष्टि से उसका सम्बन्ध सूर्य-अर्थ की पुष्टि करता है। रूप सूर्य से सम्बद्ध भी है (त्वष्टा की व्युत्पत्ति दे०—टिप्पणी, वाक्सूक्त मन्त्र २ में)।

७. तैत्तिरीय आरण्यक में इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए सायण ने इस मन्त्र का अर्थ पुरुष-परक किया है—(देखिए, इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में पुरुष पर टिप्पणी।)

चतुर्थ पाद में १ वर्ण अधिक है। त्रिष्टुप् होने के कारण ११ वर्ण होना चाहिए ॥ १७ ॥

वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त् ।
तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑ मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ वि॒द्यतेऽय॑नाय ॥१८॥

उव्वटभाष्यम् १८

ऋषेः प्रतिवचनम्। अहमेतं पुरुषं वेद। महान्तं देशकालाद्यव-च्छेदरहितम्। आदित्यवर्णं स्वप्रकाशम्। तमसः परस्ताद् अविद्यायाः भेददर्शनम्। तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति। अतिक्रम्य मृत्युं तं पुरुषमनुप्रविशति। न अन्यः पन्था मार्गस्तस्यायनाय गमनाय विद्यते ॥

महीधरभाष्यम्

एतं महान्तं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामीति ऋषेर्वचनम्। कीदृशम्? आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो यस्य तम्। उपमान्तराभावात् स्वोपमम्।

१८—(तै० आ० ३।१३।२)—अथ द्वितीयामाह—वेदा॒हमे॒तं···परस्तात्। तमे॒वं वि॒द्वान॒मृत॑ इ॒ह भ॑वति। नान्यः······ऽय॑नाय ॥ इति ॥ पूर्व-(तै० आ० ३।१२।१६-१७) वद् व्याख्येयम्। [यथोक्तविराट्पुरुषध्यानमत्र प्रतिपाद्यते। तत्र मन्त्रद्रष्टा स्वकीयं ध्यानानुभवं प्रकटयति···एतं पुरुषं विराजं महान्तं सर्वगुणैरधिकम् आदित्यवर्णमादित्यवत् प्रकाशमानं वेदाहं जानामि। ध्यानेन सर्वदानुभवामीत्यर्थः। स च पुरुषस्तमसः पारेऽज्ञानात् परस्ताद् वर्तते। अतो गुरुशास्त्रोपदेशरहितैर्मूढैरनुभवितुमशक्य इत्यर्थः।··· तं विराट्पुरुषम् एवम् उक्तप्रकारेण विद्वान् साक्षात् कुर्वन् इहास्मिन्नेव जन्मन्यमृतो मरणरहितो भवति। यदा विराट्पुरुषोऽहमिति साक्षात्करोति तदानीं वर्तमानदेहस्य (? स्वस्व) रूपत्वाभावात् तन्मरणेनायमुपासको न म्रियते। अयनायामृतत्वप्राप्तयेऽन्यः पन्था यथोक्तविराट्पुरुषसाक्षात्कारमन्तरेणान्यो मार्गो न विद्यते। न हि कर्मसहस्रैरप्यमृतत्वं सम्पादयितुं शक्यते। "न कर्मणा न प्रजया धनेन" (कैवल्योप० १।२, नारायणोप० १२।३) इत्यादि शास्त्रात्] (सा० भा०)।

तथा तमसः परस्ताद् दूरतरम् । तमोरहितमित्यर्थः । तमःशब्देनाविद्योच्यते । तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येत्यतिक्रामति परं ब्रह्म गच्छति । अयनायाश्रयायान्यः पन्था न विद्यते । सूर्यमण्डलान्तःपुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः ॥

हिन्दीभाषान्तर

मैं अन्धकार से परे आदित्यरूप इस महान् पुरुष को जानता हूँ । उसी पुरुष को । जानकर मृत्यु को (मनुष्य) पार कर लेता है । गमन के लिए (इसके अतिरिक्त) इतर मार्ग नहीं है ।

टिप्पणियाँ

१. एतं पुरुषम्—उव्वट—इस पुरुष को, महीधर—सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष को शतपथ ब्राह्मण के मण्डलब्राह्मण में इस पुरुष की महनीयता प्रतिपादित की गयी है—एतस्मिन् हि मण्डल एतस्य पुरुषस्यात्मा ।…एतस्य च पुरुषस्यैतन् मण्डलं प्रतिष्ठा—१०।५।२।४–५ । तै० आ० में इस मन्त्र के भाष्य में सायण ने इस पुरुष को विराज् कहा है । तु०—शां० आ० ६।२ ।

२. महान्तम्—उव्वट—देश, काल आदि परिच्छेद से रहित । महीधर—सर्वोत्कृष्ट । सायण—सर्वगुणातिशायी ।

३. आदित्यवर्णम्—आदित्यस्येव वर्णो यस्य तम्—आदित्य—अदिति + ण्यः—प्रत्यय में उदात्त स्वर । उव्वट—स्वप्रकाश । महीधर—दूसरी उपमा के अभाव में आत्मोपम । सायण—आदित्य के समान प्रकाशमान ।

४. तमसः—उव्वट—मही० अविद्या । अन्धकार से ।

५. परस्तात्—(पर + अस्तातिः) । दूर, परे ।

६. तमेव विदित्वा मृत्युमत्येति—उव्वट—उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है और पुरुष में प्रविष्ट होता है । महीधर उसी आदित्य को जानकर मृत्यु को अतिक्रान्त करता है एवं परब्रह्म का साक्षात्कार करता है । सायण—उसी विराट् पुरुष को……। तुलनीय—य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषोऽथैतदमृतम्—श० ब्रा० १०।५।२।३।……यदैवंविदस्माल्लोकात् प्रैति, अथैतमेवात्मानमभिसम्भवति सोऽमृतो भवति, १०।५।२।१३ ।

७. नान्यः पन्था विद्यते अयनाय—अयनाय—अय् अथवा इण् (गतौ) + युच् (उणा० २।७८) अथवा ल्युट् (कर्मणि) (पा० ३।३।११३) । उव्वट—

गमन के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। मही०—सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष को आत्मरूप में जानकर ही मुक्ति है। सायण—वर्णित विराज पुरुष के साक्षात्कार के अतिरिक्त अमृतत्वप्राप्ति के निमित्त दूसरा पथ नहीं है।

आदित्य की प्रकाश-प्रवृत्ति को जाने बिना तमोभेद सम्भव नहीं है—

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वान्सस्तपस्विनः॥

—श० ब्रा० १०।५।४।१६

छन्द की दृष्टि से 'विद्यतेऽयनाय' के स्थान पर 'विद्यते अयनाय' पढ़ना चाहिए।

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद के शिवसंकल्प नामक खिल सूक्त के ९ वें मन्त्र में मिलता है। परिवर्तन के साथ तै० आ० ३।१२।१६-१७, १३।२ में भी दृष्टिगत होता है॥ १८॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ १९॥

उव्वटभाष्यम् १९

[किम्भूतं तं (१) विशिष्यते—]

स एव पुरुष एकांशभूतः प्रजापतिरस्य गर्भस्यान्तरजायमानश्चरति चतुर्विधेषु भूतेषु। स एव जायमानो बहुधानेकप्रकारं विजायते। ये धीरा योगिनस्ते

१९—(तै० आ० ३।१३।१)—अथ तृतीयामाह-प्रजापति'''विजायते। तस्य धीराः परिजानन्ति योनिं मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥ इति।

ब्रह्माण्डरूपे गर्भेऽन्तर्मध्ये प्रजापतिर्विग्रहवान् भूत्वा चरति। स च वास्तवेन रूपेण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुत्या प्रतिपादनादजायमान एव तथापि मायिकेन रूपेण बहुधा स्थावरजङ्गमादि बहुप्रकारो विशेषेण जायते। तस्य प्रजापतेर्योनिं जगत्कारणरूपं वास्तवं स्वरूपं धीरा धैर्यवन्तो योगेन निरुद्धेन्द्रिया महात्मानो जानन्ति। वेधसो विधातारः सृष्टिकर्तारस्तमेवोपास्य मरीचीनां मरीच्यत्रिप्रमुखानां (णां) महर्षीणां पदं जगदुत्पादकत्वलक्षणमिच्छन्ति॥

तस्य योनिं परिपश्यन्ति सर्वत्यागे न परिहरन्ति । विश्वे त्रैलोक्ये भुवनानि तस्मिन्नातस्थुः ॥

महीधरभाष्यम्

यः सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति । 'अहं ब्रह्मास्मि' इति जानन्ति विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥

हिन्दीभाषान्तर

प्रजापति गर्भ के भीतर विचरता है । उत्पन्न न होता हुआ (भी) विविध रूपों में उत्पन्न होता है । धीर उसका स्थान चारो ओर देखते हैं । उसमें सम्पूर्ण भुवन अवस्थित हैं ।

टिप्पणियाँ

१. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः—उव्वट—उस पुरुष का अंशरूप प्रजापति उत्पन्न न होता हुआ भी चतुर्विध भूतों के गर्भ में विचरण करता है । उव्वट 'अजायमानः' को 'प्रजापतिः' के साथ अन्वित करते हैं । मही०—जो सर्वात्मा प्रजापति है वही आभ्यन्तर में स्थिर होता हुआ गर्भ के मध्य में प्रवेश करता है । सायण–ब्रह्माण्ड रूप गर्भ के भीतर प्रजापति शरीरी होकर विचरण करता है ।

२. अजायमानः बहुधा विजायते—उव्वट—वह प्रजापति ही उत्पन्न होता हुआ अनेकधा जनमता है । उव्वट 'अजायमानः' का अन्वय 'बहुधा विजायते' के साथ नही करते । मही०—नित्य होने से उत्पन्न न होता हुआ भी कार्य, कारण आदि नाना रूपो में उत्पन्न होता है । प्रपञ्चात्मक जगत् में आत्ममाया के द्वारा वह सर्वत्र अनुस्यूत है । सायण–यद्यपि वह उत्पन्न नहीं होता तथापि अपने भाविक रूप से स्थावर, जङ्गम आदि पदार्थों में अनेकधा उत्पन्न होता है ।

३. तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः—उव्वट—धीर योगी उसकी योनि को देखते हैं । मही०—ब्रह्मविद् उसके स्थान और स्वरूप को देखते हैं—'अहं ब्रह्मास्मि' इसे समझ लेते हैं । सायण—योग से इन्द्रिय-प्रवर्तनों का निरोध करने वाले धैर्यवान् महात्मा प्रजापति के जगत् निमित्तक वास्तव स्वरूप को समझते हैं ।

४. तस्मिन्न ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। तस्थुः--स्था + लिट्, प्र० पु०, ब० व०। उव्वट—समस्त भुवन उसमें आस्थित है। मही०—समस्त भूतप्रपञ्च इसी कारणात्मक ब्रह्म में अवस्थित हैं—सब कुछ तदाकार है। तु०—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ऋ० १।११५।१, शु० य० सं० ७।४२।

इस मन्त्र का तृतीय पाद उपर्युक्त खिल सूक्त के नवम मन्त्र के तृतीय पाद के समान है। अथर्व० १०।८।१३ में प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो···। पूर्वार्ध मात्र मिलता है ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥

उव्वटभाष्यम् २०

अग्रे यो देवेभ्यो योगिनस्तं नमन्ति ध्यायन्ति। यो देवेभ्यः सर्वेभ्य आतपत्यतिशयेन तेजसा तपति। आदित्यरूपेणेत्यर्थः। यश्च देवानां पुरोऽग्रे इन्द्रत्वेन स्थितः। यश्च पूर्वोऽग्रे ब्रह्मरूपेण देवेभ्यो जातः। तस्मै रुचाय ब्राह्मये ब्रह्मपुरुषापत्याय नमः॥

महीधरभाष्यम्

यः प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थायातपति द्योतते। यश्च देवानां पुरोहितः सर्वकार्येष्वग्रे नीतः। यश्च देवेभ्यः सकाशात् पूर्वो जातः प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नमः। कीदृशाय? रोचतेऽसौ रुचस्तस्मै दीप्यमानाय। 'इगुपध'—(पा० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। तथा ब्राह्मये ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मिः। इञि (पा० ४।१।९५) टिलोपः ब्रह्मावयवभूताय वा॥

हिन्दीभाषान्तर

जो देवों के लिए तपता है, जो देवों का अग्रणी है, जो देवों से पहले उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले (उस) तेज को नमस्कार है।

टिप्पणियाँ

१. यो देवेभ्यः आतपति—उव्वट—जो समस्त देवों के लिए अपने अतिशायी तेज से—आदित्यरूप में—तपता है। महीधर–आदित्यरूप प्रजापति

देवों के लिए द्योतित होता है। सायण—जो परमेश्वर देवों के निमित्त सर्वत्र प्रकाशित होता है—देवों के देवत्व की सिद्धि के लिए उनके भीतर चैतन्य रूप में प्रविष्ट होकर आविर्भूत होता है।

२. यो देवानां पुरोहितः—पुरस् + धा + क्तः—पुरोहितः। उव्वट—जो देवों से पूर्व इन्द्ररूप में स्थित है। महीº—जो देवों के सकल कार्यों में आगे रहता है। सायण—जो देवों का बृहस्पति नामक पुरोहित है।

३. पूर्वो यो देवेभ्यो जातः—उव्वट—जो देवों से पहले ब्रह्मरूप मे उत्पन्न हुआ। महीº—जो देवों से पूर्व आदित्यरूप में जनमा। सायण—जो देवो से पूर्व हिरण्यगर्भ होकर जनमा।

४. नमो रुचाय ब्राह्मये—रुचाय रोचतेऽसौ रुचः, तस्मै—रुच् (दीप्तौ) + कः—'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पाº ३।१।१३५)। ब्राह्मये—ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मिः, तस्मै—ब्रह्म + इञ्—'अत इञ्' (पाº ४।१।९५)। उव्वट—ब्रह्मपुरुष के अपत्य तेज को नमस्कार है। महीº—ब्रह्म के अपत्य अथवा ब्रह्मांशभूत—जो दीप्त है—को नमस्कार। सायण—प्रदीप्त स्वयंप्रकाश परब्रह्मस्वरूप या वेद-प्रतिपाद्य को नमस्कार है ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे ॥२१॥

२०—(तैº आº ४।१३।४)—अथ चतुर्थीमाह—यो ब्राह्मये ॥—इति।

यः परमेश्वरो देवेभ्यो देवार्थमातपति सर्वत्र प्रकाशते, देवानां देवत्व-सिद्धये तत्तद्धृदयेषु चैतन्यरूपेण प्रविश्याविर्भवति। यश्च देवानां पुरोहितो बृहस्पतिर्बभूव "बृहस्पतिर्देवानां पुरोहितः" इति श्रुतेः। यश्च देवेभ्यः पूर्वो जातः प्रथमभावी हिरण्यगर्भरूपेणोत्पन्नः—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (ऋº १०।१२१।१, शुº यº संº १३।४, २३।१, २५।१०) इति श्रुतेः। तादृशाय रुचाय रोचमानाय स्वयम्प्रकाशाय ब्राह्मये परब्रह्मस्वरूपाय ब्रह्मणा वेदेन प्रतिपाद्याय वा नमो नमस्कारोऽस्तु ॥ (साº भाº) ॥

उव्वटभाष्यम् २१

रुचं देदीप्यमानं ब्राह्मं ब्रह्मण उत्पन्नं जनयन्तः सृष्ट्यर्थं देवाः योगिनस्ते ब्रह्मा दीप्यमाना यदब्रुवन् यद् ब्रूयुरग्रे प्रथमतः। किमूचुः? अपरोऽपि यो ब्राह्मणः स ब्रह्म विद्याज्जानीयात्। तस्य देवा असन् वशे। सोऽपि सनकादीना स्थानं गच्छतीत्यर्थः॥

महीधरभाष्यम्

देवा दीप्यमानाः प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्रे प्रथमं तद् वचोऽब्रुवन् ऊचुः। ब्राह्मोऽजातौ (पा० ६।४।१७१) इति निपातः। तत्किमत आह। यो ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्त-विधिनोत्पन्नं विद्याज्जानीयात् तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन् वश्या भवन्ति। आदित्योपासिता जगत्पूज्यो भवतीत्यर्थः॥

हिन्दीभाषान्तर

ब्रह्म सम्बद्ध तेज को उत्पन्न करते हुए देवों ने सर्वप्रथम यह कहा, (कि) जो ब्रह्मवित् तुम्हें इस प्रकार समझे उसके वश में देव हो जायँ।

टिप्पणियाँ

१. रुचं ब्राह्मं जनयन्तः—ब्राह्मम्—ब्रह्म + अण्—'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१)—निपातसिद्ध। जनयन्त—जन् + णिच् + शतृ। उव्वट—ब्रह्म से सम्बद्ध दीप्त तेज को उत्पन्न करते हुए। महीधर—प्रदीप्त प्राण (देवाः) शोभन

२१—(तै० आ० ३।१३।५)—अथ पञ्चमीमाह—रुचं·····वशे॥—इति॥ देवाः सर्वेऽग्रे सृष्ट्यादौ ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तनकाले ब्राह्मं रुचं परब्रह्म-सम्बन्धि चैतन्यं जनयन्तो विद्यया प्रादुर्भावयन्तस्तद् ब्रह्मतत्त्वं सम्बो-ध्याब्रुवन् वाक्ष्यमाणं वाक्यमुक्तवन्तः। किं तद् वाक्यमिति तदुच्यते—हे परमात्मन् यः कश्चिद् ब्राह्मणः पुमांस्त्वामेवं यथोक्तप्रकारेण विद्याद् तस्य ब्रह्मविदः सर्वे देवा वशेऽसन्नधीना भवन्ति, स्वयं हि तेषां देवानामन्तर्यामी परमात्मा भवति, तस्माद् देवा एतदधीना न त्वस्य देवा ईश्वराः। एतमेवार्थं वाजसनेयिनो विस्पष्टमामनन्ति—"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति। तस्य (ह न) देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳ स भवति (बृहदा० १।४।१०) इति॥—(सा० भा०)॥

ब्रह्म—अपत्य आदित्य को उत्पन्न करते हुए। सायण—परब्रह्मविषयक चैतन्य को विद्या के द्वारा प्रादुर्भूत करते हुए।

२. देवा अग्रे तद् अब्रुवन्—ब्रु + लङ्, प्र० पु०, ब० व०। देवों ने सर्वप्रथम जो वाक्य कहा।

३. यः त्वा एवं ब्राह्मणो विद्यात्—उव्वट—जो ब्राह्मण ब्रह्मविद्या को जान ले। महीधर—हे आदित्य! जो ब्राह्मण तुम्हें पूर्ववर्णित प्रकार से उत्पन्न जान ले। सायण—हे परमात्मन्! जो ब्राह्मण पुरुष तुम्हें उक्त प्रकार से समझे।

४. तस्य देवा असन् वशे—उव्वट—देव वशंवद हों—सनक आदि के स्थान को प्राप्त करें। महीधर—देव वशवर्ती हों—आदित्योपासक जगत्पूज्य होता है। सायण—देव उस ब्रह्मवित् के अधिकार में हों॥ २१ ॥

श्रीश्चं ते लक्ष्मीश्चं पत्न्यावहोरात्रे

पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।

इष्णन्निषाणामुं म इषाण

सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥

उव्वटभाष्यम् २२

अस्य पुरुषस्यैतेऽवयवाः श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यौ भार्ये। अहश्च रात्रिश्च ते पार्श्वे। नक्षत्राणि रूपम्। अश्विनौ व्यात्तं मुखम्। इष्णन् इषाण स्वर्गस्य

२२—(तै० आ० ३।१३।६) अथ यजुरात्मनं कञ्चिन्मन्त्रमाह—ह्रीश्च ···॥ ह्रीर्लज्जाभिमानी देवता। लक्ष्मीरैश्वर्याभिमानी देवता॥

हे परमात्मान्। ह्रीश्च लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्यास्थानीये। अहोरात्रे ते पार्श्वे पार्श्वद्वयस्थानीये। नक्षत्राण्याकाशे दृश्यमानानि रूपं तव शरीरस्थानीयम्। अश्विनौ यौ देवौ तौ तव व्यात्तं विवृतमुखस्थानीयम्। तथाविध हे विराट्-पुरुषेष्टमस्मदपेक्षितमात्मबोधं मनिषाणानुमन्यस्व। देहीत्यर्थः। अमुं लोके दृश्यमानं गवाश्वादिकं मनिषाण प्रयच्छ। किं बहुना, सर्वं मनिषाणैहिकमामुष्मिकं वा सर्वमिष्टं देहि॥—(सा० भा०)॥

लोकस्येशानः। एतद् गुणविशिष्टो नाम मोक्षस्येशानः सर्वलोकस्य च स एव देवानामीशान इति ॥

इति शौनकप्रणीतं पुरुषसूक्त-भाष्यं समाप्तम् ॥

महीधरभाष्यम्

ऋषिरादित्यं स्तुत्वा प्रार्थयते। हे आदित्य! श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये। त्वद्वश्ये इत्यर्थः। यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः। यथा लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः। सौन्दर्यमित्यर्थः। अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्थानीये। नक्षत्राणि गगनगास्तारास्तव रूपम्। तवैव तेजसा भासमानत्वात्—"तेजसां गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः" इति ज्योतिः शास्त्रोक्तेः। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तव व्यात्तं विकासितमुखस्थानीये। अश्नुवाते व्याप्नुवतस्तौ अश्विनौ—"अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ। इमे हीद ँ सर्वमश्नुवाताम्" इति श्रुतेः। य ईदृशस्तं त्वां याचे। इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन्। इषाणेच्छ। 'इषु इच्छायाम्' विकरणव्यत्ययः। यद्वा 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादिः। अत्रेच्छार्थः। किमेषणीयं तत्राह। अमुं परलोकं मे ममेषाण मम परलोकः समीचीनोऽस्त्वित्यिच्छा। अमोघेच्छत्वादिष्टं भवतीत्यर्थः सर्वं मे ममेषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छेत्यर्थः। मुक्तो भवेयमित्यर्थः। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्यो० ३।१४।१) इति सामश्रुतेः ॥

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपमनोहरे।
नरमेधाध्याय एष एकत्रिंशोऽयमीरितः ॥

हिन्दीभाषान्तर

श्री और लक्ष्मी तुम्हारी पत्नियाँ हैं, दिन और रात (तुम्हारे) पार्श्व हैं, नक्षत्र तुम्हारा रूप है, अश्विन् (तुम्हारा) विवृत मुख है। इच्छा करता हुआ मैं इच्छा करूँ (कि) मेरे लिए वह (लोक) इच्छित हो जाय (और) सम्पूर्ण लोक इच्छित बन जायँ।

टिप्पणियाँ

१. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ—श्रीयते सर्वैरिति श्रीः—श्रिञ् (सेवा करना, आश्रय लेना)-क्विप् (उणा० २।५७)। सम्पत्ति (देखिए, खोंदा, ऋ० इ० पृ०

१४९; श्री के विकास के लिए देखिए, वही, आस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली विष्णुइज़्म)। लक्ष्यते या लक्ष्मीः—लक्ष (दर्शन) + ईः (मुडागम) (उणा० ३।१६०)। सौन्दर्य। सायण—ऐश्वर्याभिमानी देवता। इस शब्द का ऋग्वेद में—१०।७१।२— केवल एक बार प्रयोग हुआ है। पत्न्यौ—पति + नः—'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' पा० (४।१।३३) + ङीप्, प्रथमा, द्वि० व०। उव्वट—पुरुष की सम्पत्ति सौन्दर्य— दोनों पत्नियाँ हैं। मही०—आदित्य की दोनों पत्नियाँ हैं।

२. व्यात्तम्—वि + आ + दा + क्तः—विवृत मुख, फैला हुआ, खुला हुआ मुख।

३. इष्णन्—इष् या इष् (क्रयादि) (इच्छा करना) + शतृ = इच्छा करता हुआ। कर्मफल की इच्छा करता हुआ।

४. इषाण—इष् या इष् (क्रयादि) (इच्छा करना) + लेट् लकार, उ० पु०, ए० व०।

महीधर ने इसे त्रिष्टुप् छन्द कहा है। तीसरा, चौथा चरण हीनाक्षर पाद या निचृत् या भुरिक् है। प्रथम पाद में १२ तथा द्वितीय पाद में १३ वर्ण हैं ॥२२॥



शिवसङ्कल्पसूक्तम्

३४ अ० क० १—६

शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनवाजसनेयसंहितायाम्

(चतुस्त्रिंशाध्यायाद्यकण्डिकाषट्कात्मिका-शिवसङ्कल्पोपनिषत्)

याज्ञवल्क्य ऋषिः । मनोदेवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

उव्वटभाष्यम् १

यन्मनो जाग्रतः पुरुषस्य दूरम् उदैति उद्गच्छति चक्षुःप्रभृतीन्यपेक्ष्य । यच्च दैवम् । देवो विज्ञानात्मा सोऽनेन गृह्यत इति दैवम् । उक्तञ्च—"मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति । तदु सुप्तस्य । तदः स्थाने यदो वृत्तिः । उकारः समुच्चयार्थीयः । यच्च मनः सुप्तस्य तथैव तेनैव प्रकारेण एति । यच्च दूरङ्गमम् । दूरं गच्छतीति दूरङ्गमम् । अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टग्रहीतृ । ज्योतिषां श्रोत्रादीनां विज्ञाननेतॄणां मध्य एकमेव ज्योतिः । तत् मे मनःशिवसङ्कल्पम् । सङ्कल्पः काममूलपदार्थस्य स्त्र्यादेः सुरूपताज्ञानवतः कामप्रभृति । शान्तसङ्कल्पमस्तु भवतु ॥

महीधरभाष्यम्

अनारभ्याधीतोऽध्यायः । आ पितृमेधाद् आदित्य याज्ञवल्क्यद्रष्टा मन्त्राः पाठे विनियुक्ताः । षड्चस्त्रिष्टुभो मनोदेवत्याः शिवसङ्कल्पदृष्टाः ॥

ऋषिर्वदति । तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु शिवः कल्याणकारी धर्मविषयः सङ्कल्पो यस्य तत् तादृशं भवतु । मन्मनसि सदा धर्म एव भवतु न कदाचित् पापमित्यर्थः । तत् किम् । तत् मनो जाग्रतः पुरुषस्य दूरमुदैति उद्गच्छति । चक्षु-

राद्यपेक्षा मनो दूरगामीत्यर्थः। यच्च दैवं दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा तत्र भव दैवमात्मग्राहकमित्यर्थः। "मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति श्रुतेः। तत उ। तदः स्थाने तच्छब्दः, उकारश्चार्थः। यच्च मनः सुप्तस्य पुसः तथैव एति यथा गतं तथैव पुनरागच्छति। स्वापकाले सुषुप्तावस्थायां पुनरागच्छति। यच्च दूरङ्गमं दूराद् गच्छतीति दूरङ्गमम्। खश्प्रत्ययः। अतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थाना ग्राहकमित्यर्थः। यच्च मनो ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणामेकमेव ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तकमित्यर्थः। प्रवर्तितान्येव श्रोत्रादीन्द्रियाणि स्वविषये प्रवर्तन्ते। आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति न्यायोक्तेर्मनः सम्बन्धमन्तरा तेषामप्रवृत्तेः। तादृशं मे मनः शान्तसङ्कल्पमस्तु ॥

हिन्दीभाषान्तर

जागते हुए (याज्ञवल्क्य) का जो दिव्य मन दूर चला जाता है तथा सोते हुए का वही (मन) उसी प्रकार से (पुनः) चला आता है, दूरगामी, प्रकाशों में अद्वितीय प्रकाशरूप मेरा वह मन शुभ सङ्कल्पो वाला हो।

टिप्पणियाँ

फ्रायड, एडलर और युंग जैसे विद्वानों ने मनस् तत्त्व की विवेचना कर उसके विस्मयावह नाना व्यापारो के आयामों से आधुनिक युग के विज्ञान को एक दिशा दी है। वैदिक ऋषियों को मनस् तत्त्व की अलोकसामान्य क्षमता का परिपूर्ण ज्ञान था। इस सूक्त में मनस् के महिमामय सामर्थ्य का वर्णन किया गया है।

१. जाग्रतः—जागृ (जागना) + शतृ, षष्ठी, ए० व०, जागते हुए का।

२. दूरमुदैति—उदैति—उत् + इण्, लट्, प्र० पु०, ए० व०, दूर चला जाता है। चक्षु, श्रोत्र आदि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन दूरगामी है।

३. दैवम्—उव्वट देव विज्ञान आत्मा को कहते हैं। ईस देव को स्ववशंवद बनाने के कारण दैव कहा गया। महीधर—दीव्यतीति देवः—प्रकाशरूप आत्मा, तत्सम्बद्ध दैव।

४. दूरङ्गमम्—दूरं गच्छतीति—दूर + गम् + खश्—'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'—मुम् आगम, (पा० ६।३।६७)। दूर गमन करने वाला।

५. शिवसङ्कल्पम्—शिवः सङ्कल्पो यस्य तत्—, शिव—कल्याणकारी, सम् + क्लृप् + अप्—'ऋदोरप्' (पा० ३।३।५७) इच्छा, कामना। अच्छे विचार वाला, कल्याणकारिणी कामनाओं वाला।

छन्द की दृष्टि से 'तथैवेति' के स्थान पर 'तथा एव एति' पढ़ना चाहिए। त्रिष्टुप् छन्द होने के कारण प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होने चाहिए, पर द्वितीय पाद में केवल ९ वर्ण हैं।

यह मन्त्र ऋग्वैदिक खिल-अध्याय ४, सूक्त ११, मन्त्र ४ में उपलब्ध है॥१॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

उव्वटभाष्यम् २

येन कर्माणि। येन मनसा सता कर्माणि। अपसः। अप इति कर्म नाम। तद्धितलोपः। अपस्विनः कर्मवतः। मनीषिणो मेधाविनः। यज्ञे कृण्वन्ति कुर्वन्ति। विदथेषु वेदनेषु यज्ञविधिविधानेषु धीरा धीमन्तः। यच्चापूर्वम्। न विद्यते पूर्वमिन्द्रियं यस्मात् तदपूर्वम्। यद्वा—अपूर्वमनपरम्। यच्च यक्षं पूज्यम्। यच्चान्तर्मध्ये प्रजानामास्ते। तन्मे मन इति व्याख्यतम्॥

महीधरभाष्यम्

मनीषिणो मेधाविनो यज्ञे येन मनसा सता कर्माणि कृण्वन्ति कुर्वन्ति। 'कृञ् करणे' स्वादिः। मनःस्वास्थ्यं विना कर्माप्रवृत्तेः। केषु सत्सु? विदथेषु ज्ञानेषु सत्सु, विद्यन्ते ज्ञायन्ते तानि विदथानि तेषु। वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्ययः। प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्तं पदम्—'प्रत्ययः। परश्च। आद्युदात्तश्च' (पा० ३।१।१–३) इति पाणिन्युक्तेः यज्ञसम्बन्धिनां हविरादिपदार्थाना ज्ञानेषु सत्स्वित्यर्थः। कीदृशा मनीषिणः? अपसः। अप इति कर्म नाम (निघ० २।१।१) अपो विद्यते येषां ते मनस्विनः कर्मवन्तः। 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा० ५।२।१२१) इति विन्प्रत्ययः। 'विन्मतोर्लुक्' इतीष्ठाभावेऽपि छान्दसो विनो लुक् (पा०

५।३।६९)। सदा कर्मनिष्ठा इत्यर्थः। तथा धीरा धीमन्तः, धीर्विद्यते येषा ते धोराः। 'कर्मण्यण्' (पा० ३।२।१)। यच्च मनः अपूर्वं न विद्यते पूर्वमिन्द्रियं यस्मात्तदपूर्वम् इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः। यद्वा अपूर्वमनपरमबाह्यमित्युक्तेरपूर्वमात्मरूपमित्यर्थः। यच्च यक्षं, यष्टुं शक्तं यक्षम्। यजतेरौणादिकः सन् प्रत्ययः। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१७) इत्याद्युदात्तं पदम्। यच्च प्रजायन्त इति प्रजास्तासां प्राणिमात्राणामन्तः शरीरमध्य आस्ते। इतरेन्द्रियाणि बहिष्ठानि मनस्त्वन्तरिन्द्रियमित्यर्थः तत् तादृशं मे मनः शिवसङ्कल्पमस्त्विति व्याख्यातम्॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसके द्वारा कर्मनिष्ठ, मनीषी, धीर (जन) यज्ञ में कर्म करते हैं, जो प्रजाओं का अपूर्व आन्तर रहस्य है, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला हो।

टिप्पणियाँ

१. अपसः—अपस्+विन्-प्रत्ययः—'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा० ५।२।१२१), 'विन्मतोर्लुक्' (पा० ५।३।६५)—विन् का छान्दस् लोप। कर्मनिष्ठ, कार्य में तत्पर रहने वाले।

२. कृण्वन्ति—कृ (स्वादि-करना)+लट्, प्र० पु०, ब० व०। करते हैं।

३. विदथ—यज्ञ—टिप्पणी देखिए, विश्वेदेवासूक्त मन्त्र ५, इन्द्र-सूक्त मन्त्र १९ में विदथ पर।

४. अपूर्वम्—न विद्यते पूर्वं यस्य तत्। जिसके पूर्व अन्य इन्द्रियों की सृष्टि नहीं हुई। अथवा अद्वितीय, आन्तर।

५. यक्षम्—यक्ष (पूजायाम्)+घञ्—'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० ३।३।१९)। महीधर ने इसकी व्युत्पत्ति—यज्+सन्—औणादिक प्रत्यय—की है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का मत है कि यक्ष शब्द का अर्थ रहस्य है। मनस् तत्त्व के विश्लेषक के लिए इसकी रहस्यमयता अपरिचित नहीं है।

यह मन्त्र पूर्वोक्त खिलसूक्त का दूसरा है॥ २॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥३॥

उव्वटभाष्यम् ३

यत्प्रज्ञानम् । यन्मनः प्रज्ञानम् । विशेषप्रतिपत्तिः प्रज्ञानम् । उतापि च । चेतः । सामान्यप्रतिपत्तिः चेतः । धृतिश्च प्रसिद्धा । यन्मनोऽन्तर्ज्योतिरमृतं च प्रजासु । यस्मान्न ऋते येन च विना न किञ्चन कर्म क्रियते । तन्मे मम इति व्याख्यातम् ॥

महीधरभाष्यम्

तत् मनः प्रज्ञानं विशेषेण ज्ञानजनकम् । प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम् । 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११) इति करणे ल्युट्प्रत्ययः । उत अपि यत् मनः चेतः । चेतयति सम्यक् ज्ञापयति तच्चेतः । 'चिती सञ्ज्ञाने' अस्माण्ण्यन्तादसुन्प्रत्ययः । सामान्य-विशेष-ज्ञान-जनकमित्यर्थः । यच्च मनः धृतिर्धैर्यरूपम् । मनस्येव धैर्योत्पत्तेर्मनसि धैर्यमुपचर्यते कार्यकारणयोरभेदात् । यच्च मनः प्रजासु जनेषु अन्तर्वर्तमानं सत् ज्योतिः प्रकाशकं सर्वेन्द्रियाणाम् । उक्तमपि पुनरुच्यते आदरार्थम् । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १।४२) इति यास्कोक्तेः । यच्चामृतममरणधर्मि आत्मरूपत्वात् । यस्मान्मनस ऋते, यन्मनो विना, किञ्चन किमपि कर्म न क्रियते जनैः । सर्वकर्मसु प्राणिनां मनःपूर्वं प्रवृत्तेर्मनः स्वास्थ्यं विना कर्माभावादित्यर्थः । 'अन्यारादितरर्ते' ' (पा० २।३।२९) इत्यादिना यस्मादिति ऋते योगे पञ्चमी । तन्मे मन इति व्याख्यातम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो उत्तम ज्ञान, चित्त और धैर्य है, जो प्रजाओं का आन्तर अमृत प्रकाश है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला हो

टिप्पणियाँ

प्रज्ञानम्—प्र + ज्ञा + ल्युट्—'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११) विशेष ज्ञान, उत्कृष्ट ज्ञान । चेतः—'चिती (सञ्ज्ञाने)' + णिच् + असुन्–चित्त, सामान्य ज्ञान, चेतना ।

पूर्वोक्त खिलसूक्त—ऋ० ४।११।३—में यह मन्त्र उपलब्ध होता है ।

छन्द की दृष्टि से 'यस्मान्न ऋते' के स्थान पर 'यस्मान्नर्ते' पढ़ना चाहिए । 'कर्म' अधिक है ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्य-
त्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

उव्वटभाष्यम् ४

येनेदं । येन मनसा । इदं भूतं भूतकालं भुवनं वर्तमानकालं भविष्यद् भविष्यत्कालं च । परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम् । येन च मनसा यज्ञस्तायते तन्यते । सप्तहोता । सप्तहोतारो ह्यग्निष्टोमे भवन्ति । तन्मे मन इति व्याख्यातम् ॥

महीधरभाष्यम्

येन मनसा इदं सर्वं परिगृहीतम् परितः सर्वतो ज्ञातम् । इदं किम् ? भूतम् । भूतकालसम्बन्धि वस्तु । भुवनम् । भवतीति भुवनम् । भवतेः क्युप्रत्ययः । वर्तमानकालसम्बन्धि । भविष्यत् 'लटः सद्वा' (पा० ३।३।१४) इति शतृ-प्रत्ययः, 'तौ सत्' (पा० ३।२।१२७) इत्युक्तेः । त्रिकालसम्बद्धवस्तुषु मनः प्रवर्तत इत्यर्थः । श्रोत्रादीनि तु प्रत्यक्षमेव गृह्णन्ति । कीदृशेन येन ? अमृतेन शाश्वतेन । मुक्तिपर्यन्तं श्रोत्रादीनि नश्यन्ति मनस्त्वनश्वरमित्यर्थः । येन च मनसा यज्ञोऽग्निष्टोमादिस्तायते विस्तार्यते 'तनोतेर्यकि' (पा० ६।४।४४) इत्याकारः । कीदृशो यज्ञः । सप्तहोता, सप्तदेवानामाह्वातारो होतृमैत्रावरुणादयो यत्र स सप्तहोता । अग्निष्टोमे सप्त होतारो भवन्ति । तन्मे मन इति व्याख्यातम् ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस अमृत (मन) के द्वारा यह भूत, वर्तमान, भविष्यत्—सब आकलित होता है, जिसके द्वारा सात होताओं वाला याग सम्पादित होता है, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला हो ।

टिप्पणियाँ

भुवनम्, भवतीति—भू + क्युः । तायते—तन् + यक् लट्, प्र० पु०, ए० व०—'तनोतेर्यकि' (पा० ६।४।४४) से आकार । भविष्यत्—भू +

शतृ—'लटः सद्वा' (पा० ३।३।१४)। सप्तहोता—सप्त होतारो यस्मिन् सः—होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण; ग्रावस्तुत्, ब्राह्मणाच्छसी, अच्छावाक्, अग्नीद्। सोमयागों में अनेक 'होता' रहते हैं।

पूर्वोक्त खिलसूक्त—ऋ० ४।११।१ में यह मन्त्र मिलता है ॥ ४ ॥

यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजू॑ᳪंषि
यस्मि॑न् प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः
यस्मि॑ᳪंश्चि॒त्तᳪं सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॑
तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

उव्वटभाष्यम् ५

यस्मिन्नृचः यस्मिन् मनसि ऋचः प्रतिष्ठिताः। यस्मिन् सामानि प्रतिष्ठितानि। यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि। कथमिव ? रथनाभौ इव अराः यस्मिन् चित्तं सञ्ज्ञानं सर्वं तस्य तस्यार्थस्य। ओतं निक्षिप्तम्। तन्तुसन्ततिमिव कृतम्। प्रजानाम्। तन्मे मन इति व्याख्यातम् ॥

महीधरभाष्यम्

यस्मिन् मनसि ऋचः प्रतिष्ठिताः। यस्मिन् साम सामानि प्रतिष्ठितानि। यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि। मनसः स्वास्थ्य एव वेदत्रयी स्फूर्तेर्मनसि शब्दमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वम्। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इति छान्दोग्ये मनस एव स्वास्थ्ये वेदोच्चारणशक्तिः प्रतिपादिता। तत्र दृष्टान्तः। रथानाभौ अरा इव। यथा अरा रथचक्रनाभौ मध्ये प्रतिष्ठितास्तद्वच्छन्दजालं मनसि। किञ्च प्रजानां सर्वं चित्तं ज्ञानं सर्वपदार्थविषयिज्ञानं यस्मिन् मनसि ओतं प्रोतं निक्षिप्तम्। तन्तुसन्ततिः पट इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम्। मनः स्वास्थ्य एव ज्ञानोत्पत्तिर्मनोवैयग्र्ये च ज्ञानाभावः। तन्मे मनः शिवसङ्कल्पं शान्तव्यापारमस्तु ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसमें ऋचाएँ, साम और यजुष् रथ के पुट्ठों में (लगे हुए) आरों के समान प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सारे मनुष्यों का चित्त बिंधा हुआ है, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला हो।

टिप्पणियाँ

१. ओतम्—आ + वेञ् (तन्तुसन्ताने) + क्तः—बिंधा हुआ अथवा स्यूत।

२. यस्मिँश्सर्वम्–यजुर्वेद में श्, ष्, स्, र्, ह् के पूर्व आने वाले अनुस्वार का उच्चारण 'ग्वं' होता है। ग्वंश्या 'ँ' चिह्न से द्योतित किया जाता है।

यह मन्त्र पूर्वोक्त खिलसूक्त—ऋ० ४।११।५ में भी है॥ ५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

उव्वटभाष्यम् ६

सुषारथिः। यन्मनो मनुष्यान् नेनीयतेऽत्यर्थं नीयते। कथमिव। सुषारथिः कल्याणसारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्। यच्च मनः सुषारथिरिव। अभीशुभिः प्रग्रहै-र्वाजिन इव वेजनवतोऽश्वानिव। यमयतीति शेषः। द्वे उपमे। एकत्र नयनमन्यत्र नियमनमर्थः। यच्च हृत्प्रतिष्ठम्। तत्रोपलब्धेः। यच्च अजिरं जरारहितम्। यच्च जविष्ठमतिशयेन गन्तृ। तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

महीधरभाष्यम्

यत् मनो मनुष्यान् नरान् नेनीयतेऽत्यर्थमितस्ततो नयति। नयतेः क्रिया-समभिहारे यङ्। मनःप्रेरिता एव प्राणिनः प्रवर्तन्ते। मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रो-पलक्षकम्। तत्र दृष्टान्तः। सुषारथिरश्वानिव शोभनः सारथिर्यन्ता यथा कशया अश्वान् नेनीयते। द्वितीयो दृष्टान्तः। अभीशुभिर्वाजिन इव, यथा सुसारथिरभी-शुभिः। प्रग्रहैर्वाजिनोऽश्वान् नेनीयत इत्यनुषङ्गः। रश्मिभिर्नियच्छतीत्यर्थः। उपमा-द्वयम्। प्रथमायां नयनं द्वितीयायां नियमनम्। तथा मनः प्रवर्तयति नियच्छति च नरानित्यर्थः। यच्च मनो हृत्प्रतिष्ठं हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत्। हृद्येव मन उपलभ्यते। यच्च मनोऽजिरं जरारहितम् बाल्ययौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थ-त्वात्। यच्च जविष्ठम् अतिजववद्वेगवत् जविष्ठम् "न वै वातात् किञ्चनाशीयोऽस्ति, न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति" इति श्रुतेः। तन्म इत्युक्तम्॥

हिन्दीभाषान्तर

अच्छे सारथि के समान जो मन, घोड़ों के सदृश मनुष्यो को बार-बार ले जाता है; (यथा) बाग से घोड़ों—जैसे (उन्हें नियन्त्रित करता है) जो हृदय में अवस्थित है, जरारहित और अतिशय वेगवान् है, मेरा वह मन शुभ सङ्कल्पों वाला हो।

टिप्पणियाँ

१. नेनीयते—नी + यङ् + लट्, प्र० पु०, ए० व०—पुनः पुनरतिशयेन वा नीयते, नेनीयते'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (पा० ३।१।२२)।

२. सुषारथिः—नामी स्वर के अनन्तर 'स्' को 'ष्' होता है। ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ नामी स्वर हैं—'ऋकारादयो दशनामिनः स्वराः'—१।६५ ऋ० प्रा०।

३. अभीषुभिः—ईषते, ईष्यते वा—ईष् (गति अर्थ) + उः (उणा० १।१३)—अभिगत इषुः—अभीषुः—यह शब्द तालव्यान्त भी है। डोरी, वल्गा, बाग, घोड़े की लगाम में लगी हुई डोरी।

४. वाजिनः—अवश्यं वजतीति—वज् (गतौ) + णिनिः—'आवश्यकाधमर्ण्योर्णिनिः' (पा० ३।३।१७०)। वाजाः पक्षा अभूवन् यस्य—वाज + इनिः—'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५)। वाजं बलमस्यास्तीति—वाज + इनिः। घोड़ा।

५. प्रतिष्ठम्—प्रति + स्था (ष्ठा गतिनिवृत्तौ) + कः—'आतश्चोपसर्गे' (पा० ३।३।१३६)। अवस्थित, भली भाँति स्थित।

६. जविष्ठम्— जु (सौत्र धातु, वेद और गति अर्थ में) + इष्ठन्—अतिशय वेग वाला, अतिशय गतिशील ॥ ६ ॥



अथर्ववेदसंहितायाम्

पृथिवीसूक्तम्

द्वादशकाण्डे प्रथमं सूक्तम्

[अत्र द्वादश मंत्रा एव संगृहीताः]

अथर्वा ऋषिः । भूमिः देवता । १,३ त्रिष्टुप् ; २ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ४,५,१० षट्पदा जगती; ८, ११ षट्पदा विराडष्टिः; ९ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् १२, १५ पञ्चपदा शक्करी; ४५ जगती ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्यु-
रुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

पदपाठः

सत्यम् । बृहत् । ऋतम् । उग्रम् । दीक्षा । तपः । ब्रह्म । यज्ञः । पृथिवीम् । धारयन्ति । सा । नः । भूतस्य । भव्यस्य । पत्नी । उरुम् । लोकम् । पृथिवी । नः । कृणोतु ॥ १ ॥

हिन्दीभाषान्तर

सत्य, महत्ता, ऋत, बल, दीक्षा, ब्रह्म और यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं। भूत (और) भव्य की पत्नी वह पृथिवी हमारे लोक को हमारे लिए वरीयान् कर दे।

टिप्पणियाँ

१. सत्यम्—दे० अग्निसूक्त, ५ टिप्पणी। बृहत्—बृह बृहौ वृद्धौ (बर्हति, बृंहतीति वा बृहत्) + कति, वर्तमाने पृषद् बृहन् महज् जगच् छतृवच्च, (द० उ० ६-५; पं. उ. २-८४) से निपातन द्वारा; सि. कौ. २-२५० में इस सूत्र द्वारा अति प्रत्ययान्त बृहत् शब्द की सिद्धि की गयी है। नि. ३.३.४

में बृहत् महत् का पर्याय है। ब्लूमफील्ड बृहत् का अर्थ महत्ता करते हैं (से. बु. ई., भाग ४२, पृ. १९९)। ह्निटनी बृहत् को सत्य का विशेषण मानकर, बृहत्—सत्यम् का अर्थ—महान् सत्य—करते हैं (अ. सं., पृ० ५·६६०)॥ ऐ. ब्रा. ८. २ में बृहत् को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ कहा गया है।

२. ऋतम्—ऋ (गतौ) + क्त, ऋत उस नियम को कहते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड परिचालित है। ऋत का अर्थ नैतिक नियम भी होता है। अनुवर्ती काल में ऋत और सत्य पर्यायवाची हो गये। ऋत के लिए दे०, एनल्स आफ़ दि भाण्डारकर ओ. इंस्टीट्यूट, सिल्वर जुबिली अंक, पूना।

उग्रम्—उच् (समवाये) + रन्, ऋज्रेन्द्रा···(द. उ. ८.४६; पं. उ., २. ३१; सि. कौ. २.१९६; भा. दी., अ. को., १.१.३२. सा. ऋ. सं. १.७.४)। ध्यातव्य है कि द. उ. बृ. में—उद्गच्छतीत्युग्रः—उत् + गम् + रन,—उद्गिरतीत्युग्रः—उत् + गृ (निगरणे) + रन् व्युत्पत्ति मिलती है। वस्तुतः रन् प्रत्यय नहीं करना चाहिए, अपितु भद्र (सायण, ऋ. सं. १।१।६) के समान यहाँ भी रक् प्रत्यय ही करना चाहिए। उग्र और भद्र दोनों शब्द एक ही सूत्र—ऋज्रेन्द्रा··· से निपात द्वारा सिद्ध किये जाते हैं। दोनों शब्द अन्तोदात्त हैं। रन् प्रत्यय करने पर नित् होने के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त होगा। रन् प्रत्यय के कारण ही सायण को उग्र में व्यत्यय से अन्तोदात्त बताना पड़ा। जब निपातन ही से शब्दसिद्धि अभीष्ट है, तब चाहे रन् प्रत्यय किया जाय या रक्, कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है। रक् प्रत्यय करने पर उग्र की अन्तोदात्तता भी सिद्ध होती है। ब्लूमफ़ील्ड उग्र का अर्थ बल करते हैं। ह्निटनी के अनुसार उग्र ऋत का विशेषण है और इसका अर्थ है—घोर सत्य, प्रबल सत्य।

३. दीक्षा—दीक्ष (मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु—मुंडन, यज्ञ, उपनयन आदि के नियम तथा व्रत करने में) + अ + टाप्—दीक्षते। श. ब्रा. के अनुसार दीक्षावाचक परोक्ष शब्द 'धीक्षा' है, व्यवहार्य जगत् में उसे दीक्षा कहते हैं—

स वै धीक्षते। वाचे हि धीक्षते, यज्ञाय हि धीक्षते, यज्ञो हि वाक्, धीक्षितो ह वै नामैतद् यद् दीक्षितः। श. ब्रा, ३।२।२।३०।

अथ यद् धीक्षितो नाम वाचे वा एष एतद् धीक्षते, यज्ञा हि धीक्षते, यज्ञाय हि धीक्षते, यज्ञो हि वाक्, तस्माद् दीक्षितो नाम, धीक्षितो ह वै नामैतद् यद् दीक्षित इत्याहुः, काण्व, श. ब्रा. । श. ब्रा. के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है धीक्षा शब्द धिक्ष धातु से बनता है। धिक्ष का अर्थ है—संदीपन, क्लेशन, जीवन। चन्नवीर कवि के अनुसार संदीपन का अर्थ क्षुधा, क्लेशन का श्रम है (का. कृ. धा. १.५०८)। ध्यातव्य है कि धातुपाठों में धिक्ष है, पर श. ब्रा. में धीक्ष।

गो. ५० में धी + क्षि व्युत्पत्ति है—कस्यस्विद् हेतोर्दीक्षित इत्याचक्षते, श्रेष्ठां धियतीति, ३।१९।

सोमयागों में होने वाली दीक्षणीय इष्टि के द्वारा यजमान का संस्कार और तदनन्तर सम्पूर्ण यज्ञ के समापन तक कतिपय विशेष नियमों के पालन को दीक्षा कहा गया है। दीक्षा के पूर्व यजमान में यज्ञ करने की योग्यता का अभाव रहता है। दीक्षा द्वारा वह यजमान यज्ञ करने की क्षमता प्राप्त करता है। यज्ञ में मनुष्य का नवीन जन्म होता है। दीक्षित होने का अर्थ है पुराने जीवन का—मानुष-जीवन का—समापन तथा नवीन जीवन—दिव्य जीवन, दैवी जीवन का—समारम्भ। इसी दृष्टि से दीक्षा में पहुँचने का अर्थ दैवी गर्भ में पहुँचना है।

गर्भो वा एष यद् दीक्षितः, तै. सं. ६।१।३; गर्भो दीक्षितः, का. सं. २३।२।६; रेतो दीक्षितः, गर्भो दीक्षितः, मै. सं. ३।६।१।७; गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते, छन्दांसि प्रविशति; गर्भो दीक्षितः, श. ब्रा. ३।२।१।६, १।३।२८; देवगर्भो वा एष यद् दीक्षितः, कौ. ब्रा. ७।२; एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति, ऐ. ब्रा. १।३। आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः। अ. सं. ११।५।३॥

दीक्षा—गतजीवन का समापन—

य एतमेतद् दीक्षयन्ति तद् द्वितीयं म्रियते। वपन्ति केशश्मश्रूणि, निकृन्तति नखान्, प्रत्यञ्जन्त्यङ्गानि, प्रत्यञ्चन्त्यङ्गुलीः, अपवृतोऽपवेष्टित आस्ते, न जुहोति, न यजते, न योषितं चरति, अमानुषीं वाचं वदति, मृतस्य वा वैष तदा रूपं भवति, जै. उ. ३।९।४।

इसी दृष्टि से श. ब्रा. में पुरुष के तीन जन्म कहे गये हैं—माता-पिता से, यज्ञ से, मृत्यु के अनन्तर—त्रिर्ह वै पुरुषो जायते, एतन्नेव मातुश्चाधिपितुश्चाग्रे, अथ यं यज्ञ उपनमति, स यद् यजते तद् द्वितीयं जायते, अथ यत्र म्रियते यत्रैन-मग्नावभ्यादधति तत् तृतीयं जायते तस्मात् त्रिः पुरुषो जायत इत्याहुः। श. ब्रा. ११।२।१।१।

दीक्षा ग्रहण के बाद यज्ञ से उत्थान प्राप्त कर यजमान दैवी जीवन प्राप्त कर लेता है—देवान् या एष उपोत्क्रामति यो दीक्षते, देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवानामेको भवति, उद्गृभ्णीते वा एषोऽस्माल्लोकाद् देवलोक मभि यो दीक्षते, श. ब्रा ३।१।१।१. ८।९, १।८।१; यदह दीक्षते विष्णुर्भवति, उभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च, श. ब्रा. ३।२।१।१७। यज्ञादु हवा एष पुनर्जायते यो दीक्षते, ऐ. ब्रा. ७।४।

वस्तुतः अनृत के धरातल से हटकर ऋत, सत्य की भूमि का अन्वेषण ही दीक्षा है। इष्टियो में इसे व्रतोपायन कहते हैं।—समिद्धतमेऽग्नौ ऋतमिद् वदेम, ऋ. सं; इदहमनृतात् सत्यमुपैमि, वा. सं. १।५। सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति, श. ब्रा. १४।६।९।२४; ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा, ऐ. ब्रा. १।६। अथ यद् दीक्षितः अव्रत्यं वा व्याहरति क्रुध्यति वा तन् मिथ्या करोति, श. ब्रा. ३।२।२।२४। दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्, ऐ. ब्रा. १.६; स यः सत्यं वदति स दीक्षितः, कौ. ब्रा. ७।३।

४. तपः—तप् + अच् (पचादि)। तप, तपस्या। ब्लूमफील्ड के अनुसार तप का अर्थ प्रजनन की इच्छा से उत्पन्न उत्ताप, गर्मी, उष्णता। ह्विटनी तप को तपस्या मानते हैं। तप का प्रजनन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रजापति सृष्टि करने की इच्छा से उत्तप्त होता है—प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास, स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति, सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत सोऽग्नि मे मुखाज् जनयांचक्रे—श. ब्रा. २.२.४.१। प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास'''स तपोऽतप्यत, स प्रजा असृजत, श. ब्रा. २.५.१.१। दे० श. ब्रा. १४.४.४.१-२, ११.१.६.१ आदि।

५. ब्रह्म—बृहि (वृद्धौ, बृंहति, बृंह्यते वा) + मनिन्, बृहेर्नोच (द. उ. ६.७४, पं. ४.१४६, सि. कौ. ४.१४९)। जिस तत्त्व का कथन वाक् न

कर सके, और जो वाक् को अभिव्यक्त करता है, वह ब्रह्म है—

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि—के० उ० १.०, दे० १.१—९।

६. यज्ञः—यज (देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—देवपूजा, देवसंगतिकरण, देव-दान)+नङ्, यज याच यत विच्छ प्रच्छ रक्षो नङ् (पा. ३.३.९०)। पृथिवीम्—पृथिवी को। धारयन्ति—धृ (धारण करना)+लट्, ब. व. धारण करते हैं।

भूतस्य—भू (सत्तायाम्, सत्ता, अस्तित्व)+क्त, भूत का अर्थ है सत्ता अथवा अस्तित्व में आगत। पुरुषसूक्त में पुरुष को भूत और भव्य कहा गया है—पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्, ऋ. सं. १०.९०.२। अ. सं. में भूत और भव्य स्कम्भ (ब्रह्म) में स्थित बताये गये हैं—भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः, १०.७.२२ (अन्यत्र भूत और भव्य तथा काल के पुत्र कहे गये हैं—कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा, अ. सं. १९.५४.३)। तां. ब्रा. की दृष्टि में संवत्सर में भूत और भव्य दोनो स्थित हैं। संवत्सरेऽन्तर्भूतं च भव्यं च, १८।१०।७, तु., जे. सी. हीस्टरमान, एंशियेंट इंडियन रायल कान्सक्रेशन, हेग, १९५७, ५.१८६ आदि। वस्तुतः पुरुष, भूत-भव्य, स्कंभ, काल और संवत्सर इन सबसें कोई अन्तर नहीं। जो अन्तर आभासित होता है, वह आभासमात्र है, यथार्थ नहीं। पृथिवी इन सबकी शक्ति के रूप में प्रतिपादित है। नासदीय सूक्त में वर्णित 'स्वधा'—आनीदवातं स्वधया तदेकम्, ऋ. सं. १०.१२९.२—अनेकविध स्त्रीवाचक पदार्थों का मूल है। इस स्वधा (अपने आपको धारण करने का सामर्थ्य, स्वशक्ति, स्वमहिमा) से गतिशील प्राण ही प्रजापति, पुरुष आदि का आदि बीज है। इसी दृष्टि से प्रजापति 'भूतस्य'—उत्पन्न समस्त पदार्थ—'पतिः' (रक्षक, व्याप्त करने वाला) है (ऋ. सं. १०.१२१.१) और अग्नि भूतपति (श. ब्रा. ६.१.३.८)। अग्नि और प्रजापति गायत्र हैं, पृथ्वी गायत्री। प्रजापति की प्रतिष्ठा होकर यह भूमि बनी, प्रजापति ने इसके भूमि रूप को प्रथित किया, अतएव इसका नाम पृथ्वी है। अग्नि और पृथ्वी का मिथुनभाव प्रख्यात है (श.ब्रा. ६.१.१-२)। प्रजापति अग्नि को अनेक स्थानों पर संवत्सर के साथ समीकृत किया गया है। इसी दृष्टि से यहाँ पृथ्वी को भूत और भव्य की पत्नी के रूप में उपस्थित किया गया है।

भूत और भव्य के लिए दे०, पुरुषसूक्त, २, टिप्पणी।
उरुं लोकं नः कृणोतु—हमारे लोक को विस्तृत, विशाल कर दे।

असंबाधं मध्यतो मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

पदपाठः

असम्ऽबाधम्। मध्यतः। मानवानाम्। यस्याः। उत्ऽवतः। प्रऽवतः। समम्। बहु। नानाऽवीर्याः। ओषधीः। या। बिभर्ति। पृथिवी। नः। प्रथताम्। राध्यताम्। नः ॥ २ ॥

हिन्दीभाषान्तर

मानवों के बीच, जिस (पृथिवी) के ऊँचे, नीचे (तथा) बहुत से समतल (मैदान), निर्बाध हैं, जो विविध वीर्यों वाली औषधियों को धारण करती है, (वह) पृथिवी हमारे लिए फैले और हमारे लिए समृद्ध हो।

टिप्पणियाँ

१. असंबाधम्—नञ् + सम् + बाधम्—बाधा रहित, अप्रतिहत, निर्बाध। मध्यतः—मां ध्यायते (आतोनुपसर्गे कः, पा० ३।२।३) + क, मां धत्ते (अघ्न्यादयश्च, द० उ० ८।१४, पं० उ० ४।१२०) + यक्, मह्यते मह (पूजायाम्) + यक्। मध्य + तसिल्—मध्यतः, बीच में, मध्य में। मानवानाम्—मन्यते मनुते वा मनुः, मन ज्ञाने अथवा मनु अवबोधने + उ (शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च, द० उ० १।९५; पं० उ० १।१०; सि० कौ० १।१०)। मनोरयं मानवः, मनु + अण्, तस्येदम् (पा० ४।३।१२०)। मनोरपत्यम्, ब्राह्मणभाव····(पा० ४।२।४२) ज्ञापकात्, मनु + अण्। मानवानाम्—मनुष्यों के, मध्यतः—बीच में, मध्य में, असंबाधम्—बाधारहित।

२. उद्वतः, प्रवतः—उत + वन (संभक्तौ) + क्विप्, प्र + वन (संभक्तौ) + क्विप्। ऊँचे, नीचे। ह्विटनी प्रवतः का अर्थ अगला करते हैं। समम्—समतल मैदान।

३. ओषधीः—ओष (उष दाहे) + धे (पाने) + कि, ओषद्—शरीरस्थ रोगों को जलाते हुए, धयन्ति—पी जाती हैं। ओषति—शरीर के किसी अंग में क्लेश होने पर, धयन्ति—उसे पी जाती हैं। दोष + धे + कि—दोषं धयन्ति—दोष को पी जाने वाली।

ओषधय ओषद्धयन्तीति, वा ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा।—निरु०।

ओष + धा + कि, ओषः धीयतेऽत्र। मैकदोनेल—अवसा धीयतेऽत्र, अवसा + धा + कि।

नानावीर्याः—नाना विविधानि वीर्याणि यासां यासु वा, नानावीर्याः, अनेक प्रकार के बल से समन्वित। बिभर्त्ति—भृञ् (धारण करना, पोषण करना) + लट्, प्र० पु०, ए० व०।

४. प्रथताम्, राध्यताम्—प्रथ + लोट्, म० पु०, ए० व०, फैले, विस्तृत हो। राधु (संसिद्धौ) + लोट्, म० पु०, ए० व०, समृद्ध हो।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

पदपाठः

यस्याम्। समुद्रः। उत। सिन्धुः। आपः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। यस्याम्। इदम्। जिन्वति। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस (पृथिवी) पर समुद्र, नदियाँ तथा जल (हैं), जिसमें अन्न और मनुष्य अस्तित्व में पहुँचते हैं, जिसमें यह साँस लेने वाला और गतिशील (जीवन) स्थित है; वह भूमि हमको पान की प्राथमिकता में स्थापित करे।

टिप्पणियाँ

१. समुद्रः—दे० इन्द्रसूक्त, १ टिप्पणी, सागर। सिन्धु-स्यन्दू (प्रस्रवणे) + उ, स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च (द० उ० १।९६, पं० उ० ३।१।११, सि० कौ० १।११)। नि० १।१३।२१ में सिन्धु नदी का पर्याय है। यास्क भी सिन्धु को स्यन्दू धातु से निष्पन्न मानते हैं—सिन्धु स्रवणात् (निरु० ५।४), सिन्धुः स्यन्दनात् (निरु० ९।३), स्यन्दमानानाम् (निरु० १०।१)।

२. कृष्टयः—कृष् (विलेखने) + क्तिच् , क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम्, (पा० ३।३।१७४)। कृष् + क्त, कर्षणं कृष्टम्, कृष्टं कर्म, तस्यास्तीति, लुगकारेकार-रेफाश्च वक्तव्याः (वा० ४।४।१२८)—कृष्ट + इ—'कृष्टय इति मनुष्य नाम कर्मवन्तो भवन्ति, निरु० १०२। दे० सायण, ऋ० सं० ३।५९।१। वि + कृष्ट + इ, विकृष्टदेहा वा, निरुक्त। कृषन्ति प्रान्तं पदाभ्याम्, माधव। कर्षन्ति वशीकुर्वन्ति, भट्टभास्कर मिश्र। नि० २।३।७ में कृष्टि मनुष्यवाचक। ब्लूमफील्ड, मनुष्य जातियाँ; ह्विटनी, जोताई, खेती अर्थ करते हैं।

अन्न—अद् (भक्षणे) + क्त (कर्मणि भूते, कर्त्तरि वा बाहुलकात् वर्तमाने)। आ + णमु + क्त। आनतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा निरुक्त, ३।२।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते, तै० ३।२।२। अद्यते भुज्यते चैव यत् भूतैः अत्ति च भूतानि स्वयम्, तस्माद् भूतैर्भुज्यमानत्वात् भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं तदुच्यते, शंकर।

३. जिन्वति—जिवि (प्रीणनार्थः) + लट्, प्र० पु०, ए० व०। प्रसन्न होता है, आनंद मनाता है अतएव प्रतिष्ठित रहता है। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा—निरु० ६।४। प्राणत्—साँस लेता हुआ, जीवन धारण करता हुआ, दे० प्रजापतिसूक्त, ३ टिप्पणी। एजत्—एजृ (कम्पने) + शतृ, काँपता हुआ अतएव गति में स्थित होता हुआ, गतिशील।

४. भूमिः—भू + मि, भुवः कित् (द. उ.१. १६, पं. उ. ४.४८, सि. कौ. ४.४९.४)। 'भूतेऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३. ३,२) इति वचनात् भूते मिप्रत्ययः। 'अभूतभूमिस्तथा अभूद् वा इदमिति तद् भूम्यै भूमित्वम्'—इति श्रुतिः—देवराजयज्वा, नि. १.१.१८। भवन्त्यस्या भावा इति भूमिः क्षितिः, द. पा. उ. वृ.। भू धातु के अनेक अर्थ हैं-सत्ता में आना, मंगल, वृद्धि, निवास, व्याप्ति, सम्पद्, अभिप्राय, शक्ति, प्रादुर्भाव, गति—

सत्तायां मङ्गले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः॥

चन्नवीर कवि, का० कु० धा० पृ० १.४।

इयं वै भूमिरस्या वै स भवति यो भवति, श.ब्रा. ७.४.२.७। अभूद् वा इयं प्रतिष्ठेति, तद्भूमिरभवत्, तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत्, श. ब्रा. ६.१.१.१५।

५. पूर्वपेये—पूर्वञ्च तद् पेयम्, पेयम्, कर्म० समास अथवा पूर्वेषां पेयम्, ष० तत्पु० समास। पूर्व के लिए दे० अग्निसूक्त २, टिप्पणी। पीने की पहली वस्तु, जो पहले पिया जाता था वह पदार्थ। परम्परा से प्राप्त पेय, दाय। परम्परा से प्राप्त ज्ञान और अनुष्ठान। जिस प्रकार पूर्वज जीवन जीते थे, (प्राणन्), गतिशील रहते थे (एजत्) उसी प्रकार हम जियें, गति में स्थित रहें। दधातु—डुधाञ् (धारणपोषणयोः)+ लोट्। प्र. पु., ए. व.। पूर्वपेये दधातु—परम्परा से प्राप्त दाय में पहुँच जायँ। उसे प्राप्त करनेवालों में हमको प्राथमिकता प्राप्त हो, इसमें हम अग्रगण्य हों।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४॥

पदपाठः

यस्याः। चतस्रः। प्रऽदिशः। पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। या। बिभर्ति। बहुऽधा। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। गोषु। अपि। अन्ने। दधातु॥ ४॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस पृथिवी की चार दिशाएँ हैं, जिसमें अन्न (और) मनुष्यों ने सत्ता प्राप्त की है, (तथा) जो साँस लेने वाले (और) गतिशील (प्राणियों को) धारण करती है, वह हमको पशुओं और अन्न में प्रतिष्ठित करे।

टिप्पणियाँ

१. यस्याः—जिस, चतस्रः—चार, प्रदिशः—दिशाएँ, पृथिव्याः—पृथिवी की। जो पृथिवी चार दिशाओं से युक्त है।

२. गोषु—गम्लृ (गतौ) + डोस्, गमेर्डोस् (देवराजयज्वा, नि० १.१.१)। गमेर्डोः, द० उ० २.११; पं. उ. २.६८; सि. कौ. २.२५। चलती फिरती है, अतएव गो। गच्छत्यालोभम्य उपयोगमिति गौः, द. उ.वृ.। गा (स्तुतौ) + डोस् या डु, गीयते जनैरिति, दूध आदि के कारण जिसकी स्तुति है। गो शब्द उपलक्षण मात्र है। गो शब्द समस्त पशुओं का द्योतक है। गो शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—

वाग्दिग्भूरश्मिवाजेषु पश्वक्षिस्वर्गवाजिषु।
नवस्वर्थेषु मेधावी गोशब्दमवधारयेत्॥

—मेधावी, उद्धृत, द० उ० वृ०, २.११

गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः।
स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि।
नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग् बाणलोमसु॥

—केशव, उद्धृत, अ० को सुधा, ३. ३. २५।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥५॥

पदपाठः

यस्याम्। पूर्वे पूर्वऽजनाः। विऽचक्रिरे। यस्याम्। देवाः। असुरान्। अभिऽअवर्तयन्। गवाम्। अश्वानाम्। वयसः। च। विऽस्था। भगम्। वर्चः। पृथिवी। नः। दधातु॥५॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस (पृथिवी) पर प्राचीन पूर्वजों ने कर्म किया, जिसमें देवों ने असुरों को परावर्तित कर दिया; (वह) पृथिवी पशु, अश्व, पक्षी, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, (और) वर्चस्व प्रदान करे ।

टिप्पणियाँ

१. पूर्वजनाः—पूर्वे च ते जनाः पूर्वजनाः, कर्म० समास । पूर्वे—पहले जनमे हुए लोग, पूर्वज, पुरखे । पूर्वे पूर्वजनाः—प्राचीन पुरखे । अभ्यवर्तयन्—अभि + वृतु (वर्तने) + लङ्, प्र. पु., ब. व., पर्यावर्तित किया, परावर्तित किया, दूर कर दिया, पराजित कर दिया ।

२. अश्वानाम्—अशू (व्याप्तौ) + क्वुन्, अशुप्रुषिलटिकसिखटिशिभ्यः क्वुन्, देवराजयज्वा, नि. ५।१४।२३ । अशू + क्वुन्, अशूप्रुषिप्लुषिलटिकटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्, द० उ० ८।१२९ । अश्नुतेऽध्वानमिति । पं० उ० १।१३६ । अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्, सि. कौ. १।१५७ । अश् (भोजने) + क्वुन्, बाहुलकात्, अश्नातेर्वा बाहुलकात्, अश्नुवतेऽध्वानम्, महाशना भवन्तीति च; देवराजयज्वा ।

टुओश्वि (गतिवृद्धौ) क्वन्, बाहुलकात् । प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्, तत् परापतन् ततोऽश्वः समभवद्, यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्, श. ब्रा. १३।३।१।१; तै. ब्रा. १।१।५।४; तां. ब्रा. २१।४।२ । श. ब्रा. ४।२।१।११ अशू या अश् + क्वन्, यदश्रु संक्षरितमासीत्, सोऽश्रुरभवत्, अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्, श. ब्रा. ६।१।१।११, तु० ६।३।१।२८ ।

३. वयसः—वी (गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु + असुन्, वय (गतौ) + असुन्, पक्षी । विष्ठाः—वि + स्था + क, प्रतिष्ठा, गौरव । उदात्त अस्तित्व । भगम्—ऐश्वर्य । वर्चः—वर्चस्व, तेज, ज्योति ।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्
यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्

सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥६॥

पदपाठः

या । अर्णवे । अधि । सलिलम् । अग्रे । आसीत् । याम् । मायाभिः । अनुऽचरन् । मनीषिणः । यस्याः । हृदयम् । परमे । विऽओमन् । सत्येन । आऽवृतम् । अमृतम् । पृथिव्याः । सा । नः । भूमिः । त्विषिम् । बलम् । राष्ट्रे । दधातु । उत्ऽतमे ॥ ८ ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो (पृथिवी) पहले समुद्र में जल के भीतर थी, मनीषियों ने जिसे बुद्धि द्वारा प्राप्त किया (और) जिस पृथिवी का, सत्य से ढका हुआ अमर्त्य हृदय परमव्योम में स्थित है, वह भूमि हमको दीप्ति (और) बल (दे), तथा (हमको) उत्तम राष्ट्र में स्थापित करे ।

टिप्पणियाँ

१. अर्णवे—ऋ (गतौ) + असुन्, उदके नुट् च (द. उ. ९।५७,पं. उ. ४।२०३, सि. कौ. ४।६४६)—अर्णः, जल । अर्णांस्यत्र सन्ति, इति अर्णवः, अर्णसो लोपश्च (वा.), अर्णस् + व, समुद्र, सागर । सलिलम्—षल् (गतौ) + इलच्, सलिलस्य""(देवराजयज्वा, नि० १।१०।१७, सि.कौ. १।५७) । सलति गच्छति निम्नं देशम्, सल्यते प्राणिभिरिति वा ।

सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र केवल सलिल था—

त आसीत् तमस गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदम् । ऋ० सं० १०।१२९।३ ।

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास, श. ब्रा., ११।१।६।१ ।

अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्—श. ब्रा. १।१।१।१४, २।१।१।१४, ४।५।७।७ ।

आपो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा—श. ब्रा. ३।३।३।१८, ३।९।४।७ ।

इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान, श. ब्रा. १४।१।२।११ ।

स (प्रजापतिः) वराहोरूपं कृत्वोपन्यमज्जत् स पृथिवीमध आर्च्छत् तस्या उपहृत्योदमज्जत् , तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् , तै.ब्रा. १।१।३।६।७ ।

२. मायाभिः—बुद्धि, शक्ति, महिमा । अन्वचरन्—अनु + चर् + लङ् , प्र. पु, ब. व. । मनीषिणः—बुद्धिमान्, मन के ऐश्वर्य पर अधिकार रखने वाले । सत् असत् का विवेक करने वाले । तु०, सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा, ऋ. १०।१२९।४ ।

३. परमे व्योमन्—पर + माङ् (माने शब्दे च) + डम् , परं मिमीते । पर + डुमिञ् (प्रक्षेपणे) + डम् , परं मिनोति । पर + मीङ् (हिंसायाम्) + डम् , परं मिनाति । उत्कृष्ट, परार्ध्यस्थ (निरु० २।२) ।

व्योमन्—वि + अव + मन् , अवतेष्टिलोपश्च, द. उ.७।२७। पं. उ.४।१२८, सि. कौ. ४।१४७ । यह शब्द अव तर्पणार्थक, गत्यर्थक, ज्ञानार्थक धातु से भी बन सकता है—अवतेस्तर्पणार्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन् । 'नेड्वशिकृति' इतीट् प्रतिषेधः । 'ज्वरत्वर' इत्यादिना वकारोपधयोः ऊठ् । सप्तम्या लुक् । 'न ङि संबुद्ध्योः' इति नलोपप्रतिषेधः । व्योमनि विशेषेण तृप्ते । अवतिर्गत्यर्थः । व्योमनि विशेषेण गते व्याप्ते । देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्न इति । अवतिर्ज्ञानार्थः । व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि । ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः । श्रूयते हि सनत्कुमारनारदसंवादे 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७।२४।१)—सायण, ऋ. सं. १०।१२९।१ ।

व्येञ् (तन्तु संताने) + मनिन् , वीयते तद् वायुना घनश्चेति व्योम नभः, नामन् सामन् सोमन् होमन् रोमन् लोमन् व्योमन् विधर्मन् पाप्मन् व्येमन् , द. उ. ६।७९, पं. उ. ४।१५२ । नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन् , सि. कौ. ४।६०० । व्ययति, इति व्योम, व्येञ् संवरणे + मनिन् , मानुजि० सुधा, १।२।१ ।

आवृत—आ + वृञ् + क्त—घिरा हुआ, ढका हुआ, आच्छादित । अमृतम्—नास्ति मृतमस्य, जिसका नाश न हो, अमर, अमर्त्य ।

यस्यामापः परिचराः समानी-

रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो-
दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥ ७ ॥

पदपाठः

यस्याम् । आपः । परिऽचराः । समानीः । अहोरात्रे इति । अप्रऽमादम् । क्षरन्ति । सा । नः । भूमिः । भूरिऽधारा । पयः । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ॥ ९ ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिस (पृथिवी) में चारों ओर विचरण करने वाला जल दिन-रात समान रूप में निर्बाध क्षरित होता है; वह भूमि अनेक धाराओं में हमको दूध दुह दे, और वर्चस्व से (हमको) भिगो दे।

टिप्पणियाँ

१. परिचराः—परि + चर् + अच् , परितश्चरन्ति, चारों ओर घूमने वाले, विचरण करने वाले। समानीः—समानरूप में स्थित। अहोरात्रे—दिनरात। अप्रमादम्—प्रमादरहित, विना बाधा के, अनवधानता से रहित।

२. भूरिधाराः—अनेक धाराओं में। दुहाम्—दुह दे। उक्षतु–उक्ष से बने, गीला कर दे, सींच दे। वर्चसा उक्षतु। वर्चस्व से भर दे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ ८ ॥

पदपाठः

याम् । अश्विनौ । अमिमाताम् । विष्णुः । यस्याम् । विऽचक्रमे । इन्द्रः । याम् । चक्रे । आत्मने । अनमित्राम् । शचीऽपतिः । सा । नः । भूमिः । वि । सृजताम् । माता । पुत्राय । मे । पयः ॥ १० ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसे (पृथिवी को) अश्विन् ने नापा, जिसमें विष्णु ने डग भरा, जिसे शक्ति के स्वामी इन्द्र ने अपने लिए शत्रुविहीन कर दिया, वह हमारी भूमि (उसी तरह) दूध दे, जैसे माता पुत्र को (दूध देती है)।

टिप्पणियाँ

१. अश्विनौ--अश्व + इन् (मत्वर्थीय, पा० ५।२।११५)--अश्व से युक्त, अश्वैरश्विनावित्यौर्णनाभः निरु० १२।१। अशू व्याप्तौ--सबको परिव्याप्त करनेवाले। अश्विनौ--यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः। अश्विन् दो देवता हैं--युग्म, एक सबको जल से व्याप्त करता है, दूसरा ज्योति से। कुछ लोग द्युलोक और पृथिवी को अश्विन् मानते हैं। द्युलोक ज्योति से सब कुछ व्याप्त करता है, पृथ्वी रस से। दूसरे मत में अहोरात्र ही अश्विन् हैं। दिन ज्योति से सबको व्याप्त करता है, रात ओस की बूँदों से सबको व्याप्त करती है। अन्य दृष्टि में सूर्य और चन्द्रमा अश्विन् हैं। सूर्य अपनी ज्योति से सबको व्याप्त करता है और चन्द्रमा अपने रस-चाँदनी से। ऐतिहासिक अश्वारोही राजाओं को अश्विन् मानते हैं।

तत् कावश्विनौ, द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके, राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। निरु० १२।१। अश्विन् के लिए, दे० विश्वेदेवासूक्त, ३ टिप्पणी।

अभिमाताम--नाप लिया, मा--नापना।

२. विष्णुर्यस्यां विचक्रमे--विष्णु ने जिस पृथिवी पर पदन्यास किया। विष्णु की इस विक्रान्ति का अनेकत्र वर्णन मिलता है। विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः, ऋ० सं० १।१५४।१, यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु, १।१५४।२।

यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय।

—ऋ० सं० ६।४९।१३।

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां विचक्रमे, ऋ० सं० ७।१००।३।

विचक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्, ऋ० सं० ७।१००।४

अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि, ऋ० सं० ६।६९।५।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षशसितो वायुतेजाः।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौशंसितः सूर्यतेजाः। अ० सं १०।५।२५-२७।

स विष्णुस्त्रेधात्मानं वि न्यधत्त, पृथिव्यां तृतीयम्, अन्तरिक्षे तृतीयम्, दिवि तृतीयम्, तै० सं० २।४।१२। दे० श० ब्रा० १।९।३।९, १।१।२।१३, ५।४।२।६, १।२।५।५ ऐ० ब्रा० ६।१५।

३. अनमित्राम्—अमित्र—शत्रु से रहित।

शचीपतिः—शच (व्यक्तायां वाचि)+इन्, इन सर्वधातुभ्यः (उ०), शचन्तेऽस्यामिति। शचति शची, शच श्वच गतौ—क्षीरस्वामी। गत्यर्थः शच्चिर्धातुपाठे न दृष्टः, देवराजयज्वा। नि० २।१।२२ में शची कर्म का वाचक है। शचीशब्दः केषाञ्चिन्मते शार्ङ्गरवादिः, ङीनन्तः, सायण, ऋ० सं० १।१७।४। ऋग्वेदीय प्रमाणों के परिसर में यह कहा जा सकता है कि शची शब्द का अर्थ शक्ति, सामर्थ्य, प्रभुता है; दे० खोंदा, इपीथेट्स इन दि ऋग्वेद, पृ० ६६-६७। शचीपति का अर्थ है प्रभु, स्वामी। इन्द्र का शक्र अभिधान इसी तथ्य की अभिव्यक्ति करता है।

४. विसृजताम्—मुक्त करो, छोड़ो, दो आदि। माता—मान् (पूजायाम्)+तृच् मान्यते, मा (माने)+तृच्, माति गर्भोऽस्याम्, नप्तृनेष्टृक्षत्तृ......, द० उ० २।३, पं० उ० २।९६, सि० कौ० २।२६०। मातृपितृशब्दावुणादिष्वन्तोदात्तौ निपतितौ, पा० ६।२।११, काशिका। पुत्राय—पूञ् (पवने) क्त्र, पुनाति, पूयते वा, पूञो ह्रस्वश्च, द० उ० ८।८७, पं० उ० ४।१७३। पूञ्+क्र, पुवो ह्रस्वश्च, सि० कौ० ४।६१४, भा० सु० २।६।२७। पूङ्+क्त्र, क्षीरस्वामी, १।६९१। पुरु+त्रैङ् (पालने), पृषोदरादित्वात्। नि+पृ+त्रक्, नि=ऋ (गतिप्रापणयोः) अथवा तृप (तर्पणे)+त्रक् (नितरामर्पयति, नितरां तर्पयति)। पुत्रः पुरु त्रायते, निरपणाद् वा, पुन्नरक ततस्त्रायते इति वा, निरु० २।३। पुद्+त्रैङ् (पालने)।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। मनु० ९।१३८।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्॥

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥ ९ ॥

पदपाठः

गिरयः । ते । पर्वताः । हिमऽवन्तः । अरण्यम् । ते । पृथिवि । स्योनम् । अस्तु । बभ्रुम् । कृष्णम् । रोहिणीम् । विश्वऽरूपाम् । ध्रुवाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । इन्द्रऽगुप्ताम् । अजीतः । अहतः । अक्षतः । अधि । अस्थाम् । पृथिवीम् । अहम् ॥ ११ ॥

हिन्दीभाषान्तर

पृथिवी, तुम्हारे गिरि, हिम से ढके पर्वत, (और) तुम्हारे वन (हमारे लिए) सुखकर हों। भूरी, काली, लाल, अनेक रूपों वाली, स्थिर (और) इन्द्र द्वारा रक्षित (इस) विशाल भूमि पर अजेय, अहिंसित (तथा) अक्षत मैं अधिष्ठित होऊँ।

टिप्पणियाँ

१. गिरयः—गॄ (निगरणे) अथवा गॄ (शब्दे) + इ; कॄगॄशॄ...। द० उ० १।७२, पं० उ० ४।१५३, सि० कौ० ४।५९२। देवराजयज्वा, नि० १।१०।१०। गिरिः पर्वतः, समुद्गीर्णो भवति, निरु० १।६। हिमवन्तः—हिम से समन्वित, बर्फ से ढके हुए। ब्लूम फील्ड, गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तः, का अर्थ—हिम भरे पर्वतो की ऊँचाई। ह्विटनी के अनुसार गिरि का अर्थ पहाड़ियाँ।

२. अरण्यम्—ऋ (गतौ) + अन्य; अर्त्तेर्नित् , द० उ० ८।६, पं० उ० ३।९५, सि० कौ ३।१८९ (अर्त्तेर्निच)।

अप + ऋ (गतौ) पृषोदरादि। नञ् + रमु (क्रीडायाम्)। अरण्यमपार्णं ग्रामात्। अरमणं भवतीति वा; निरु० ९।२।

३. स्योनम्—षिवु (तंतुसन्ताने) + नः सिवेष्टेर्यु च, द० उ० ५।४१; सिवेष्टेर्यू च, प०उ० ३।९, सि० कौ० ३।२९६। दे० देवराजयज्वा, नि०३।६।१५। षो (अन्तकर्मणि) + न, बाहुलकात्। षेवृ (सेचने, सा० भा० धा० वृ० १।३२८; सेवने, क्षीरस्वामी, १।३३५) + न, पूर्ववत्। स्कन्दस्वामी—स्यतेः,

सेवतेश्च स्योनम्। निरु० ८।२ स्योनमिति सुखनाम। स्यतेरवस्यन्त्येतत्। सेवितव्यं भवतीति वा। नि० ३।६।१५ में स्योन सुखवाचक।

ब्लूमफील्ड, स्योनमस्तु–दयालु बनो, दया दरशाओ; ह्विटनी, प्रसन्न हो जाओ।

४. बभ्रुम्—डुभृञ् (धारणपोषणयोः) अथवा भृञ् (भरणे)+कु, बिभर्ति भरति वा तेज इति बभ्रूः, द० उ० बृ०; कुर्भ्रश्च, द० उ० १।१०७, पं० उ० १।२२, सि० कौ० १।२२। बभ्रु के अनेक अर्थ हैं—

पिंगलो नकुलश्चैव खल्वतिर्विष्णुरेव च।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी बभ्रू शब्दं प्रयोजयेत्॥

—श्वेतवनवासी, उ० वृ०।

यहाँ बभ्रु शब्द का अर्थ है भूरी, पृथिवी का विशेषण।

कृष्णाम्—कृश् (तनूकरणे)+नक्; निरु०। कृष् (विलेखने)+नक्। कृष्यते इति कृष्णा। कृषे वर्णे, द० उ० ५।३७, पं० उ० ३।४, सि० कौ० ३।२९१। निरुक्त—कृष्णा...कृष्णवर्णा। कृष्णं कृष्यतेनिकृष्टो वर्णः, २।६। काले वर्ण की, काली, साँवली, सँवराई, साँवर। कृष् (विलेखने)+नक्, कृषे वर्णे नक्कृष्णः, क्षीरस्वामी, १।७१७। रोहिणीम्—रुह+इति, रोहित्, हसुरुहियुषिभ्य इतिः, द० उ० ६।३, पं० उ० १।९५, सि० कौ० १।१०२। रोहित, लोहित, रुहे रश्च लोवा—रुह+इतन्, द० उ० ६।१४, पं० उ० ३।१०३; सि० कौ० ३।३८१। रोहितवर्णयोगात्, वर्णादनुदात्तात् ङीब् नौ। रोहिणी-लाल रंग की, अरुणिमा से युक्त। उर्वर।

५. विश्वरूपाम्—विश्वानि रूपाणि यस्यां यस्याः वा, ब० व्री० समास। विविध रूपों से युक्त, बहुरंगी।

ध्रुवाम्—ध्रुव, स्थिर, अविचल, अचंचल। इन्द्रगुप्ता—इन्द्रेण गुप्ता (गुप् (रक्षणे)+क्त, स्त्री०, इन्द्र की रक्षा में स्थित। ऐश्वर्य, तेज तथा बल से समन्वित।

अजीतः—नञ्+जि+क्त, अविजित, अजेय, वह जिसे कोई जीत न सके। अहतः—अहिंसित, नञ्+हन+क्त। अक्षतः, नञ्+क्ष (हिंसायु

याम्) + क्त, अहिंसित, प्रहारों से उत्पन्न घावों से रहित। अध्याष्ठाम्, अधि + ष्ठा (गतिनिवृत्तौ) + लङ् (भविष्यत् के अर्थ में), अधिष्ठित बनूँ, प्रतिष्ठित होऊँ।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ १२ ॥ १० ॥

पदपाठः

यत्। ते। मध्यम्। पृथिवि। यत्। च। नभ्यम्। याः। ते। ऊर्जः। तन्वः। सम्ऽबभूवुः। तासु। नः। धेहि। अभि। नः। पवस्व। माता। भूमिः। पुत्रः। अहम्। पृथिव्याः। पर्जन्यः। पिता। सः। ऊँ इति। नः। पिपर्तु॥ १२ ॥

हिन्दीभाषान्तर

पृथिवी, जो हमारा मध्य (है), और जो (तुम्हारी) नाभि जहाँ हो, (और) तुम्हारी विशालता से जो रस अस्तित्व में आया है, इन (सब) में मुझे स्थापित करो, हमारे लिए पवित्र बनो। भूमि माँ है। मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। वह पिता पर्जन्य हमारी रक्षा करे।

टिप्पणियाँ

१. यत् ते मध्यम्—तुम्हारे बीच का भाग। नभ्यम्—णह् (बन्धने) + इञ्, नहो भश्च, द. उ. १.५४, प० उ० ४.१२५, सि. कौ० ४.५७५। नाभिः सन्नहनात्, नाभ्यसन्नद्धा गर्भा जायन्ते, निरु० ४.३। नभ्य—नाभिस्थानीय, जहाँ नाभि है वह स्थल। ऊर्जः—रस, बल, प्राण। पवस्य—पू—पवित्र बनाना + लोट्, म० पु., ए. व., पवित्र बनाओ।

२. पर्जन्यः—परि + वृषु (सेचने) + अन्य, परि + अर्ज + अन्य ('पर्जन्यः' द० उ० ८.७, पं० उ० ३.१६, सि. कौ. ३.३९०), द० उ० वृ०। प्र + अर्ज (प्रति-यत्न) + अन्य, 'अर्जतेः पुडागमः'; श्वेतवनवासी। पृ

(पालनपूरणयो:) + अन्य, 'पृणातेरन्यप्रत्ययस्य जुट्', नारायण, दण्डनारायण (भो० उ० ३.३.४)। पृषु (सेचने) + अन्य, 'पृषु सेचने षस्य जः' भट्टोजिदी०, सि० कौ० ३.३९०। तृप् (तर्पणे) + जन्य, 'तृपेराद्यन्तविपर्ययेण तकारलोपेन च जन्यप्रत्ययान्तस्यैतद् रूपम्, वररुचि, निरुक्तसमुच्चय (पृ० ५६)।

तृप (तर्पणे) + क्विप्, तर्पयतीति। जनेभ्यो हितः जन् + यत्। तृप् चासौ जन्यश्चः पर्जन्यः। पर + जि (जये) अथवा जन् (प्रादुर्भावे) + यत् (अघ्न्यादयश्च, उ०); पर्जन्यः। प्ररस + अर्ज (प्रतियत्ने) + यत् (अघ्न्यादयश्च, उ०), पर्जन्यः (प्रकर्षेणोपार्जयिता रसानाम्, देवराजयज्वा, नि० ५.४.५। ध्यातव्य है कि अर्जन और उपार्जन के अर्थों में एकता नहीं है। अर्जन का अर्थ है पूर्वजों द्वारा अप्राप्त का प्राप्ति। अर्जन से विपरीत उपार्जन है। इसी दृष्टि से 'ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु (भ्वा० १.१०९) में अर्जन और उपार्जन दोनों का अलग अलग उल्लेख है। इसी दृष्टि से देवराज का मत चिन्त्य है।

पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य। तर्पयिता जन्यः। परो जेता वा, जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्—निरु० १०.१। पिपर्तु—पृ + लोट्, प्र० पु०, ए० व०—भरापुरा बना दे, रक्षा करे।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवी पञ्च मानवा येभ्यो
ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति १५॥११॥

पदपाठः

त्वत्। जाताः। त्वयि। चरन्ति। मर्त्याः। त्वम्। बिभर्षि। द्विऽपदः। त्वम्। चतुःऽपदः। तव। इमे। पृथिवी। पञ्च। मानवाः। येभ्यः। ज्योतिः। अमृतम्। मर्त्येभ्यः। उत्ऽयन्। सूर्यः। रश्मिऽभिः। आऽतनोति॥ १५॥

हिन्दीभाषान्तर

तुमसे उत्पन्न मनुष्य तुम्हारे ऊपर (स्थित होकर) कर्म करते हैं, तुम दुपायो (मनुष्य) और चौपायो को धारण करती हो। पृथिवी, ये सभी मानव तुम्हारे (हैं), जिन मर्त्यों के लिए, उगता हुआ सूर्य रश्मियों द्वारा अमृत-ज्योति का विस्तार करता है।

टिप्पणियाँ

१. त्वज् जाताः—त्वत् जाताः—तुमसे पैदा हुए। मर्त्याः—मर्त + यत्, मर्ते भवाः, 'भवे छन्दसि' (पा० ८.४.४.११०)—मर्त्य, मरणधर्मा, मनुष्य। बिभर्षि—भृञ् + लट्, म. पु., ए. व., धारण करती हो, पुष्ट बनाती हो। द्विपदः—दो पैरो वाले प्राणी, मनुष्य; चतुष्पदः—चार पैरो वाले प्राणी, पशु; दे० प्रजापतिसूक्त, ३ टिप्पणी।

२. पञ्चमानवाः पंचलोग, सब मनुष्य; दे० विश्वेदेवासूक्त, १०, पंच-जनाः पर टिप्पणी। ज्योतिः—प्रकाश। नास्मि मृतमस्य, अमृतम्, अविनश्वर, शाश्वत, कभी नष्ट न होने वाली।

३. उद्यन्—उत् + इण् + शतृ, उद्गमन करता हुआ, उगता हुआ, उदित हुआ। सूर्य—दे०, इन्द्रसूक्त ४, टिप्पणी। रश्मिभिः—अशू (व्याप्तौ), अश (भोजने) + मि, अशेरश्च च, द.उ. १.१५, पं. उ. ४.४७ अश्नोतेरंश् च, सि. कौ. ४.४९५। आतनोति—आ + तनु + लट्, प्र. पु., ए. व.; विस्तार करता है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥४५॥१२॥

पदपाठः

जनम्। बिभ्रती। बहुऽधा। विऽवाचसम्। नानाऽधर्माणम्। पृथिवी। यथाऽओकसम्। सहस्रम्। धाराः। द्रविणस्य। मे। दुहाम्। ध्रुवाऽइव। धेनुः। अनपऽस्फुरन्ती॥ ४५॥

हिन्दीभाषान्तर

विभिन्न धर्मों वाले, विविध भाषाई मनुष्यों को, घर के समान अनेकत्र धारण करती हुई पृथिवी स्थिर (तथा) अचपल गाय के सदृश हमारे लिए संपत्ति की हजारों धाराएँ दुह दे।

टिप्पणियाँ

१. बिभ्रती—भृञ् (धारण करना, भरण करना) + शतृ, स्त्री०। बहुधा—अनेकत्र, बहुत से स्थानों में। विवाचसम्—विविधा वाक् यस्य तम्, विभिन्न वाणियों के प्रयोक्ता, विविध भाषाभाषी। नानाधर्माणम्—विभिन्न धर्मावलम्बी। यथा ओकसम्—उच् (समवाये) + असुन् (उ०); घर जैसे, घर के समान। सहस्रम् धाराः—हजारों धाराएँ।

२. द्रविणम्—द्रु (गतौ) + इनन्, द्रुदक्षिभ्यामिनन्, द० उ० ५.१६, ६० उ० २.५२, सि० कौ० २.२१८। देवराजयज्वा, नि० २.९.२६; सायण, मा० धा० वृ० १.६६४। नि० में द्रविण बल और धन दोनों का वाचक है, १.९-१०। धनं द्रविणमुच्यते—यदेनदभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणम्—यदेनेनाभिद्रवन्ति, निरु ८.१।

ध्रुवा—स्थिर, चंचलता से रहित। अनपस्फुरन्ती—नञ् + अप् + स्फुर् + शतृ, स्त्री०, स्फुरण रहित, अचपल।

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणम्
ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

[अ. सं. १९. ७१. १]

द्वितीय खण्ड

उषःसूक्तम्

म० ७ सू० ७७

सप्तममण्डले सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

वसिष्ठ ऋषिः । उषा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

'उपो रुरुचे' इति षडृचं सप्तमं सूक्तं वसिष्ठस्यार्षमुषस्यम् । तथा चानुक्रान्तम्– 'उपो रुरुचे षट्' इति । प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोरुक्तो विनियोगः ।

उपो॑ रुरुचे युव॒तिर्न योषा॒
विश्वं॑ जी॒वं प्र॑सु॒वन्ती॑ च॒राय॑ ।
अभू॑द॒ग्निः स॒मिधे॒ मानु॑षाणा॒-
मक॒र्ज्योति॒र्बाध॑माना॒ तमां॑सि ॥ १ ॥

पदपाठः

उपो॒ इति॑ । रु॒रु॒चे॒ । यु॒व॒तिः । न । योषा॑ । विश्व॑म् । जी॒वम् । प्र॒ऽसु॒वन्ती॑ । च॒राय॑ । अभू॑त् । अ॒ग्निः । स॒म्ऽइधे॑ । मानु॑षाणाम् । अक॑: । ज्योति॑: । बाध॑माना । तमां॑सि ॥ १ ॥

सायणभाष्यम् १

इयमुषाः उपो समीप एव सूर्यस्य रुरुचे दीप्यते । युवतिः यौवनोपेता योषा न योषिदिव । सा यथा वस्त्राभरणादिना पत्युः समीपे प्रदीप्यते तद्वत् । किं कुर्वती । विश्वं सर्वं जीवं जीवसंघं चरायै संचाराय प्रसुवन्ती प्रेरयन्ती । किं च अग्निः मानुषाणां मनुष्याणामर्थाय समिधे अभूत् समिन्धनीयोऽभवत् । कृत्यार्थे केन् । समिद्धः सन् तमांसि अन्धकारान् बाधमाना बाधमानं बाधकं ज्योतिः तेजःसंघम् अकः अकार्षीत् । अथवा । औषसं ज्योतिस्तमांसि बाधमाना बाध्यमानान्यकः अकरोत् ॥

हिन्दीभाषान्तर

युवती नारी के समान (यह) उषा, सभी प्राणियों को संचरण हेतु प्रेरित करती हुई, हमारे सामने उदित हो रही है। मनुष्यों के अग्नि को प्रज्वलित करने का समय हो गया, क्योकि (उस उषा ने) अन्धकार को बाधित कर (अपना) तेज प्रकट किया है।

टिप्पणियाँ

१. उपो रुरुचे—सायण—सूर्य के समीप मे देदीप्यमान हुई, प्रकाशित हुई। उप + उ = उपो, उ, जब अ या आ के साथ मिलता है तब सन्धि होने पर ओ हो जाता है। यह ओ प्रगृह्य होता है अतएव पदपाठ में इसके आगे इति लगा हुआ है। ध्यातव्य है कि पदपाठ मे उपो को उप + उ में अलग नहीं किया जाता। रुच् दीप्तौ + लिट् लकार, प्र० पु०, ए० व०।

२. युवतिः—यु मिश्रणे + कनिन्, 'कनिन्युवृषि०'—द० उ० ६।५१, पं० १।१४२, मा० धा० वृ० २।२८; युवन् + ति', 'यूनस्तिः' (पा० ४।१।७७)। युवतिर्न = जवान स्त्री की तरह। 'न' वैदिक भाषा में निषेधार्थक तथा उपमावाचक दोनों है। यास्क नि०—नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्। 'न' जिससे समानता बतलाता है उसके बाद ही आता है—उपरिष्टा, दुपचारस्तस्य, येनोपमिमीते (नि० १।४)।

३. योषा—यास्क नि० (३।१५)—योषा यौतेः, यु मिश्रणे से निष्पन्न। यु + स, द० उ० ९।२१, पं० ३।६१। सा० ऋ० ३।३३।१० 'यु मिश्रणे'। 'वृतॄवदिहनि०' इत्यादिना सप्रत्ययः। यौतीति योषा। वृषादित्वादाद्युदात्तः। 'युष' सौत्रः सेवायाम्—योषति, योषयति वा, पचादि अच् (पा० ३।१।१३४) काशिका—अज्विधिः सर्वधातुभ्यः पठ्यन्ते च पचादयः। महाभाष्य—'अजपि सर्वधातुभ्यो वक्तव्यः'। अथवा—युष्यति योषयते वा + घञ् (पा० ३।३।१९, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्)। वस्तुतः योषा में अच् प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि यह आद्युदात्त है। घञ् प्रत्यय होने पर 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त होगा। सा० ऋ० ३।५२।३ में 'योषणाम्' की व्युत्पत्ति में 'युष भजने' इति सौत्रो धातुः तथा ३।५६।५ में 'युष इति सौत्रो

धातुः' लिखकर 'युष' से भी योषा की सिद्धि स्वीकारते हैं। ऋ० सं० में योषणा शब्द का प्रयोग 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' के साथ किया गया है—दे० ३।५२।३, ६।२।८, ४।३२।१६ गाथी विश्वामित्र के अनुसार यह शब्द जुष धातु से सम्बद्ध प्रतीत होता है। सम्भवतः 'जुष' धातु 'यु' का विकसित रूप है। योषा का अर्थ है ऐसी स्त्री जो पति से मिलने की दृष्टि से शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से योग्य हो। अतएव योषा शब्द सुन्दर, जवान, छबीली स्त्री का वाचक हो गया। लैटिन जूनो—एक देवी का नाम—सजातीय है।

४. विश्वम्—विश प्रवेशने + क्वन, विशति तस्मिन् सर्वम्, विष्टमनेन सर्वमिति वा। जिसमें सब प्रविष्ट हो अथवा जो सबमें प्रविष्ट हो, यहाँ अर्थ है सब। 'अशू प्रुषि०' द० उ० ८।१२५, पं० १।१३७। अवे० प्रा० पा०—विस्प।

५. जीवम्—जीव प्राणधारणे + अच्, पचादि। जीवयति। सभी प्राणी।

प्रसुवन्ती चरायै—चलने-फिरने के लिए प्रेरित करती हुई। जीवलोक का सारा काम उषा के आगमन होते ही प्रारम्भ हो जाता है। प्र + षू प्रेरणे + शतृ + ङीप्। चर + टाप्। तु०—ऋ० सं० १।९२।९—विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती।

६. अभूत्, अग्निः—भू + लुङ् + प्र० पु०, ए० व०। अग्नि के लिए दे० सू० १।१। समिधे—सम् + ञि इन्धी दीप्तौ + केन्, च० ए० व०।

७. मानुषाणाम्—मनु + अण् (षुक् का आगम), ष० ए० व०, अथवा मनुष + अण्, निरुक्त–३।७–मनोरपत्यम्, मनुषो वा। मनु या मनुष् का पुत्र = मानुष। पाणिनि (अ० ४।१।१६१, मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च) का अण् प्रत्यय जाति के अर्थ में ही होता है न कि अपत्य अर्थ में। मनुष्य तथा मानुष शब्द का अर्थ है वे प्राणी जो सोच-विचार कर कार्य करते हैं। मनुष्य की मननशीलता का प्रतिपादन ऋ० सं० में भी है (१०।३१।८)।

पिपर्तु मा तद् ऋतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या अमन्महि। इसीलिए मै० सं० (४।२।१) में कहा गया है कि प्रजापति ने सोच-विचार कर मनुष्य की सृष्टि की—स देवान् सृष्ट्वा मनस्यतेव। तेन मनुष्यानसृजत। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। तु०, तै० ब्रा० २।३।८।२। इस प्रसंग में निरुक्त ३।७ में मनुष्य का निर्वचन भी द्रष्टव्य है।

८. अकः, ज्योतिः—प्रकाश फैला दिया। अकः–दे० सूक्त २।४। द्योतते, द्योतनं वा, द्युत दीप्तौ + इसिन् (ज आदेश)–'द्युतेरिसिन्निजादेश्च जः।' द० उ० ९।३२, पं० २।२११, मा धा. वृ. १।४७८ आदि।

९. बाधमाना तमांसि–अन्धकार को भगाती हुई, दूर करती हुई। बाधृ लोडने + शानच्। निरुक्त तम की व्युत्पत्ति 'तनु विस्तारे' से मानता है—तमः तनोतेः, २।१६। तन् धातु और तम के सम्बन्ध के लिए दे०ऋ० सं० १०।८०।४, अन्यत्र तम तम् से सम्बन्धित है–ऋ० सं० ६।२१।३। लिथुआनी—तम्सा = अन्धकार सजातीय। ताम्यति अनेन–तमु ग्लानौ + असुन्, 'असुन्'—द० उ० ९।४९, पं० ४।१८४, मा० धा० वृ० ३।१०० आदि।

इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार का साधारण धर्म 'उपो रुरुचे' है। सायण ने चतुर्थ चरण का एक दूसरा अर्थ भी प्रस्तुत किया है—(प्रदीप्त होकर अग्नि ने) अन्धकार को विनष्ट करने वाले तेज को उत्पन्न किया।

विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्था-
द्रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत्।
हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृ-
ग्गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि ॥ २ ॥

पदपाठः

विश्वम्। प्रतीची। सऽप्रथाः। उत। अस्थात्। रुशत्। वासः। बिभ्रती। शुक्रम्। अश्वैत्। हिरण्यऽवर्णा। सुदृशीकऽसंदृक्। गवाम्। माता। नेत्री। अन्हाम्। अरोचि ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

विश्वं कृत्स्नं जगत् प्रति प्रतीची अभिमुखी सप्रथाः सर्वतः पृथुतरा उदस्थात् उदगच्छत्। उदिता च रुशत् दीप्तं शुक्रं तेजोमयं वासः वसनीयं तेजःसमूहं बिभ्रती धारयन्ती अश्वैत् वर्धते। हिरण्यवर्णा हितरमणीयवर्णोपेता सुदृशीकसंदृक्। सन्दर्शयतीति संदृक् तेजः। सुष्ठु दर्शनीयं संदृक् तेजो यस्याः सा तादृशी।

गवां वाचां गवामेव वा माता निर्मात्री। उषःकाले हि पक्षिमनुष्यादीनां वाचो निर्गच्छन्ति। गवामपि तस्मिन् काले संचारात् तन्निर्मातृत्वम्। अथवा रश्मीनां निर्मात्री। अरोचि रोचते अह्ना नेत्री दिवसाना प्रापयित्री॥

हिन्दीभाषान्तर

यह यशस्विनी उषा विश्व के सम्मुख उठ खड़ी हुई है। रोशन तथा चमकीले वस्त्र पहन कर यह प्रकाशित हुई है। सुन्दरमुखी और सुनहरे रङ्ग वाली, गायों की यह माता तथा दिनों को राह दिखाने वाली तेजस्विनी हो गयी है।

टिप्पणियाँ

१. विश्वं प्रतीची—सम्पूर्ण संसार के सामने। प्रति अञ्चति, प्रति + अञ्च् गतौ + क्विन्–'ऋत्विक्०' (पा० ७।१।३७) + ङीप् (अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्)। ङीप् उदात्त। सप्रथाः—सर्वतः पृथुः (निरु० ६।७) दूर तक विस्तृत। प्रथसा सह वर्तते इति, प्रथ प्रख्याने + असुन्, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (पा० २।२।२८), तत्पु० समास, कृत्स्वरः। 'प्रथः प्रसिद्धिः कीर्तिः' सा०, ऋ० सं०, ३।५९।७। लिथुआनी, ग्रीक–प्लातुस, प्लातूस–विस्तृत–सजातीय। उत् अस्थात्—ष्ठा गतिनिवृत्तौ + लुङ्, प्र० पु०, ए० व०।

२. रुशत्—रुच् दीप्तौ–निरु० २।२०, ६।१४–रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलितकर्मणः। रुश + शतृ। मुकुन्द, निरु० ६।१४, रुश + अति—संश्चत्-तृपत्वेहत्, द० उ० ६।६, पं० २।८५। धातुपाठ में रुश धातु हिंसा के अर्थ में पठित है। रुशत् का अर्थ है रोशन, प्रदीप्त। मैक्समूलर–लाल अर्थ मानते हैं, पर ग्रासमान, ओल्डेनबर्ग, गेल्डनर उनके अर्थ से सहमत नहीं हैं। विल्सन–दीप्तिमान्, पीटर्सन–चमकता हुआ अर्थ स्वीकारते हैं। रुश् धातु का प्रयोग प्रायः उषा के साथ हुआ है–ऋ० सं०–'रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात्'–१।११३।२। यह शब्द सूर्य की दीप्ति, (ऋ० सं० १।११५।५) रोशन अग्नि; ऋ० सं० ६।१।२ अर्थ में भी आया है। रुशद्गो, रुशत्पशु आदि उषा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ग्रीक–लुक्स, आरमेनी–लुसनुन्कह्, लिथुआनी–लुसजिस, अवे०–रअओचन्त, प्रा० पा०–रोचह, आ० पा०–रोशन, रोज सजातीय हैं। शुक्रम्—शुभ दीप्तौ,

निरु० ८।११–'शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः'। शुच–शोचति, नि० १।१६।९५। शुच + र, शुच + क्विप्, शुक् + र मत्वर्थीय–देवराजयज्वा। शुभ दीप्तौ + रक्, द० उ० ८।४६, पं० २।३१, शुक गतौ, मैत्रेय।

वासः—वस आच्छादने + असुन्–द० उ० ९।७७, पं० ४।२२३। बिभ्रती–भृञ् भरणे—धारण करना, पहनना— + शतृ + ङीप्। अश्वैत्—'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः'–श्वि अथवा श्वित् + लुङ्, प्र० पु०, ए० व०। प्रथम मन्त्र में उषा को 'युवती योषा' कहा गया है अतएव उसके प्रभामण्डल पर वस्त्र का आरोप किया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र दूध पर–ऋ० सं० ९।६९।५–शुभ्र वस्त्र आरोपित हुआ है। उषा शुभ्र एवम् प्रदीप्त वस्त्र पहन कर आयी।

३. हिरण्यवत् वर्णो यस्याः सा हिरण्यवर्णा—बहुव्रीहि, जिसका रङ्ग सुनहरा हो। निरु० २।१०—हृञ् हरणे—हिर् + यम्—ण्यम्–ह्रियते आयम्य-मानम्—(आभूषण के रूप में) फैलाया जाता हुआ हरा जाता है–आभूषण के रूप में लोग जिसे ले जाते हैं वह हिरण्य = सोना। स्कन्द के अनुसार 'आयम्यमान' का अर्थ बाँधा जाता हुआ—चोरों के द्वारा बाँधा जाता हुआ हिरण्य है। हित + रम्–विपत्ति में हितकर एवम् आनन्ददायक–हितरमणं भवति। अथवा धा + क्त = हित, धारण किया गया सोना आनन्ददायक होता है।

उपर्युक्त दोनों निर्वचन द्विधातुज हैं।

हृञ् हरणे—जो एक व्यक्ति के पास से दूसरे व्यक्ति के पास जाता है, हरा जाता है—ह्रियते जनाज्जनम्।

हर्य कान्तौ—जिसे सब लोग चाहते हैं। नि० २।६।१० में हर्य धातु इच्छार्थक कही गयी है—हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।

हर्यगतिकान्त्योः + कन्यन्, हर्य को हिर्—द० उ० ८।१८, पं० ५।४९—हर्यतेः कन्यन् हिर् च।

वर्णः–वृञ् वरणे + न, निरु० २।३, वर्णो वृणोतेः, द० उ० ६।४२, पं० ३।१०–'कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित्।' वर्ण शब्द को उणादिकारों ने 'ऋज्रेन्द्राग्र०'–द० उ० ८।४६, पं० २।३१–से भी निष्पन्न किया है; परन्तु उज्ज्वलदत्त के अनुसार उपर्युक्त सूत्र में वर्ण का पाठ अनार्ष है (उ० २।२८, पृ० ७३)—'वर्णशब्दस्य कृवृइत्यादिना नप्रत्ययेन सिद्धत्वादनार्षः पाठः'। तु० ५।८, मा० धा० वृ०।

सुदृशीकम्—देखने में अच्छा लगने वाला—संदृक्—तेज, मुख—यस्याः सा = सुदृशीकसंदृक् = दर्शनीय तेजवाली, सुन्दरमुखी। सु + दृश् प्रेक्षणे + ईकन्; द० उ० ३।४१—अनिदृशिभ्याञ्च। सुदृशीकम्। सम् + दृश् + क्विन्, सन्दर्शयति इति संदृक् (सायण—तेज)।

गवा माता—गम् + डोस्—द० उ० २।११, पं० २।६८—गमेर्डोः। ध्यातव्य है कि इस व्युत्पत्ति का संकेत ऋ० सं० ६।२ ।१ में भी मिलता है—आ गावो अग्मन्। निरु० २।५, देवराजयज्वा—नि० १।१।१ भी द्रष्टव्य। श० ब्रा० ६।१।२। ३५—अथा गौरिति ब्रूयात्। इमे वै लोका गौ; यद्धि किंच गच्छति, इमांस्तल्लोकान् गच्छति। निरु०—गातेर्वौकारो नामकरणः—गा + ओ; दुर्गाचार्य इसे गाङ् गतौ, स्कन्द—गा स्तुतौ। यास्क को ये दोनो धातुएँ अभिप्रेत नहीं हैं अन्यथा वे इसका निर्देश करते। यास्क का यह निर्वचन भी ऋ० सं० ८।४५।३० में मिलता है—गोभ्यो गातुं निरेतवे। लक्षणा द्वारा यहाँ गो का अर्थ उषा की अरुणवर्णा किरणें हैं। उषा के रथ के वाहक बैल भी ये ही हैं—ऋ० सं० ५।८०।३ तथा १।९२।१-२। माता—मा माने (निरु० २।८) + तृच्, द० उ० २।३, पं० २।९६—नप्तृनेष्टृ०० । द० उ०—अस्य नकारलोपो निपात्यते, अन्तोदात्तत्वं च, काशिका—६।२।११—मातृपितृशब्दावुणादिष्वन्तोदात्तौ निपतितौ, श्वेतवनवासी (पृ० ८८) के अनुसार नप्ता आदि सभी अन्तोदात्त हैं। यु० मी०—क्षत्ता, माता, पिता, दुहिता शब्द ही अन्तोदात्त हैं। सायण ने 'गवां माता' का एक अन्य अर्थ—वाणी—पक्षियो एवम् मनुष्यों की वाणी का निर्माण करने वाली अथवा गायों की निर्मात्री क्योंकि उषःकाल में गायें संचरण करती हैं।

अह्वा नेत्री—दिन का नेतृत्व करनेवाली। अह्वाम्—दिनों का, निरु० २।२०—उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि, इसमें कार्यों को जुटाते हैं। उप + आ = आ + हृञ् हरणे = आहर् < अहर्। वेद में यह शब्द अहोरात्रवाची है। पाणिनि अहन् से 'रोऽसुपि' (८।२।६९) द्वारा न को र् कर अहर् रूप बनाते हैं। सम्भवतः प्राचीनकाल में अहन्, अहर् दोनों प्रवृत्त रहे होंगे। यास्क की हृ द्वारा व्युत्पत्ति द्योतित करती है कि उन्हें अहर् का निर्वचन अभिप्रेत है। द० उ० ६।९२, पं० १।१४६ (नारायण)—नञ् जहातेः। नञ् + हा + कनिन् = अहन्, न जहातीति; क्षीरस्वामी (अमर० १।३।२)—न जहाति कालमहः।

नेत्री—णीञ् प्रापणे + तृच् + ङीप्—नयतीति—पा० ३।१।१३३—ण्वुल्तृचौ। अरोचि—रुच् + लुङ्, प्र० पु०, ए० व०।

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती
श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता
चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ॥ ३ ॥

पदपाठः

देवानाम्। चक्षुः। सुऽभगा। वहन्ती। श्वेतम्। नयन्ती। सुऽदृशीकम्। अश्वम्। उषाः। अदर्शि। रश्मिऽभिः। विऽअक्ता। चित्रऽमघा। विश्वम्। अनु। प्रऽभूता ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

देवानां चक्षुः चक्षुःस्थानीयं तेजः वहन्ती धारयन्ती सुभगा शोभनधना सुदृशीकं सुदर्शनं अश्वं सर्वदा गन्तारमादित्यं नयन्ती प्रापयन्ती। किम्। श्वेत श्वेतवर्णोपेतं सूर्यम्। प्रकाशयुक्तं कुर्वतीत्यर्थः। कीदृश्युषाः। रश्मिभिः स्वकीयैः व्यक्ता अदर्शि दृश्यते च। चित्रामघा विचित्रधना विश्वमनु सर्व—जगदनुलक्ष्य प्रभूता प्रवृद्धा। सर्वजगद्व्यवहारायेत्यर्थः ॥

हिन्दीभाषान्तर

देवों के नेत्र (सूर्य) को लाती हुई तथा देखने में सुन्दर सफेद रंग के उस अश्व (सूर्य) को अपने पीछे लाती हुई, भाग्यवती तथा मनोहर उपहारों को देनेवाली यह उषा अपनी किरणों से अभिव्यक्त होकर सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर स्थित दिखायी पड़ती है।

टिप्पणियाँ

१. सुभगा—शोभनं भगं यस्याः सा, ब० व्री०—सायण—अच्छे धनवाली। सौभाग्यवती, सुन्दर। देवानाम्—देवों का। चक्षुः—निरु० ४।३—चक्ष् या ख्या से

निष्पन्न–ख्यातेर्वा चष्टेर्वा। द० उ० ९।४१, पं० २।१२१–चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि + असुन्, चष्टे; चक्षतेऽनेनेति वा,–चक्षेः शिच। वह् प्रापणे + शतृ + ङीप्–वहन्ती–वहन करती हुई। ले जाती हुई। सूर्य को अनेक स्थानों पर देवताओं की आँख कहा गया है।

२. सुदृशीकम्—देखने योग्य अतएव देखने में सुन्दर। श्वेतम्—सफेद रंगवाले–श्विता वर्णे + अच्, पचादि। अश्वम्—निरु० २।२७–अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवति, अशू व्याप्तौ अथवा अश् भोजने। जो मार्ग को व्याप्त कर ले अथवा जो पर्याप्त भोजन करता हो वह अश्व है। ऋ० सं० १।१६३।१०, श० ब्रा० १३।१।२।७, तै० ब्रा० ३।८।७।१-२, १३।२ अश्व को अश् से सम्बन्धित बताते हैं। अश्नुतेऽध्वानमिति–द० उ० ८।१२५, पं० १।१३७–'अशप्रुषि'–अश् + क्वन्। नयन्ती—णीञ् प्रापणे + शतृ + ङीप्।

३. अदर्शि—दृश् + लुङ् (कर्मणि), प्र० पु०, ए० व०। उषाः—निरु० १२।५—उषाः वष्टेः कान्तिकर्मणः। उच्छतेः। वश कान्तौ, उच्छी विवासे। निरु०—२।१८—उषाः कस्मात्, उच्छतीति सत्याः। ऋ० सं० में उच्छ चमकना (तथा धातुपाठों में अन्धकार हटाना) का उषा के साथ लगभग ४१ बार सम्बन्ध बताया गया है। वश कान्तौ से सम्बन्ध ऋ० में नहीं मिलता। द० उ० ९।१४—वसेः कित्–वस निवासे + असि, वसति तस्यां रात्रिः। ऋ० सं० २।४८।३—उवासोषाः–में कदाचित् यह व्युत्पत्ति अभिप्रेत है। हरदत्त ने पदमञ्जरी (७।४। ८) में 'वसेः किच्च' पाठ ही स्वीकार किया है। भट्टोजिदीक्षित एवम् तत्त्वबोधिनीकार भी इस सूत्र का उल्लेख करते हैं—मनो०, पृ० ८०५ त० बो०, पृ० ५६१। अन्य वैयाकरण–पं० उ० (उज्ज्वलदत्त, सि० कौ०) ४।२३३, सूत्र ६८३—उषः कित्—उष दाहे + असि (तु०—भा० दी०, अमर १।४।२)। वस्तुतः उच्छ–उषस् यह ऋ० व्युत्पत्ति ही उषा के गुण का अभिधान करती है। वैयाकरण जनों को कदाचित् उषा की दाहकता में अधिक आह्लाद मिलता होगा।

रश्मिभिः व्यक्ता—अपनी किरणों के द्वारा प्रकाशित, सुशोभित, अभिव्यक्त। रश्मि—शुनःशेप आजीगर्ति (ऋ० १।२८।४), दीर्घतमा औचथ्य (ऋ० १।१४१।११), भरद्वाज बार्हस्पत्य (ऋ० ६।६७।१) तथा श्यावाश्व आत्रेय

(ऋ० ८।३५।१) रश्मि शब्द को यम धातु से निष्पन्न मानते हैं। सम्भवतः प्राचीनकाल में रश् एवम् यम् धातु समानार्थक थीं। आज के रस्सा, रस्सी, रसना शब्द इसके लिए प्रमाण हैं। ऋग्वेद में रश् धातु से निष्पन्न रश्मन्, रशना, रश्मि, राशि कृदन्त नामपद ही उपलब्ध हैं। यास्क भी उपर्युक्त मत ही मानते हैं—निरु० २।१५, रश्मिर्यमनात्। शाकटायन ने 'रश्मि' को 'अश्' के स्थान में 'रश्' का विधान कर सिद्ध किया है-द० उ० १।१५-अशेरश च (तु० देवराजयज्वा), पं० उ० (उज्ज्वलदत्त, सि० कौ०-४।४६, सू० ४९५) अश्नोते रश्च। पतञ्जलि भी (महाभाष्य ७।२।९५, वा० ८) रश् के अप्रयोग की बात बताते हैं—रशिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः। स राशिः रश्मिः रशनेत्येवं विषयः।

व्यक्ता-वि + अञ्ज् + क्त, टाप्।

४. चित्रामघा-शब्द नि० १।८।५ में उषा का नाम बताया गया है। चित्रं मघं यस्याः सा, ब० व्री०-सा० विचित्र धनवाली, रन्, मो० वि०, वेलणकर—उत्तम उपहारों को देने वाली (दे० खोंदा, इ० ऋ०, पृ० १०२)। मघ शब्द नि० २।१०।१ में धनवाचक है। चिञ् चयने + क्त्र-चिनोति चीयते वा, द० उ० ८।८६, पं० ४।१७२, अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः (तु० देवराजयज्वा, नि०) नारायण एवम् श्वेतवनवासी-उणादि टीकाकार-यहाँ 'त्रन्' प्रत्यय का विधान करते हैं। परन्तु ऋ० ८।२१।१८ को छोड़कर अन्यत्र चित्र शब्द अन्तोदात्त है। अतएव भट्टोजिदीक्षित (मनोरमा पृ० ८०१) का कथन है—'प्रत्ययस्वरेणैतेऽन्तोदात्ताः'।

महि (नि० ३।२०।१० में दानकर्मा, धातुपाठों में वृद्धौ) + क, पा० ३।३।५८ वा०— घञर्थेकविधानम् ०००।

विश्वमनु प्रभूता, सर्वव्यापक, प्र + भू + क्त, टाप्।

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं
गव्यूतिमभयं कृधी नः।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि
चोदय राधो गृणते मघोनि ॥४॥

पदपाठः

अन्तिऽवामा । दूरे । अमित्रम् । उच्छ । उर्वीम् । गव्यूतिम् । अभयम् । कृधि । नः । यवय । द्वेषः । आ । भर । वसूनि । चोदय । राधः । गृणते । मघोनि ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

हे उषः अन्तिवामा । अन्ति अस्मदन्तिके वामं वननीयं धनं यस्याः सा अन्तिवामा । त्वम् अमित्रम् अस्मच्छत्रुं दूरे अस्मत्तो विप्रकृष्टदेशे वर्तमानं कृत्वा व्युच्छ विभाहि । यथामित्रो दूरे भवति तथा व्युच्छेत्यर्थः । तथा उर्वीं गव्यूतिं भूमिम् अभयं नः अस्माकं कृधि कुरु । किंच द्वेषः अस्मद्द्वेष्टॄन् यावय अस्मत्तः पृथक् कुरु । वसूनि शत्रूणां धनानि आ भर आहर । राधः धनं चोदय प्रेरय गृणते स्तुवते मह्यं हे मघोनि धनवति ॥

हिन्दीभाषान्तर

सम्पदा को (हमारे) निकट लाकर अपने प्रकाश से शत्रुओं को दूर भगा दो। हमको विस्तृत चरागाह तथा भयरहित (निवास) दो। द्वेषी शत्रु को हमसे अलग करो तथा (उसका) धन (हमारे लिए) लाओ। उदार देवि, अपने स्तोता के लिए उपहारों को प्रेरित करो।

टिप्पणियाँ

१. अन्तिवामा— अन्ति (अन्तिके) वामं यस्याः सा, ब० व्री०, ए० व०— जिसका धन हमारे (यजमान के) समीप है। जो उषा सदैव विभजनीय सम्पत्ति को यजमान को प्रदान करती है। अन्तोऽस्यास्तीति—अन्त + ठन् (पा० ५।२।११५—अत इनि ठनौ)—अन्तिकम्, 'कादिलोपो बहुलम्' से 'क' का लोप (सा० ऋ० १।८४।१८)। वामम्—भरद्वाज बार्हस्पत्य (ऋ० ६।१। १०) में वाम का सम्बन्ध वन् धातु से बताया है। यास्क ने—निरु० ४।२६, ६।२२, ३१, ११।४६ में सर्वत्र वाम का अर्थ वननीय बताकर इसका निर्वचन वन से किया है। शाकटायन पं० उ० (सि० कौ० १४५) वा गतौ + मन्— 'अर्तिस्तु'''वापद्यिक्षिनीभ्यो मन्'। वस्तुतः वन् और वा धातुओं के अर्थ में

तत्त्वतः कोई भेद नही है। अमित्रम्—जो मित्र नही है, शत्रु। दूरे—दूर, दुर्+इण् गतौ+रक्, द० उ० ८।३७, पं० २।७२—दूरीणो लोपश्च. कृच्छ्रेणेयते इति। उच्छी+लोट्, म० पु०, ए० व०। उर्वीम्—विशाल, विस्तृत, फैली हुई। गव्यूतिम्—गो+यु मिश्रणे+क्तिन्; जहाँ गायें एकत्र हों—गावोऽत्र यूयन्ते; यु+क्तिन्—यूति, पा० ३।३।९७—ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च; गो+यूति—गोर्युतौ छन्दसि, अध्वपरिमाणे च (वा०)—अवादेश। बो०, ग्रा० गो+ऊति—गायो की रक्षा का स्थान। अभयम्—भयरहित स्थान, ऐसा निवास जहाँ कोई भय न हो। कृधि—कृ+लोट्, म० पु०, ए० व०, अनुवर्ती संस्कृत में यह रूप अनुपलब्ध है।

२. द्वेषः यावय—शत्रुओं को हमसे अलग करो। यु मिश्रणे+लोट्, म० पु०, ए० व०। वसूनि—धन, सम्पत्ति। आ भर—हमारे लिए लाओ, भृञ्+लोट्, म० पु०, ए० व०, भरा में दीर्घ छान्दस।

३. मघोनि—उदार, धनवती; मघ+वनिप्, ङीप्. सम्बो०, ए० व०। गृणते—गॄ+शतृ, च० ए० व०—स्तुति करने वाले के लिए, स्तोता के लिए। राधः—धन, सम्पत्ति। चोदय—चुद प्रेरणे+लोट्, म० पु०, ए० व०।

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभि-
विं भाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः।
इषं च नो दधती विश्ववारे
गोमदश्वावद्रथवच्च राधः॥ ५॥

पदपाठः।

अस्मे इति। श्रेष्ठेभिः। भानुऽभिः। वि। भाहि। उषः। देवि। प्रऽतिरन्ती। नः। आयुः। इषम्। च। नः। दधती। विश्वऽवारे। गोऽमत्। अश्वऽवत्। रथऽवत्। च। राधः॥ ५॥

सायणभाष्यम् ५

हे उषो देवि अस्मे अस्मभ्यं श्रेष्ठेभिः प्रशस्यैः भानुभिः रश्मिभिः प्रकाशैः

विभाहि प्रकाशय । किं कुर्वती । नः अस्माकम् आयुः आयुष्यं प्रतिरन्ती वर्धयन्ती । हे विश्ववारे विश्वैः सम्भजनीये देवि नः अस्मभ्यम् इषम् अन्नं च गोमत् गोभिर्बहुभिरुपेतम् अश्वावत् अश्वैश्चोपेतं रथवत् रथैरुपेतं राधः धनं च दधती विभाहीति ॥

हिन्दीभाषान्तर

सभी तरह के स्पृहणीय उपहारों को देनेवाली उषा देवि, हमारी आयु बढ़ाती हुई और हमको पोषक अन्न, गायों, घोड़ों तथा रथ से भरे हुए उपहार प्रदान करती हुई तुम हमारे लिए अपनी श्रेष्ठ किरणों से प्रकाशित हो जाओ।

टिप्पणियाँ

१. अस्मे—हमारे लिए, 'सुपा सुलुक्...' से शे आदेश। श्रेष्ठेभिः—श्रेष्ठैः— उत्तम, प्रशंसनीय। भानुभिः—किरणों के द्वारा, द० उ० ३।१४३, पं० ३।३२—दाभाभ्या नुः—भा + नु, भातीति। हमारे लिए अपनी किरणों को फैलाती हुई प्रकाशित होओ।

२. उषो देवि—हे उषा देवी, नः—हमारी। आयुः-आयु को, उम्र को, इण् गतौ + उसि—द० उ० ९।४०, पं० २।१२०—एतेर्णिच्च। प्रतिरन्ती—बढ़ाती हुई, प्र + तृ तरणप्लवनयोः + शतृ, ङीप्। प्रपूर्वक तृ धातु का अर्थ है बढ़ाना।

३. विश्ववारे—सबको वरण करनेवाली अथवा सबके द्वारा वरणीय, सम्बो०। विश्व + वृञ् वरणे + अण्-विश्वं वृणोति इति। विश्व + वृ + घञ्—विश्वैर्व्रियते इति। इषम्-अन्न, इषु इच्छायां + क्विप्, सर्वैः इष्यते इति इट्। दधती-धारण करती हुई, देती हुई; धा + शतृ, ङीप्।

४. गो + मतुप्—गोमत्, गावः सन्ति अस्य इति। अश्व + मतुप्, अश्वाः सन्ति अस्य इति—अश्वावत्-घोड़ों से भरे हुए। रथ + मतुप्-रथाः सन्ति अस्य इति, रथों से युक्त।

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः

सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः।

सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदपाठः

याम् । त्वा । दिवः । दुहितः । वर्धयन्ति । उषः । सुऽजाते । मतिऽभिः । वसिष्ठाः । सा । अस्मासु । धाः । रयिम् । ऋष्वम् । बृहन्तम् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

हे दिवो दुहितः उषः सुजाते शोभनजनने यां त्वा त्वां मतिभिः स्तोत्रैः वसिष्ठाः वर्धयन्ति सा त्वम् अस्मासु वसिष्ठेषु ऋष्वं प्रदीप्तं बृहन्तं महान्तं रयिं धनं धाः देहि ॥

हिन्दीभाषान्तर

उत्तम वंश में उत्पन्न द्युदेव की बेटी उषा, वसिष्ठकुल के ऋषि अपनी स्तुतियों से तुम्हारे गौरव को बढ़ा रहे हैं। वह तुम हमको विशाल एवम् उदात्त सम्पदा प्रदान करो। तुम (सब देव) अपने कल्याणवचनों से सदैव हमारी रक्षा करो।

टिप्पणियाँ

१. दिवः दुहितः—द्युदेवता की कन्या, सम्बो० ए० व०। दिव् + क्विप्, देवयतीति, द० उ० ८।४०, पं० २।२२—बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः। दिवः—ष० ए० व०, द्युदेव की। दुहिता—निरु० ३।४—दुर्हिता, दूरे वा हिता, दोग्धेर्वा। (१) दुर् + हिता—कन्या माँ-बाप को हितकर नहीं होती। इस प्रसंग में ऐ० ब्रा० ३३।१—कृपणं ह दुहिता, तथा सा० मा० में वहीं उद्धृत यह श्लोक द्रष्टव्य है—

सम्भवे स्वजनदुःखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः ॥

(२) दूर + हिता—दूर में रखी गयी। लड़की जितनी दूर हो उतना ही अच्छा।

(३) दुह + तृ–दुर्ग, स्कन्द-माता के धन का दोहन करने वाली। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार घर मे दूध दुहने का कार्य करती थी अतएव दुहिता (राजवाड़े, निरु० पृ० ४१९)। ग्रीक–थुगतर्, अवेस्ता–दुघदर्, पारसी–दोख्तर, उर्दू–दुख्तर, प्रा० अंग्रेजी–डोहटोर, आ० अग्रे०–डॉटर। वर्धयन्ति–वृध् + णि + लट्, प्र० पु० ब० व०। सुजाते–उत्तम एवम् अभिजात वंश मे उत्पन्न। मतिभिः–स्तुतियों से, स्तोत्रो के द्वारा। मन् ज्ञाने + क्तिन्, मन्यतेऽनया, मननं वा। वसिष्ठाः–वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न ऋषि, वस + तृच् + इष्ठन्।

२. ऋष् गतौ + वन्–द० उ० ८।११९, पं० ४।१२९–सर्वनिघृष्व······। तु० देवराजयज्वा, नि० ३।३।३। ध्यातव्य है कि उणादि सूत्र में 'रिष्व' पाठ है। जोहान्सन भी यही व्युत्पत्ति मानते हैं। ह्विटने, लॉनमान, पीटर्सन–ऋष गतौ + व। पीटर्सन के अनुसार जैसे वृध् से ऊर्ध्व उसी तरह यह शब्द भी निष्पन्न होता है।



ऋग्वेदसंहितायाम्

अक्षसूक्तम्

म० १० सू० ३४

दशममण्डले चतुस्त्रिंशत्तमं सूक्तम्

ऐलूषकवषो मूजवतः पुत्रोऽक्ष ऋषिः। १, ७, ९, १२–अक्षा देवता, २, ४–६, ८–११, १४–कितवः, अक्षाश्च देवता, १३ कृषिर्देवता। १–६, ८–१४ त्रिष्टुप् छन्दः। ७–जगती।

'प्रावेपाः' इति चतुर्दशर्चं पञ्चमं सूक्तमैलूषस्य कवषस्यार्षं मूजवतः पुत्रस्याक्षाख्यस्य वा। सप्तमी जगती शिष्टास्त्रयोदश त्रिष्टुभः। अत्र द्वादशी अक्षान् स्तौति नवम्याद्या च सप्तमी। अतस्तास्तद्देवत्याः। त्रयोदशी कृषिं स्तौति। अतस्तस्याः सा देवता। एवं पञ्च गताः। शिष्टाभिर्नवभिः कितवोऽक्षाश्च निन्द्यन्ते। अतस्ता अपि तद्देवत्याः। तथा चानुक्रान्तं—'प्रावेपाः षळूना मौजवान्वाक्षोऽक्षकृषिप्रशंसा चाक्षकितवनिन्दा च सप्तमी जगती' इति। गतो विनियोगः॥

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति
प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो
विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ १॥

पदपाठः

प्रावेपाः। मा। बृहतः। मादयन्ति। प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः। सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः। विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान्॥ १॥

सायणभाष्यम् १

बृहतः महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाताः इरिणे आस्फारे वर्वृतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षाः मा मा मादयन्ति हर्षयन्ति। किंच जागृविः जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्ता विभीदकः विभीदकविकारोऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अन्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्तः। सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य। मूजवति पर्वते जातो मौजवतः। तस्य। तत्र ह्युत्तमः सोमो जायते। भक्षःपानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः। तथा च यास्कः—'प्रवेपिणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे वर्तमाना इरिणं निर्ऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्माद्दोषधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषीकेषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव विभीदको विभेदनाज्जागृविर्जागरणान्मह्यमचच्छदत्' (निरु० ९.८) इति॥

हिन्दीभाषान्तर

झंझावात में पैदा हुए और चौपड़ पर पलोटने वाले बडे (वृक्ष) के ये पाँसे मुझे आनन्दित कर रहे हैं। मूजवत् (पर्वत) पर पैदा हुए सोम के पान के समान जागरूक यह बहेड़ा मुझे प्रसन्न कर रहा है।

टिप्पणियाँ

१. प्रावेपाः—प्र + विप् (टुवेपृ कम्पने, धातुपाठ) + अच्, विशेषण होने पर भी यहाँ संज्ञा की तरह प्रयुक्त, काँपते हुए। मै० सं० एवम् तै० ब्रा० में प्रावेपा' के स्थान पर 'प्राकाशा' पाठ है, जिसका अर्थ कुण्डल, कर्णपूर किया है। इस पर आधृत हो ओल्डेन०, गेल्डनर तथा वेलणकर 'प्रावेपा' का कुण्डल अर्थ करते हैं। बृहतः—बड़ा, विशाल—विभीतक वृक्ष का विशेषण। मादयन्ति—मदमत्त बनाते हैं, मस्त कर देते हैं। मदी (हर्ष ग्लेपनयोः। ग्लेपनम् दैन्यम्) + णि + लट्, ब० व०। प्रवातेजाः—प्रकृष्टो वातः—प्रवातस्तस्मिन्—ऋ० ५।८३।४, ७।३।२, ७।३५।४ में वात 'वा' धातु से सम्बन्धित है। निरु० १०।३४—वातो वातीति सतः। द० उ० ६।७, पं० ३।८६—हसिमृग्रिण्वा…'

—वा + तन्। प्रवाते जायन्ते इति प्रवातेजाः, तत्पु०। विभक्ति का अलुक्—'प्रावृट्शरत्कालदिवा जे', 'विभाषावर्षक्षरशरावरात्'—से। सायण—नीची भूमि में उत्पन्न (तु० यास्क); उद्गीथाचार्य—प्रवरवाते काले वर्षासु प्रवणे वा प्रदेशे जाताः। रनू—खुली हवा में उत्पन्न, वेलणकर—झंझावात में पैदा हुए। इरिणे—ऋ गतौ + इनन्, द० उ० २।१७, पं० २।२४—ऋच्छति, इयर्ति, अर्यते वा इरिणम्—अल्पोदकतृणस्थानम्। निरु० ९।८—इरिणं निर्ऋणम्, ऋणातेः, अपार्णं भवति। अपरता अस्मादोषधय इति। निस् + ऋण, जल-रहित स्थान, निस् + रम्—ओषधिरहित। वैदिक साहित्य में इरिण का अर्थ है पृथ्वी की प्राकृतिक दरार। खोदी हुई भूमि जिस पर जुए के पाँसे फेंके जाते हैं। अनुवर्ती काल में इरिण का प्रयोग चौपड (अक्षफलक, आस्फार) के लिए हुआ। सायण के अनुसार जुए का पट्टा अर्थ है। उद्गीथ—अन्तरे। इरिण का अर्थ ऊसर, बंजर भूमि के अर्थ में भी होता है (दे० भा० विद्या, मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ, १९६३, पृ० ११-१७)। वर्वृतानाः—वृतु वर्तने (यङ्लुक्) + शानच्—बारबार लुढ़कते हुए, गिरते हुए।

२. मौजवतस्य—सोमस्य का विशेषण। मूजवत् या मुञ्जवत् पर्वत पर पैदा हुए। मूजवत् + अण्—निरु० ९।८—मौजवतो मूजवति जातः। मूजवान् पर्वतः मुञ्जवान्—जिस पहाड़ पर मूँज होता है वह मूजवान् या मुञ्जवान् नामक एक विशेष पर्वत है। यद्यपि होने के अर्थ में यहाँ 'भवेछन्दसि' (पा० ४।४।११०) से यत् प्रत्यय होना चाहिए पर बाहुलकात् वेद में अन्य विधियाँ भी हैं—काशिकासति दर्शने तेऽपि (अणादयः) भवन्ति, सर्वविधीना छन्दसि व्यभिचारात्। भक्षः—पान। विभीदक—अनुवर्ती विभीतक—विगतं भीतमस्मात्, वि + भी + क्त + क, बहेड़ा—इसके फल का प्रयोग जुए के पाँसे के रूप में किया जाता था। जागृविः—जागृ निद्राक्षये + क्विन्, द० उ० १।२४, पं० ४।५६—जॄशॄस्तॄ जागृभ्यः क्विन्। दुर्ग—जुए में जो जीतता है वह हर्ष से जागता है और जो हारता है वह दुःख से—यो जयति स हर्षेण जागर्ति, योऽपि जीयते स दुःखेन जागर्ति। तु० सायण, उद्गीथ। अच्छान्—छन्द (प्रसन्न करना) + लुङ्, प्र० पु०, ए० व०। उद्गीथ—अचच्छदन् अत्यर्थं मादयति। केन सामर्थ्यात् हर्षेण।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा
शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतो-
रनुव्रतामप जायामरोधम् ॥ २ ॥

पदपाठः

न । मा । मिमेथ । न । जिहीळे । एषा । शिवा । सखिऽभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् । अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः । अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥ २ ॥

सायणभाष्यम् २

एषा अस्मदीया जाया मा मा कितवं न मिमेथ न च चुक्रोध न जिहीळे न च लज्जिवती । सखिभ्यः अस्मदीयेभ्यः कितवेभ्यः शिवा सुखकरी आसीत् अभूत् । उत अपि च मह्यं शिवासीत । इत्थम् अनुव्रताम् अनुकूला जायाम् एकपरस्य एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणात् अहम् अप अरोधं परित्यक्तवानस्मीत्यर्थः ॥

हिन्दीभाषान्तर

इसने कभी मुझसे झगड़ा नहीं किया और नही कभी इसने मुझ पर क्रोध किया। मेरे मित्रों के तथा मेरे लिए वह कल्याणकारिणी थी। केवल पाँसे का प्रेमी होने के कारण ही (मैंने अपनी) पतिव्रता स्त्री का परित्याग किया है।

टिप्पणियाँ

१. मा—मुझसे, न—नहीं, मिमेथ—झगड़ा किया, कलह किया, निरु०—मेथतिराक्रोशकर्मा (मेथृ मेधाहिंसनयोः—धातुपाठ)। मिथ + लिट्, प्र० पु०, ए० व०। सायण—क्रोध नहीं किया, अन्यत्र १।११३।२ ऋ०—हिंसा करना—मेथते = हिंस्तः; स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव—आक्रोशतः। जिहीडे—निघ० में क्रोधार्थक धातु, हेड क्रोधवाचक कहा गया है। धातुपाठ में हेड़ृ अनादरे धातु है। सायण हेड् धातु का अर्थ अनादर या क्रोध करना करते हैं। यहाँ 'अनेकार्था हि धातवः' पर आधृत होकर 'लजायी' अर्थ किया गया है।

२. एषा—सर्वनाम्ना उत्सर्गतो बौद्धपरामर्शकत्वमिति एतच्छब्देनात्र पत्न्या निर्देशः। शिवा—शीङ् स्वप्ने+व, कल्याणकारिणी, सुखावहा। सखिभ्यः—मित्रों के लिए—उद्गीथ—एषा मम जाया। किञ्च शिवा सुखा। आसनप्रदानपादप्रक्षालनादि यथार्हप्रतिपत्त्या सुखकरीति। सखिभ्यः एव सुखाते। अपि मह्यमासीत्। सुखामेवंगुणविशिष्टां सती। उत—और, मह्यम्—मेरे लिए, आसीत्—थी। अक्षस्य—अक्ष का, जुआ खेलने के लिए प्रयुक्त पाँसे का। अहम्—मैं, एकपरस्य—एक का प्रेमी होने के कारण। सा०—एकः परः (प्रधानं) यस्य तस्य (अक्षस्य), उद्गीथ—एकः परः प्रधानः यस्य स एकपरः तस्य एकपरस्य पराजयप्रधानस्य। अथवा एकपरस्य एककृता अप्रधानस्य। एकपरस्य—में एकपर अन्तोदात्त है। यह अन्तोदात्तता उचित नहीं प्रतीत होती। एकः परो यस्य—ब० व्री० में, तथा एकेन परः—तृ० तत्पुरुष में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' से आद्युदात्त होना चाहिए—पा० ६।२।१-२। अव्ययीभाव समास एकपरि 'अक्षशलाकासंख्या परिणा'—पा० २।१।१० से बनेगा और वह 'समासस्य' से अन्तोदात्त बनेगा। यहाँ कलि नामक पाँसों के प्रकार का विवरण है। इसमें अक्षपट पर फेंके गये पाँसो को चार से विभाजित करने पर एक पाँसा अवशिष्ट रहता है। जब दो पाँसें शेष रहते हैं तो उस दाँव को द्वापर कहते हैं। उत्तम दाँव का नाम कृत है इसमें एक पाँसा भी शेष नहीं रहता। दे०, छा० उ० पर शङ्कर-भाष्य, एवम् आनन्दगिरि की टीका। हेतोः—कारण से। अनुव्रताम्—अनुकूलः व्रतः यस्याः ताम्; ब० व्री०, उद्गीथ—अनुगतकर्माणमनुकूलामिति। जायाम्—पत्नी को। अप अरोधम्—परित्याग दिया है—रुध् रोकना—लुङ्, प्र० पु०, ए० व०।

द्वेष्टि॑ श्व॒श्रूरप॑ जा॒या रु॑णद्धि॒
न ना॑थि॒तो वि॑न्दते मर्डि॒तार॑म्।
अश्व॑स्येव॒ जर॑तो॒ वस्न्य॑स्य॒
नाहं वि॑न्दामि कित॒वस्य॒ भोग॑म् ॥ ३ ॥

पदपाठः

द्वेष्टि । श्वश्रूः । अप । जाया । रुणद्धि । न । नाथितः । विन्दते । मर्डितारम् । अश्वस्यऽइव । जरतः । वस्न्यस्य । न । अहम् । विन्दामि । कितवस्य । भोगम् ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम् ३

श्वश्रूः जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः । किंच जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि । अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते । इत्थं बुद्ध्या विमृशन् अहं जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य । वस्नं मूल्यम् । तदर्हस्य अश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे ॥

हिन्दीभाषान्तर

(मेरी) सास द्वेष करती है; (मेरी) पत्नी रोकती है । याचक बना हुआ (वह जुआरी) किसी को दयालु नहीं पाता । बहुमूल्य बूढ़े घोड़े के समान जुआरी का कोई उपयोग नहीं पाता हूँ ।

टिप्पणियाँ

१. श्वश्रूः—सास, जुआरी की स्त्री की माता, द्वेष्टि—द्विष् द्वेष करना, लट्, प्र० पु०, ए० व०, सायण—निन्दा करती है । मै०—घृणा करती है; रनू—सायण का अनुसरण करते हैं । जाया—पत्नी, जुआरी की पत्नी । अप-रुणद्धि—अप + रुध्, लट्, प्र० पु०, ए० व० । सा०—घर में रोकती है, जुआघर की ओर नहीं जाने देती । मै०—दूर भगा देती है । रनू—धक्का मार कर भगा देती है । नाथितः—नाथ् (नाध्—माँगना धातुपाठ) + क्त, सा०—याचना करता हुआ । ग्रिफिथ, रनू—आपत्तिग्रस्त । मर्डितारम्—दया करने वाले को, दयालु को—मृड + तृच्, मृडीक भी इसी धातु से बना है, तु०—ऋ० ४।१८।१३—न देवेषु विविदे मर्डितारम्, दे०—१०।६४।२, ११७।१-२ । जरतः—जॄ वयोहानौ + शतृ—बुड्ढे, जीर्ण । वस्न्यस्य—वस्न + यत्, 'छन्दसि च'—पा० ५।१।६७, वेलणकर—कम की गयी, घटाई हुई कीमत—वस्न्य—बुढ़ापे

के कारण कम कीमत में बेचे जाने के योग्य। इनके मतानुसार ऋचा का उत्तरार्ध जुआरी को ऋण देने वाले की उक्ति है। सायण के अनुसार यह उक्ति जुआरी की है, उनके मत में वस्न्य का अर्थ है बहुत कीमती। न अहम्—नहीं। विन्दामि–पाता हूँ; विद् लाभे, लट्, प्र० पु०, ए० व०। कितवस्य–जुआरी का, भोगम्–लाभ, उपयोगिता।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य
यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहु-
र्न जानीमो नयत बद्धमेतम् ॥ ४ ॥

पदपाठः

अन्ये। जायाम्। परि। मृशन्ति। अस्य। यस्य। अगृधत्। वेदने। वाजी। अक्षः। पिता। माता। भ्रातरः। एनम्। आहुः। न। जानीमः। नयत। बद्धम्। एतम् ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम् ४

यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्य अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवाः परि मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति। किञ्च पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवम् आहुः वदन्ति। न वयमस्मदीयमेनं जानीमः। रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयेति ॥

हिन्दीभाषान्तर

जिसके धन पर महापराक्रमी अक्ष ने लालच किया है, उसकी पत्नी का आलिंगन दूसरे लोग करते हैं। माता, पिता तथा भाई (सभी) उसे देख कर कहते हैं 'हम इसे नहीं जानते, इसे बाँध कर ले जाओ'।

टिप्पणियाँ

१. अन्ये–दूसरे लोग। जायाम्–पत्नी को, जुआरी की स्त्री को। परिमृशन्ति–परि + मृश्–स्पर्श करना, छूना अतएव आलिंगन करना। अस्य–इसकी पत्नी का आलिंगन दूसरे लोग करते हैं। यस्य–जिसके। अगृधत्–लालच किया है, लोभ दिखाया है; गृध्, लङ्, प्र० पु०, ए० व०। वेदने–धन के लिए। विद् लाभे, निमित्तार्थे सप्तमी। वाज्यक्षः–छन्द की दृष्टि से वाजी अक्षः पढ़ना चाहिए। बाजी–बलवान्, महान् पराक्रमी। अक्षः–पाँसा। पिता–पिता, माता–माता, भ्रातरः–भाई-बिरादर, एनम्–इसे, आहुः–कहते हैं। अह् कहना धातु, लिट्, प्र० पु०, ब० व०। वैदिक भाषा मे आह, आहुः रूप ही मिलते हैं। जानीमः–जानते हैं, ज्ञा, लट्, उ० पु०, ब० व०। नयत–ले जाओ। बद्धम्–बध बाँधना + क्त। 'न जानीमः' का अर्थ है हम इसके लेनदेन के व्यवहार को नहीं जानते। ऋणदाता यदि ठीक समय पर ऋण नहीं चुकाता था तो उसे वह बाँध लेता था। बृ० स्मृ०—

> बद्ध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः।
> ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः स उच्यते॥

ऋग्वेदकाल में भी यह प्रथा प्रचलित थी।

> **यदादीध्ये न दविषाण्येभिः**
> **परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।**
> **न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ**
> **एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥ ५॥**

पदपाठः

यत्। आऽदीध्ये। न। दविषाणि। एभिः। परायत्ऽभ्यः। अव। हीये। सखिऽभ्यः। निऽउप्ताः। च। बभ्रवः। वाचम्। अक्रत। एमि। इत्। एषाम्। निःऽकृतम्। जारिणीऽइव॥ ५॥

सायणभाष्यम् ५

यत् यदा अहम् आदीध्ये ध्यायामि तदानीम् एभिः अक्षैः न दविषाणि न दूषये न परितपामि। न यद्वा दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः। परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अव हीये अवहितो भवामि। नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति। किंच बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति। तदा संकल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहम् एषाम् अक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव ॥

हिन्दीभाषान्तर

जब मैं यह सोचता हूँ कि मैं इन (पाँसों) से और नहीं खेलूँगा, तब (खेलने के लिए जुआघर की ओर जाते हुए) अपने मित्रो से पीछे छूट जाता हूँ; पर जब (अक्षपटल पर) फेंके जाते हुए भूरे पाँसे शब्द करते हैं, तब जैसे कुलटा स्त्री (संकेत-स्थल पर पहुँच जाती है) वैसे मै इनके स्थान की ओर दौड़ पड़ता हूँ।

१. यत्—जब, आदीध्ये—आ + धी, अपने आप सोच-विचार करना, आत्म०, लट्, उ० पु०, ए० व०। स्क० मा०—यदाक्षैर्जितो हारितसर्वस्वः कुत्स्यमानश्च स्वैरम् अहम् आदीध्ये संकल्पयामि। दुर्ग—कृतनिवृत्तिः देवनाद् अशक्नवन् आत्मानं धारयितुं ब्रवीति—यद् आदीध्ये भृशम् अभिध्यायामि निश्चयेन। न—नहीं, दविषाणि—स्कन्द, दुर्ग—दिव्, लट्, उ० पु०, ए० व०। सायण—दूङ् परितापे अथवा दिव्। दु—जलाना। मै०—दु गतौ। ग्रिफिथ, रनू, स्कन्द, दुर्ग का अनुसरण कर क्रीडा करना अर्थ मानते हैं। सायण—एभिः न दविषाणि—इन पाँसों से नहीं खेलूँगा, मै०—इन साथियो के साथ नहीं खेलूँगा।

२. परायद्भ्यः—परा + इण् गतौ + शतृ, ब० व, पंचमी। स्कन्द—संकल्प्य च परायद्भ्यः आस्फारदेशं प्रति गच्छद्भ्यः अव हीये अधो हीये अपसर्पामि। परागच्छद्भ्यः देवनस्थानम् अहम् एभ्यः अवहीये भृशं हीनोऽस्मि। अवहीये—छोड़ दिया जाता हूँ। हा—छोड़ना, लट्, उ० पु०, ए० व०।

३. न्युप्ताः—नि + वप् + क्त—फेंके जाते हुए; जब जुआरी पाँसों को अक्षपटल पर फेंकता है। बभ्रवः—भूरे रंग के; यहाँ क्षैप्र सन्धि के कारण क्षैप्र स्वरित है जो नित्य है। वाचम्—ध्वनि, शब्द, अक्षपटल पर जब पाँसें फेंके जाते हैं, तब उनसे शब्द उत्पन्न होता है। अक्रत—कृ—करना, आ० लङ्, प्र० पु०, ए० व०। 'न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत' में समासोक्ति है।

४. एमि–जाता हूँ, इण् गतौ, उ० पु०, ए० व०, लट्। इत–ही, पूर्ववर्ती शब्द पर बल देने वाला निपात। एषाम्–इनके। निष्कृतम्–निस् + कृ + क्त–स्थान, निश्चित स्थान। जारिणी—व्यभिचारिणी स्त्री, प्रेमिका; जार की व्युत्पत्ति अनिश्चित है; कुछ लोग जम् विवाह करना धातु से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं जैसे जामाता शब्द।

उपमान और उपमेय में लिङ्ग की विभिन्नता होने पर भी उपमा अत्युचित है। दण्डी, का० २।५१–न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा। उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्। तु० रघुवंश २।६–छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।

सभामेति कितवः पृच्छमानो
जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं
प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥ ६ ॥

पदपाठः

सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानो। जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः। अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामम्। प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम् ६

तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसम्बन्धिनीम् एति गच्छति। तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः

जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधतः अस्य कितवस्य कामम् इच्छाम् अक्षासः अक्षाः वि तिरन्ति वर्धयन्ति ॥

हिन्दीभाषान्तर

'जीतूँगा' ऐसा विचार कर जुआरी गर्व से छाती को फुलाता हुआ जुआ-घर में पहुँचता है। पर ये पाँसे कृत नामक पाँसों को प्रतिस्पर्धी की ओर करते हुए उसकी अभिलाषा को विनष्ट कर देते हैं।

टिप्पणियाँ

१. सभाम्—द्यूतसभा, जुआघर, जुआ खेलने का स्थान, एति—आता है, पहुँचता है। कितवः—व्युत्पत्ति सन्दिग्ध, निरु० ५।२२, कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान् वाशीर्नामकः। स नित्यकालमेव दिदेविषुः प्रतिदेवितृभिः कितवैः पृच्छ्यते किं तव अस्तीति। तस्माच्छब्दानुकरणात् कितव एवाऽसौ बभूव। अथवा कृतवानयं यथा स्यात् इत्येवमसौ आशास्यते सुहृद्भिरन्यैः कितवैः, स हि तस्मादेवमाशसनात् आशीर्निमित्तनामकः कितव एव बभूव—दुर्ग। सा०, ऋ० ५।८५।८—किं तवास्ति सर्वं मया जितमिति वदतीति कितवः। अथर्व० ७।५२।१—अक्षैर्दीव्यन् पुरुषः परैरपह्रियमाणधनः किं तवास्ति न किञ्चिदिति सर्वैर्भाष्यते। पृच्छमानः—प्रच्छ, उभयपदी + शानच्। जेष्यामि इति—जि जये, उ० पु०, ए० व०—जीतूँगा, ऐसा। लुड्विग—जेष्यामि ३, न जेष्यामि ३—जीतूँगा या नहीं जीतूँगा। तन्वा—शरीर से, अपने आप। शूशुजानः—सायण—शुच् + शानच्, मै०—भय, विश्वास। वेलणकर—श्वज् फूलना।

२. अक्षासः—अक्ष, अस्य—उसकी। वितिरन्ति—पार कर देते हैं, पर यहाँ अर्थ है नष्ट कर देते हैं, मिट्टी में मिला देते हैं। कामम्—इच्छा को, अभिलाषा को। प्रतिदीव्ने—प्रति + दिव् + कनिन्—'कनिन् युवृषितक्षिरजिधन्विद्युप्रतिदिवः' इत्युणादिसूत्रेण कनिन्। चतुर्थ्येकवचने 'अल्लोपोऽनः' इति अलोपे 'हलि च' इति दीर्घे रूपम्। कनिनो नित्यत्वादाद्युदात्तत्वम्। ततो 'गतिकारकोपपदात् कृत्' इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्।—प्रतिपक्ष में जुआ खेलने वाले के लिए, प्रतिस्पर्धी जुआरी के लिए। आ दधतः—रखते हुए; आ + दध् + शतृ। कृतानि—तै० ब्रा० १।५।११।१—कृतशब्दवाच्यः चतुःसंख्यायुक्तः

अक्षविषयः अयः।…एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः। तत्र चतुर्णां कृतमिति संज्ञा। तथा च तैत्तिरीयकम्। ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत। अथ ये पञ्च कलिः सः। ऋ० सं० १।४१।९—तत्र कृतस्य लाभाद् द्यूत-जयो भवति। अतएव दाशतय्यां लब्धकृतायात् कितवाद् भीतिराम्नायते—'चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातो।' तत्र निरुक्तम्—'चतुरोऽक्षान् धार-यत इति'। तद् यथा कितवाद् बिभीयात् (३।१६) इति। सायण, अथर्व० ७।५२—कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः। तदुक्तं द्यूतक्रीडामधिकृत्य आपस्त-म्बेन—कृतं यजमानो विजानाति (आप० श्रौ० ५।२०।१) इति।

अक्षास इदंकुशिनो नितोदिनो
निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो
मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥ ७॥

पदपाठः

अक्षासः। इव। अंकुशिनः। निऽतोदिनः। निऽकृत्वानः। तपनाः। तापयिष्णवः। कुमारदेऽस्नाः। जयतः। पुनःऽहनः। मध्वा। सम्ऽपृक्ताः। कितवस्य। बर्हणा॥ ७॥

सायणभाष्यम् ७

अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य सन्तापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य सन्तापनशीलाश्च भवन्ति। किंच जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति। अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुनर्हणः पुनर्हन्तारो भवन्ति॥

हिन्दीभाषान्तर

निश्चितरूप से ये पाँसे अंकुशवाले, काटनेवाले, प्रवंचना करनेवाले, तपानेवाले तथा (जुआरी के हारने पर घर के लोगों को) संताप देनेवाले हैं। बच्चों के समान धन देनेवाले (अतएव अविश्वसनीय), जीतनेवाले को पुनः पीट देनेवाले (तथापि) अपनी मधुमयी वाणी से जुआरी को बढ़ानेवाले हैं।

टिप्पणियाँ

१. अक्षासः—व्युत्पत्ति सन्दिग्ध। निरु० ९।८—अक्षा अश्नुवत एतानिति का; अभ्यश्नुव एभिरिति वा। पाँसे। अङ्कुशिनः—अङ्कुशवाले—निरु० ९।२८—अङ्कुशोऽञ्चतेः, आकुञ्चितो भवतीति वा। नितोदिनः—काटनेवाले, नि + तुद् काटना + इषि। निकृत्वानः—नि + कृतौ छेदने + क्वनिप्। तपनाः—तपानेवाले। तापयिष्णवः—तप + णिच् + इष्णुच्। कुमारदेष्णाः—छोटे बालकों की तरह धन देकर तुरत वापस लेनेवाले; ग्रिफिथ—तुच्छ उपहार देनेवाले। स्वर से ज्ञात होता है कि यह बहुव्रीहि है। इस प्रकार के तीन पद उपलब्ध हैं—तुविदेष्ण (८।८१।२), स्कम्भदेष्ण (१।१६६।७७) और कुमारदेष्ण। दा + इष्णच्—द० उ० ५।४८—गादाभ्याञ्चेष्णच्। जयतः—जीतनेवाले। पुनर्हणः—पुनः प्रहार करनेवाले, पुनः पराजय देकर पीट देनेवाले। सम्पृक्ताः सम् + पृची सम्पर्के + क्त, भरे हुए, मध्वा—मधु से, शहद से। बर्हणा—बढ़ाते हुए, वृद्धि करनेवाले। सा० ऋ० ३।३४।१—वृहि वृद्धौ + युच्, ३।३९।८—वृहि + यु (औणादिक)।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां
देवइव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते
राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥ ८ ॥

पदपाठः

त्रिऽपञ्चाशः। क्रीळति। व्रातः। एषाम्। देवःऽइव। सविता। सत्यऽधर्मा। उग्रस्य। चित्। मन्यवे। न। नमन्ते। राजा। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम् ८

एषाम् अक्षाणा त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याकः व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति। अक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीत्यर्थः। किंच उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षाः न नमते न प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते। तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यः नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावशां करोतीत्यर्थः॥

हिन्दीभाषान्तर

सत्यधर्मा सविता के समान इन (पाँसों) का तिरपन (अथवा एक सौ पचास) का समूह (अक्षपटल पर) खेलता है। ये उग्र (व्यक्ति) के क्रोध के समक्ष नहीं झुकते। राजा भी इन्हें नमस्कार करता है।

टिप्पणियाँ

१. त्रिपञ्चाशः—३ + ५०— त्रि + पञ्चाशः = ५३ अथवा ३ × ५० = १५०। ब्राह्मण ग्रन्थो में आगत 'त्रयः पञ्चाशत्' के समान यह ५३ का बोधक है। सायण यहाँ तथा अथर्ववेद १९।३४।२ में यही अर्थ मानते हैं। ल्यूडर्स तथा अन्य योरोपीय विद्वान् इसका अर्थ 'तीन बार पचास' अर्थात् एक सौ पचास मानते हैं। इसका समर्थन ऋ० १।१३३।४—तिस्रः पञ्चाशतः—भी करता है। समास का विग्रह—त्रिरावृत्ता पञ्चाशत् यस्मिन्। बहुव्रीहौ संख्येयेऽजबहुगणात् इति ऽच् समासान्तः। क्रीडति—क्रीड, लट्, प्र० पु०, ए० व०, खेलता है। व्रातः—समूह। एषाम्—इन पाँसों का। देव इव—देवता के समान। सविता। सत्यधर्मा—सत्यधर्मवाले, ब० व्री०। उग्रस्य—भयकर। चित्—भी। मन्यवे—क्रोध के सामने। ना—निषेधार्थक, छन्द के कारण दीर्घ। नमन्ते—झुकते हैं—णमु प्रह्वीभावे, लट्, प्र० पु०, ब० व०। राजा—शासक। चित्—भी। एभ्यः—इन्हें। नमः इत्—नमस्कार ही। कृणोति—कृ, लट्, प्र० पु०, ए० व०।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य-
हस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ ९ ॥

पदपाठः

नीचा । वर्तन्ते । उपरि । स्फुरन्ति । अहस्तासः । हस्तऽवन्तम् । सहन्ते । दिव्याः । अङ्गाराः । इरिणे । निऽउप्ताः । शीताः । सन्तः । हृदयम् । निः । दहन्ति ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम् ९

अपि चैतेऽक्षाः नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते । तथापि उपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति । अहस्तासः हस्तरहिता अप्यक्षाः हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति । दिव्याः दिवि भवा अपकृताः अङ्गाराः अङ्गारसदृशा अक्षाः इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तः अपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति ॥

हिन्दीभाषान्तर

ये (पाँसे) नीचे पड़े रहते हैं, पर ऊपर (जुआरी के हृदय) को काटते रहते हैं । हस्तहीन ये हाथवालों को पराजित करते हैं । अक्षफलक पर फेंके हुए ये दिव्य अंगारे स्वयम् शीतल होकर भी (जुआरी के) हृदय को जला देते हैं ।

टिप्पणियाँ

१. नीचाः—नीचे, वर्तन्ते—रहते हैं, पड़ते हैं । उपरि—ऊपर, स्फुरन्ति—निघ० में स्फुर तथा स्फुल मारने के अर्थ में हैं । धातुपाठ में स्फुर, स्फुल सञ्चलने, चलने, फड़कने अर्थ में पठित है । यहाँ यह हिंसार्थक है, तु०—यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुः—ऋ० २।१२।१२ । न हस्तौ येषां ते—अहस्तासः,

ब० व्री०, बिना हाथ के, 'नञ्सुभ्याम्' पा०—६।२।१७२। हस्त + मतुप्, हस्तवन्तम्—हाथवाले। सहन्ते—पराजित करते हैं, अभिभूत करते हैं। षह अभिमर्षणे, लट्, प्र० पु०, ब० व०।

२. दिव्या—दिवि भवाः, दिव् + यत्, स्वर्ग में होनेवाले। अङ्गाराः—अंगार, अक्ष पर अंगार का आरोप किया है—द्र० श० ब्रा० ५।३।१।१०—अधिदेवनं वा अग्निः। तस्यैतेऽङ्गारा यदक्षाः, दे० ५।४।४।२३। इरिणे—सा०, श० ब्रा० ७।२।१—इरिणं निस्तृणमूषरस्थानम्। आस्फार, द्यूतफलक। न्युप्ताः—फेंके हुए, फेंके जाने पर। शीताः—शीतल, ठंडे। सन्तः—होते हुए। अस् + शतृ। हृदयम्—चित्त को। निर्दहन्ति—पूर्णतया जला देते हैं। दह भस्मीकरणे, लट्, प्र० पु०, ब० व०। पाद १,२,४ में विभावना तथा ३ में अतिशयोक्ति अलंकार है।

जाया तप्यते कितवस्य हीना
माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानो-
ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥ १० ॥

पदपाठः

जाया। तप्यते। कितवस्य। हीना। माता। पुत्रस्य। चरतः। क्व। स्वित्। ऋणऽवा। बिभ्यत्। धनम्। इच्छमानः। अन्येषाम्। अस्तम्। उप। नक्तम्। एति ॥ १० ॥

सायणभाष्यम् १०

क्व स्वित् क्वापि चरतः निर्वेदाद्गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजसन्तापेन सन्तप्ता भवति। माता जनन्यपि क्वापि चरतः कितवस्य सम्बन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन सन्तप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहम्। 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रौ उप एति चौर्यार्थमुपगच्छति॥

हिन्दीभाषान्तर

द्यूतकार की परित्यक्ता पत्नी और इधर-उधर भटकनेवाले (जुआरी) पुत्र की माँ मन में जलती हैं। ऋणी (जुआरी) डरता हुआ, धन की अभिलाषा रखनेवाला (वह) रात्रि में (छिपते हुए चोरी करने के लिए) दूसरों के घर जाता है।

टिप्पणियाँ

१. जाया—जुआरी की पत्नी। तप्यते—जलती रहती है, दुखी रहती है—तप् दाहे, प्र० पु०, ए० व०, कर्मकर्तृवाच्य। कितवस्य—जुआरी की। हीना—हा त्यागे + क्त, स्त्री, परित्यक्ता, छोड़ी हुई। माता—माँ, पुत्रस्य—जुआरी बेटे की। चरतः—घूमनेवाले, चक्कर लगानेवाले—चर + शतृ। क्व स्वित्—इधर-उधर, कभी यहाँ, कभी वहाँ।

२. ऋणवा–संहिता में छान्दस दीर्घ। ऋण + वनिप्, 'छन्दसी वनिपौ', पा० ५।२।१०९। बिभ्यत्–डरता हुआ, भी + शतृ। धनम्–धन को। इच्छमानः–इषु इच्छायाम् + शानच्, चाहता हुआ, इच्छा करता हुआ। अन्येषाम्—दूसरों के। अस्तम्—घर को—श० ब्रा० २।५।२।२९–गृहा वा अस्तम्, इण् गतौ + तन्। नक्तम्—रात में। उप एति—इण् गतौ, लट्, प्र० पु०, ए० व०।

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापा-
न्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रू-
न्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११ ॥

पदपाठः

स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। ततापा। अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्। पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्। सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद ॥ ११ ॥

सायणभाष्यम् ११

कितवं कितवः। विभक्तिव्यत्ययः। अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुष्ठु कृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते। पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति। पुनश्च वृषलः वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते ॥

हिन्दीभाषान्तर

जुआरी (दूसरों की) पत्नी एवम् स्त्री को तथा सुन्दर साजे हुए घर को देखकर चित्त मे अनुतप्त होता है। भूरे घोड़ों को प्रातःकाल जोतकर (जुआरी खेलता हुआ हारकर) सायंकाल हीन दशा में (अपने चूल्हे की) आग में आ गिरता है।

टिप्पणियाँ

१. स्त्रियम्–स्त्री को, वेदों में कर्मकारक ए० व० में केवल यही रूप उपलब्ध है। लौकिक संस्कृत में स्त्रियम्, स्त्रीः के अतिरिक्त स्त्रीम्, स्त्रीः रूप भी मिलते हैं। दृष्ट्वाय–देखकर, दृशिर् प्रेक्षणे + त्वाय। वेद में आठ धातुओं के त्वाय प्रत्ययान्त रूप मिलते हैं। कुछ लोग इसे त्व का ही रूप मानते हैं। अन्य विद्वान् इसे सप्तमी ए० व० त्वे + आ का रूप मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इसमें दो प्रत्यय मानते हैं—त्वा + यः। कितवम्—जुआरी को; सायण—कितवम् कितवः। विभक्तिव्यत्ययः; कर्ता, ए० व० के स्थान पर कर्म, ए० व० का प्रयोग यहाँ है। तताप—सतप्त होता है, दुखी होता है, तप, लिट्, प्र० पु०, ए० व०। अन्येषाम्—दूसरो की। जायाम्—पत्नी को, यहाँ, और स्त्रियम् में ए० व० जाति में है—जातावेकवचनम्। अतएव अन्येषाम् के ब० व० तथा स्त्रियम् एवम् जायाम् के ए० व० में विरोध नहीं है। सुकृतम्—अच्छी तरह से सजाये गये, सु + कृ + क्त। च—और। योनिम्—निवासस्थान, घर। रत्नू—सेज, पलंग। निघ० में योनि शब्द गृहवाचक है। शां० भा०, ब्र० सू० १।४।२७–योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनामिति। स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम्। क्वचित् स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः। 'योनिष्ट इन्द्र निषदेऽकारि'—ऋ० सं०

१।१०४।१—इति । पूर्वाह्णे—प्रातःकाल, दिन के पूर्व भाग में । अश्वान्—घोड़ों को, अक्षों के ऊपर अश्व का आरोप किया गया है । युयुजे—जोतता है—युज् जोतना, लिट्, प्र० पु०, ए० व० । 'हि' के कारण उदात्त स्वर से युक्त—पा० ८।१।३४—हि च । हि—निश्चित अर्थ का वाचक निपात, निश्चय ही। बभ्रून्—भूरे रंग के। सः—वह । अग्नेः—अग्नि के । अन्ते—समीप में । वृषलः—सायण—वृषल का कार्य करनेवाला, ग्रिफिथ—जातिबहिष्कृत, मै०—भिखारी, वृष + लः । पपाद—जाता है; पद् गतौ, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

२. पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्—में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य
राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि
दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥ १२ ॥

पदपाठः

यः । वः । सेनाऽनीः । महतः । गणस्य । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव । तस्मै । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम् १२

हे अक्षाः वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानीः नेता बभूव भवति व्रातस्य च । गणव्रातयोरल्पो भेदः । राजा ईश्वरः प्रथमः मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि । अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थः । एतदेव दर्शयति । अहं दश दशसंख्याका अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि । तत् एतत् अहम् ऋतं सत्यमेव वदामि । नानृतं ब्रवीमीत्यर्थः ॥

हिन्दीभाषान्तर

जो तुम्हारे महान् गण का सेनापति है, (जो) तुम्हारे संघ का प्रमुख राजा है उसके सामने (अपने हाथों की) दसों अँगुलियाँ फैलाता हूँ, और यह मैं सच कह रहा हूँ कि मैंने धन नहीं छिपाया है ।

टिप्पणियाँ

१. यः—जो, वः—तुम लोगों के, तुम्हारे। सेनानी.—नायक, सेनापति, महतः—महान्, विशाल, बड़े। गणस्य—गण का। राजा व्रातस्य—संघ का राजा। प्रथमः—श्रेष्ठ, प्रमुख। बभूव—हुआ, भू, लिट्, प्र० पु०, ए० व०। तस्मै-उसके लिए, उसके सामने। न-नहीं, धना-धनानि, धन को। रुणध्मि-रुध्, लट्, प्र० पु०, ए० व०। कृणोमि—करता हूँ, फैलाता हूँ, कृ, लट्, प्र० पु०, ए० व०। दश—दस अँगुलियों को। अहम्-मैं। प्राचीः-सामने। तत्-यह। ऋतम्—सच, सही। वदामि—कहता हूँ, वद, लट्, प्र० पु०, ए० व०।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३ ॥

पदपाठः

अक्षैः। मा। दीव्यः। कृषिम्। इत्। कृषस्व। वित्ते। रमस्व। बहु। मन्यमानः। तत्र। गावः। कितव। तत्र। जाया। तत्। मे। चष्टे। सविता। अयम्। अर्यः ॥ १३ ॥

सायणभाष्यम् १३

हे कितव बहु मन्यमानः मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु। कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु। वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रतिं कुरु। तत्र कृषौ गावः भवन्ति। तत्र जाया भवति। तत् एव धर्मरहस्यं श्रुति-स्मृतिकर्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविधमाख्यातवान् ॥

दुर्गभाष्यम्

अक्षैः मा दीव्यः इत्यक्षदेवनप्रतिषेधः। तत्र हि बहवोऽनर्थाः सन्ति। कृषिम् इत् कृषस्व इति कृषिविधानम्। तस्यां हि बहवो गुणाः सन्ति। वित्ते रमस्व

स्वल्प एवोपार्जिते बहु एतदेवेति मन्यमानः । मा वित्तलोभेन दीव्यः, निजमपि वित्तं हारयिष्यसि । कृषिं पुनरेतस्मात् कारणात् कृषस्व । हे कितव तत्र तस्या कृषौ गावः सन्ति, तत्र तस्यां च जाया । तत् पुनरेतत् मे मम सविता देवः अर्यः ईश्वरः । विश्रतिस्मृत्यनुशासनद्वारेण विविधम् अनेकप्रकारम् आचष्टे । उभे अपि हीमे श्रुतिस्मृती मन्वादिद्वारेण आदित्यान्तरपुरुषः भवे एव । अत इदम् उक्तम्-वितैवैतन् मम विचष्टे इति ॥

हिन्दीभाषान्तर

पाँसों से मत खेलो, खेती ही करो, इसी को बहुत मानते हुए (इसी से प्राप्त) धन में रमो । वहाँ पर गायें हैं, जुआरी, वहाँ तुम्हारी घरवाली है, श्रेष्ठ सविता ने यह मुझसे कहा है ।

टिप्पणियाँ

१. अक्षैः—पाँसों से, मा—मत, दीव्यः—खेलो, दिव् , लोट् , म० पु०, ए० व० । कृषिम्—कृषि, खेती, इत्—ही, कृषस्व—करो, कृष् विलेखने, लोट्, म० पु०, ए० व० । वित्ते—(कृषि से प्राप्त) धन में । रमस्व—रमो, आनन्द मनाओ; रमु क्रीडायाम्, लोट् , म० पु०, ए० व० । बहु मन्यमानः—कृषि से प्राप्त धन को ही बहुत समझकर, सायण—मेरे वचन पर विश्वास कर-मद्वचने विश्वासं कुर्वन् ; दुर्ग–इस कृषि से मिले धन को ही बहुत समझकर–स्वल्प एवोपार्जिते बहु एतदेवेति मन्यमानः । मैकदोनेल भी इसी अर्थ को स्वीकारते हैं । ग्रिफिथ–इस धन को ही बहुत मानकर । रनू–भी इस अर्थ के समर्थक हैं ।

२. तत्र—वहाँ, कृषिकर्म में, गावः—पशु । कितव—जुआरी, तत्र—वहाँ, खेती में, जाया–पत्नी । जुआरी, खेती से ही, तुम्हारे जुए में हारे गये पशु और जुआ खेलने के कारण अन्यत्र गयी हुई पत्नी, मिल जायेगी । तत्—यह, इसे; विचष्टे–कहा है, वि + चक्ष् , लट् , प्र० पु०, ए० व०; प्रकाशित किया है, कहा है । पद-पाठ में उपसर्ग और क्रिया दो भिन्न पद माने जाते हैं । ऐसी स्थिति में उपसर्ग उदात्तविहीन हो जाता है और क्रियापद उदात्तयुक्त हो जाता है—

उपसर्गपूर्वमाख्यातमनुदात्तं विगृह्यते ।
उदात्तं यत् समस्यत उपसर्गो निहन्यते ॥

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो
मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामराति-
रन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ १४ ॥

पदपाठः

मित्रम् । कृणुध्वम् । खलु । मृळत । नः । मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु । नि । वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रऽसितौ । नु । अस्तु ॥ १४ ॥

सायणभाष्यम् १४

हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वम् अस्मासु मैत्रीं कुरुत । खलु इति पादपूरणः नः अस्मान् मृळत सुखयत च । नः अस्मान् धृष्णु धृष्णुना । तृतीयार्थे प्रथमा । घोरेण असह्येन मा अभिचरत मा गच्छत । किंच वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रु नि विशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु । अन्यः अस्माकं शत्रुः कश्चित् बभ्रूणां बभ्रूवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रं अस्तु भवतु ॥

हिन्दीभाषान्तर

(आओ) मित्रता करो, हम पर दया करो । धृष्टता से अपने भयंकर रूप द्वारा मुझ पर जादू न करो । तुम्हारा क्रोध शान्त हो और तुम्हारी शत्रुता भी। भूरे रंगवालों के बन्धन में कोई और पड़े ।

टिप्पणियाँ

१. मित्रम्—मित्रता, मित्र शब्द मित्र के अर्थ में पुँल्लिंग है तथा मित्रता के अर्थ में नपुंसकलिंग । कृणुध्वम्—करो, कृ, लोट्, म० पु०, ब० व० । खलु—पादपूरणार्थक निपात अथवा निश्चय ही । मृडत—दया करो, सुखी बनाओ; निरु० १०।१५-१६—मृडतिर्दानकर्मा पूजाकर्मा वा, मृडयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा । धातुपाठ में—मृड सुखने; लोट्, म० पु०, ब० व० । नः—हम

पर, मा—मत, नः—हम पर। घोरेण—सायण—असह्य, ग्रिफिथ—भयानक, मैकडोनेल—जादुई शक्ति। अभिचरत—जादू करो, रनू—आक्रमण करो। धृष्णु—धृष्टतापूर्वक, शक्ति से। वः—तुम्हारा, नु—अब। मन्युः—क्रोध—निरु० १०।२९—मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो, वधकर्मणो वा। नि विशताम्—शान्त हो, विश, लोट्, प्र० पु०, ए० व०। अरातिः—शत्रु, सायण—ऋ० २।७।२ अरातिः अदानं शत्रुत्वम्; ऋ० सं० १।२९।४—रा दाने। 'मन्त्रेवृषेष०' इत्यादिना भावे क्तिन्। न विद्यतेरातिः एषु इति। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। 'नञ्सुभ्याम्' इति तु 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति न भवति। यद्वा 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इति कर्तरि क्तिच्। नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। रा + क्तिन्, नञ् + रातिः अथवा रा + क्तिच्, नञ् + रातिः। अन्यः—दूसरा, बभ्रूणाम्—भूरे रंगवाले पाँसों के। प्रसितौ—बन्धन में, निरु० ६।१२—प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा। प्रसितिर्जालं येन मत्स्या बध्यन्ते। प्र + षिञ् + क्तिन्। हरदत्त—पा० ६।२।५०—तादौ च निति कृत्यतौ—इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। नु—शीघ्र, अस्तु—होवें, पड़ें।



परिशेष

परिशेष १

वैदिक साहित्य

वेद शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थविशेष के बोधक रूप में नहीं, प्रत्युत् इससे एक विशाल ग्रन्थराशि का ग्रहण होता है। 'विद्' धातु का अर्थ है—जानना, अतएव वेद शब्द ज्ञान का वाचक है। जिन ग्रन्थो में ज्ञान का संचयन हुआ, उन्हें वेद नाम से प्रसिद्धि मिली है। भारतीय परम्परा की दृष्टि में मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के समुदाय को वेद कहा गया है—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्—आपस्तम्ब परिभाषा-सूत्र १।३३। संहिताओं में प्रयुक्त गद्य या पद्य को मन्त्र कहते हैं। इन मन्त्रो का जिन ग्रन्थों में व्याख्यान किया गया है उन्हें ब्राह्मण अभिधान मिला है। आधुनिक विद्वान् ब्राह्मण ग्रन्थो की गणना वेद में नहीं करते। सामन्यतः वैदिक साहित्य संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् का बोधक स्वीकारा गया है।

संहिताएँ चार हैं—ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता। ई० पू० की शतियों में ऋग्वेद की २१ शाखाएँ उपलब्ध थीं—एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्—पतञ्जलि, महाभाष्य, पस्पशाह्निक। आज केवल शाकल संहिता मिलती है। इसके अतिरिक्त बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन एवं माण्डूक्य संहिता का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है। इस संहिता में १०२८ सूक्त तथा १०६०० मन्त्र हैं। ऐतिहासिक अवधारणा की दृष्टि से ऋग्वेद की रचना आर्यों ने पञ्जाब में की थी। इस संहिता का संकलन होता नामक ऋत्विक् के लिए किया गया है।

यजुर्वेदसंहिता की कभी सौ शाखाएँ थीं–एकशतमध्वर्युशाखाः—पतञ्जलि, म० भा०, प०। आज इस संहिता की केवल ६ शाखाएँ प्राप्त होती हैं। यजुर्वेद के दो भेद हैं—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी और कपिष्ठल नामक चार शाखाएँ हैं। शुक्ल-यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—माध्यन्दिन वाजसनेय तथा काण्व। शु० य० ४० अध्यायों में विभक्त है एवं

तैत्तिरीय कृष्ण-यजुर्वेद मे ७ काण्ड, ४४ प्रपाठक या अध्याय, ६५१ अनुवाक और २१९८ कण्डिकाएँ हैं। यजुर्वेदसंहिता मे मन्त्रो का संकलन अध्वर्यु नामक पुरोहित की सुविधा के लिए किया गया है। विद्वानो का अभिमत है कि यजुर्वेद की रचना तब हुई थी जब कुरु-पाञ्चाल प्रदेश मे आर्य पहुँच चुके थे।

सामवेदसंहिता की १००० शाखाओ का उल्लेख मिलता है—सहस्रवर्त्मा सामवेदः—पतञ्जलि, म० भा०, प०। सामवेद की उपलब्ध तीन शाखाओं के नाम हैं—कौथुमीय, जैमिनीय, राणायनीय। इस संहिता के पूर्वार्चिक एव उत्तरार्चिक दो भाग हैं। पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक में क्रमशः ६ एवं ९ प्रपाठक है। गेय मन्त्रों को साम कहते हैं। तीन ऋचाओ के कथन मे जितना समय लगता है उतना ही समय एक साम के गाने में लगता है। सामवेद में कुल १५४९ ऋचाएँ हैं, जिनमें ७८ को छोड़कर सभी ऋग्वेद से ली गयी हैं। इस संहिता का संकलन उद्गाता नामक पुरोहित के लिए किया गया है।

अथर्ववेदसंहिता की ९ शाखाएँ थीं—नवधाथर्वणो वेदः—पतञ्जलि, म० भा०, प०। उपलब्ध शाखाओ के नाम हैं—शौनक और पैप्पलाद। अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्त और ५८३९ मन्त्र हैं। इन मन्त्रो में १२०० मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

ब्राह्मण

ब्रह्म शब्द मन्त्र एवं यज्ञ का बोधक है—'ब्रह्म वै मन्त्रः' शत० ७।१।१।५। वैदिक मन्त्रों तथा यज्ञो का विश्लेषण करने के कारण नपुंसकलिङ्ग मे प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द ग्रन्थ का अभिधायक बना। ब्राह्मण शब्द का ग्रन्थ अर्थ में प्रयोग अष्टाध्यायी (३।४।३६), निरुक्त (४ २७), शतपथ० (४।६।९।२०), ऐतरेय-ब्राह्मण (३।२५, ८।२) तथा तैत्तिरीय संहिता (३।७।१।१) में उपलब्ध होता है। यज्ञरहस्य के सम्यक् बोध के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थो की उपादेयता अनपलपनीय है। ब्राह्मणो में विवेचित विषयों का संकेत शाबर-भाष्य में मिलता है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥ २।१।८॥

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय एवं शांख्यायन ब्राह्मण हैं। शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का शतपथ ब्राह्मण महत्त्व की दृष्टि से ऋग्वेद के समकक्ष है। कृष्ण-यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण सुप्रसिद्ध है। सामवेद से सम्बद्ध ताण्ड्य या पञ्चविंश, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, दैवत, उपनिषद्, संहितोपनिषद्, वश तथा जैमिनीय ब्राह्मण हैं। अथर्ववेद का केवल गोपथब्राह्मण है। इन प्राप्त ब्राह्मणो के अतिरिक्त शाट्यायन, भाल्लवि, तवल्कार, आह्वरक, कंकति, कालवबि, चरक, छागलेय, जाबालि, पैंगायनि, माषशरावि मैत्रायणीय, रौरुकि, शैलालि, श्वेताश्वतर, हारिद्रविक, काठक, खण्डिकेय, औखेय, तुम्बरु, आरुणेय, सौलभ तथा पराशर ब्राह्मणो का भी उल्लेख मिलता है।

आरण्यक

अरण्य मे पठनीय होने के कारण ब्राह्मणों के परिशिष्ट भाग को आरण्यक के नाम से प्रथित किया गया है।

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्ष्यते ॥

तै० आ०, सा० भा०, ६।

आरण्यको में प्रायः दार्शनिक मीमांसा का प्रारम्भ दृष्टिगत होता है। ऐतरेण आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, शांख्यायन, बृहदारण्यक तथा तवल्कार आरण्यक उपलब्ध हैं।

उपनिषद्

ब्राह्मण एवम् आरण्यकों के विशिष्ट अंग ही उपनिषद् हैं। उपनिषदो में अध्यात्मविद्या का विवेचन अति उदात्त रूप में किया गया। उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में वैसादृश्य है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार १०८ उपनिषद् हैं। मुख्य तथा प्रामाणिक माने जाने वाले उपनिषदों की संख्या १० है— (१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, ( ) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक :—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्य बृहदारण्यकं दश ॥

वेदाङ्ग

वेद के सम्यक् परिशीलन के निमित्त उपकारक शास्त्रों को वेदाङ्ग के नाम से अभिहित किया गया है। वेदाङ्ग साहित्य में (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द, (६) ज्योतिष आते हैं। शिक्षा में स्वर, वर्ण के उच्चारण का विवरण है—स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा—सायण, ऋग्वेद भाष्यभूमिका, पृ० २१। शिक्षा-ग्रन्थों में पाणिनीय, याज्ञवल्क्यीय, वासिष्ठी, कात्यायनी, पाराशरी, माण्डव्यीय आदि प्रमुख हैं। यज्ञीय प्रयोगों के समर्थक शास्त्र को कल्प कहते हैं—कल्प्यते यागप्रयोगोऽत्र—सायण, वही तुलनीय—वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्—विष्णुमित्र, ऋक्प्राति०, पृ० १३। कल्पसूत्रों के चार भेद हैं—(१) श्रौत, (२) गृह्य, (३) धर्म, (४) शुल्ब। श्रौतसूत्रों में आश्वलायन, शांख्यायन, कात्यायन, बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी या सत्याषाढ, मानव, आर्षेय, मशक, लाट्यायन, द्राह्यायण, वैतान, वैखानस, भारद्वाज प्रमुख हैं। इनमें श्रौत अग्नि में विहित यज्ञों के अनुष्ठान का सम्यग् वर्णन है। गृह्यसूत्रों में आश्वलायन, शांख्यायन, पारस्कर, गोभिल, खदिर आदि हैं। इनमें गृह्य अग्नि में सम्पादित होने वाले अनुष्ठानों का विश्लेषण है। धर्मसूत्रों में सामाजिक आचार एवं कर्त्तव्यों का निरूपण है। गौतम, वसिष्ठ, बौधायन, आपस्तम्ब प्रसिद्ध धर्मसूत्र हैं। शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदि के मापन आदि का विवरण है। आर्यों की प्राचीन ज्यामिति का इनमें निदर्शन है। भाषा के विवेचन में व्याकरण का अत्यन्त महत्त्व है। निरुक्त में पदों का निर्वचन उपलब्ध होता है। इस समय केवल यास्क का निरुक्त उपलब्ध है। यास्क के निरुक्त में अन्य बारह आचार्यों का उल्लेख मिलता है। छन्द में वैदिक छन्दों का विवेचन एवं ज्योतिष् में यज्ञ के निमित्त काल का विवरण मिलता है।

परिशेष २

ऋग्वेद का रचना-काल

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं। मीमांसा के अनुसार शब्द नित्य है। शब्द का अवयव वर्ण उद्भूत नहीं होता, अभिव्यक्त होता है।

वर्णराशि शब्द की सत्ता है, अन्यथा उसका प्रकाशन ही न हो पाता। शब्दों की रचना पौरुषेय नहीं है, अतएव शब्द-समवाय वेद मनुष्यकृत नहीं हो सकता। ऋषि सूक्तों के प्रवक्ता मात्र हैं, इसीलिए उनके नाम से सूक्त प्रथित हैं। नैयायिक तथा वेदान्तविद् भी वेदों की नित्यता में विश्वास करते हैं। ऋषियों ने मन्त्रों का अनुभव किया, उन्हें देखा—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। मनीषी ऋषियों की चेतना में मन्त्र स्वतः स्फूर्त हुए—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'।

तर्कमूलक प्रज्ञा का वशंवद आधुनिक युग परम्परा का विश्वास नहीं करता, अतएव वह परमेश्वर के विश्वास से उद्भूत, वेदों को नहीं स्वीकारता। वाकरनागल ने भाषायी शोध कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारोपीय कुल की भाषाओं में ऋग्वेद सर्वाधिक पुरातन ग्रन्थ है, जिसकी प्राचीनता को मिस्री एवं आसुर पुरालेख भी सन्दिग्ध नहीं बना सकते। ऋग्वेद से यूरोप का परिचय होते ही जर्मन विद्वानों को ऋग्वेदीय देवताओं में अपने 'पैगन' देवताओं की झलक दिखाई पड़ी। जर्मन मनीषियों ने सायास प्रमाणित कर दिया है कि वैदिक जन 'नोर्डिक' थे और वे भारत में बाहर से आये थे। निश्चय ही इस निष्कर्ष से वैदिक देवता 'स्वर्णकेश' तथा 'गौरवर्णी' सिद्ध हुए।

भारोपीय भाषाओं के कुल में ग्रीक, लातीनी, स्लावी, जर्मन, पारसी तथा संस्कृत भाषाओं का परिगणन किया जाता है। इन भाषाओं का प्रसार आइसलैण्ड से बंगाल तक था। मैक्समूलर ने संस्कृत भाषा के आर्य शब्द पर आधृत हो इस कुल को आर्य अभिधान दिया है। इस कुल को इंदोजर्मनिक भी कहा जाता है। भाषाओं के कुल के सिद्धान्त से विद्वानों को आदि-आर्य भाषा की कल्पना करनी पड़ी। जब आर्य भाषा थी, तब उसके बोलने वाले भी रहे होंगे, अतः आर्य-जाति के सिद्धान्त की भी स्थापना करनी पड़ी। यह आर्य-जाति स्वर्णकेशी एवं गोरी थी।

तौलनिक भाषाविज्ञान के विकास के फलस्वरूप 'ग्रिम नियम' अस्तित्व में आया। इस नियम पर आधृत हो भारोपीय भाषाएँ 'शतम्' तथा 'केण्टुम्' वर्गों में विभक्त हुईं। केण्टुम् वर्ग की भाषाएँ पश्चिम योरोप में बोली जाती हैं और शतम् वर्ग का प्रयोग यूरोप के पूर्वबाल्टिक क्षेत्र से बंगाल तक होता है।

प्रो० एमेन्यू आदि विद्वान् इस प्रकार के विभाजन को अतात्त्विक समझते हैं और यह धारणा उचित तथा तर्कसंगत भी है।

भाषाविज्ञान के सहचारी नृतत्त्वविज्ञान ने आर्य-जाति की उद्भवभूमि पर शोध करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप जर्मन या ट्यूटानिक भाषाविदों ने लिथुआनिया, उत्तर जर्मनी, स्वीडन, दक्षिणी रूस, लघु एशिया या मध्य एशिया को आर्यों का मूल स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया। आदि आर्य, जर्मन विद्वानों के अनुसार, आधुनिक जर्मन के समान था इसीलिए वे अपने को आर्य कह गौरवान्वित होते हैं।

जर्मन विद्वानों की इस उपलब्धि ने यूरोपीय विद्वानों को प्रतिक्रिया में परिनिष्ठ किया। फ्रांस के नृतत्त्वविज्ञानियों ने आर्यों को 'केल्ट' सिद्ध किया। इतालियन नृतत्त्ववेत्ता सेर्बी के अनुसार बृहत्काय, लम्बी नासिकावाले तथा हिरण्यकेश आर्यों की मूल भूमि पामीर का पठार था। यहीं से नवपाषाणकाल में आर्य यूरोप में पहुँचे, जिनकी आनुवंशिकता केल्ट जनों में सुरक्षित है।

जर्मनी में प्राप्त अजज़ीलियन युग के कतिपय नरकपालों में कुछ लम्बे एवं कुछ छोटे हैं। फ्रांस के सोलुत्ते नामक स्थान पर पूर्वपाषाणकालीन दीर्घकपाल प्रथम युद्ध के पश्चात् उपलब्ध हुआ है। इन साक्ष्यों पर आधृत हो विद्वानों का अभिमत है कि पूर्वपाषाणकाल के पश्चात् उत्तर यूरोप में दीर्घकपाल गौरवर्णी मानव के निवास करने का सिद्धान्त उचित नहीं कहा जायगा। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि उत्तरपूर्व यूरोप में निवास करने वाले फ़िन भी गौरवर्णी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण भी प्राप्त हैं, जिनके कारण नॉर्डिक सिद्धान्त को आँख मूँदकर मानना असमीचीन स्वीकारा जाने लगा है।

जर्मन विद्वानों की अवधारणा है कि नॉर्डिक जनों ने अपने बनजारापन के कारण अनेक स्थानों में आदिवासियों को पराजित कर अपनी स्वप्रभुता स्थापित की। इस प्रकार हेलेनिक ग्रीक, पैट्रसियन रोमी, शाखामनीषीय पारसीक तथा वैदिक आर्य इतिहास में अवतरित हुए।

जर्मन विद्वान् और उनका अनुसरण करने वाले आँग्ल जन वैदिक साहित्य में प्रतिपन्न नॉर्डिक जन एवं नॉर्डिक संस्कृति के शोध में समाहित हैं। अनेक भारतीय विद्वान् भी इस मतवाद का अनुसरण कर प्रशंसनीय हुए हैं।

अर्कोदेमिसियन स्ट्रूवे के अनुसार ई० पू० २०००—३००० में आर्मेनिया में निवास करने वाले जन अपने को आर्य कहते थे। स्ट्रूवे का यह मत ह्यूगो विन्कलर को तुर्किस्तान में अंकारा के समीप बोगज़्कोई नामक स्थान पर १९०७ ई० मे उपलब्ध तीन मृत्पट्टिकाओ के अध्ययन पर आधृत है। आगे चलकर इनका यह कथन भी विचारणीय है कि आर्य उत्तरयूरोपीय नहीं थे। इनके अनुसार आर्यभाषा जफेटिक कुल की है। अतएव आर्य उत्तरयूरोपीय न होकर जफेट थे।

बोगज़्कोई की मृत्पट्टिकाओ में हितिति नरेश सुब्बीलुलिउमा तथा मत्तिउज़ा नामक मितन्नि नृप की सन्धि का विवरण है। भाषा-विज्ञानियों की दृष्टि मे हितिति भाषा में भारोपीय भाषा के केण्टुम् वर्ग के लक्षण हैं। मितन्नि नृप की मृत्पट्टिका में वैदिक देवताओं मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ का उल्लेख है। चाइल्ड तथा फोरर के मत से इन मृत्पट्टिकाओं में प्रयुक्त संख्याएँ वैदिकोत्तर प्राकृत के रूप के समान हैं। इस प्रकार मितन्नि भारोपीय भाषा के शतम् वर्ग से अनुबद्ध है। व्यक्तिवाचक नाम, संख्याएँ तथा देवताओं के नाम भारतीय प्रतीत होते हैं। इस कारण आर्यों के मूलस्थान एवं भाषासम्बन्धी अनेक वैमत्यों के बीच वेदों—विशेषतः ऋग्वेद—का समय-निर्धारण करना सहज नहीं है। हिन्दू वेदो को परमेश्वर के निःश्वासउद्भूत एवं अनादि मानता है इसका निर्देश किया जा चुका है।

आधुनिक युग में वैदिक साहित्य के समय-निर्धारण का सर्वप्रथम प्रयत्न मैक्समूलर ने किया। चन्द्रगुप्त मौर्य की तिथि को सुनिश्चित समझकर उन्होंने स्थापना की कि वैदिक साहित्य बौद्धधर्म के पूर्व विकसित हो चुका था। मैक्समूलर ने प्रत्येक युग के साहित्य के विकास के लिए २०० वर्ष का समय दिया। इस प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि यह स्थापना आनुमानिक ही है।

इस प्रकार मैक्समूलर ने ऋग्वेद का समय १०००–१२०० ई० पू० स्थिर किया। इस ऋग्वेदीय समय को मैक्समूलर छन्दकाल की अभिधा प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य का समय वक्ष्यमाण है—

मन्त्रकाल १०००—८०० ई० पू०
ब्राह्मणकाल ८००—६०० ई० पू०
सूत्रकाल ६००—२०० ई० पू०

अनुमान पर आधृत इस स्थापना मे नृवंश एवं संस्कृति के विकसनशील परिवेश को विस्मृत कर दिया गया। वैदिक साहित्य की तिथियों के निश्चय में अंगीकृत स्वेच्छा के सम्बन्ध में विंतरनित्ज का यह कथन विचारणीय है—'अब यह स्पष्ट है कि वेद के विभिन्न साहित्य-युगो के विकास के सम्बन्ध में २०० वर्ष का स्वीकार शुद्धतम स्वेच्छा है'। विल्सन, ह्विटनी आदि द्वारा आलोचित होने पर मैक्समूलर ने १८९०ई० मे जिफोर्ड भाषण-माला में पुनः उद्घोष किया कि पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति है जो यह निश्चयपूर्वक कह सके कि वैदिक सूक्तों की रचना ई० पू० १००० या १५०० या २००० या ३००० में हुई थी।

इस प्रकार, जैसा कि विंतरनित्ज ने खेद प्रकट किया है, अनुमान पर आधृत इन निरंकुश तिथियों को वैज्ञानिक सत्य मान लिया गया है। विंतरनित्ज का यह कथन युक्तिसंगत माना जायगा—विज्ञान में सांकेतिक कार्यों की कितनी सुदृढ शक्ति होती है, यह विस्मयावह है। मैक्समूलर द्वारा शुद्ध रूप में आनुमानिक तथा समग्ररूप मे निरंकुश, वैदिक युगों के समय-निर्धारण ने, नये तर्कों या वास्तविक प्रमाणों को उपलब्धि के बिना ही, समय के प्रवाह में विज्ञान-सिद्ध सत्य के आभास एवं प्रसिद्धि को प्राप्त कर लिया।

हरमन जैकोबी नामक जर्मन विद्वान् एवं भारतीय विद्वान् लोकमान्य तिलक ने खगोल एवं ज्योतिष् विद्या पर आधृत हो समय के निर्धारण का प्रयास किया। इस प्रक्रिया द्वारा तिलक ने कुछ वैदिक ग्रन्थों का समय ६००० ई० पू० निश्चित किया, जब कि जैकोबी ने सांस्कृतिक विकास का आरम्भ ४५००ई०पू० माना। जैकोबी ऋग्वेद के अनुवर्ती सूक्तो को भी उपर्युक्त युग की रचना स्वीकारते हैं। जैकोबी के इस अनुमान की पर्याप्त आलोचना हुई है। विंतरनित्ज की यह प्रतिपत्ति उचित प्रतीत होती है कि भारतीय इतिहास की दृष्टि से वैदिक साहित्य ४००० ई० पू० में पहुँचता है और मैक्समलर द्वारा निर्धारित तिथि, प्राचीन भारत के राजनैतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक इतिहास के अधुनातन ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में, सहज स्वीकार्य नहीं है। इस स्थापना को ब्यूह्लर ने भी प्रमाणित किया है।

नृतत्त्वविज्ञानी एवं इतिहासविद् विद्वानों ने विश्व के विभिन्न सम्भागों में भारोपीय जनो की प्रथम उपस्थिति के सम्बन्ध में अन्वेषण किया है। भारतीय

आर्यों के प्रव्रजन का समय, इन विद्वानो की दृष्टि से, २००० ई० पू० के पूर्व नहीं हो सकता। भारतीय विद्याओं के अनेक आचार्य इस मतवाद के विषय में शंकालु हैं। मॉरिस ब्लूमफील्ड की विचारधारा में भारत में भारतीय आर्यों के आगमन की तिथि और पहले भी सम्भाव्य है। इस प्रकार भारतीय आर्यों की भारत में उपस्थिति वैदिक सूक्तो की रचना के सम्बन्ध में विद्वानो के द्वारा तिथिनिश्चय का प्रत्येक प्रयत्न आनुमानिक एवं निरंकुश है। इन प्रयत्नों की अवतरणिका में वैज्ञानिकता का नितान्त अभाव है। विंतरनित्ज का यह कथन कि, उचित तिथि 'अ' से ५०० ई० पू० है, उचित प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में ऋग्वेद के सूक्तों की साक्ष्यों पर विचार करना अनर्गल नहीं होगा। ऋग्वेद विभिन्न सूक्तों का संग्रह है। सूक्तों में देवताओं का स्तवन तथा कतिपय राजाओ का प्रशंसन किया गया है।

विभिन्न ऋषियों ने वैदिक सूक्तों की रचना की है। कवि बुद्धिमान् थे। जो कवि सूक्त गाते थे उनके पुत्र भी कवि थे। वत्स ऋषि कवि का पुत्र होने से कवि हैं। सूक्तों की रचना विशिष्ट ऋषि-कुलों ने की है। इन सूक्तो को ऋषियों तथा उनके उत्तराधिकारियों ने स्मृति में सुरक्षित कर याज्ञिक अनुष्ठानो में विनियोजित किया। अनुवर्ती युग में जब संहिता के रूप में सूक्तो का सकलन किया गया तब एक एक ऋषि-कुल के सूक्त भी एकत्र किये गये। इस प्रकार के सूक्तो के संग्रह को मण्डल कहा गया। केवल प्रथम एवं दशम मण्डल में अनेक ऋषियों के सूक्त हैं। द्वितीय मण्डल में भृगुवंशी गृत्समद एवं उनके वंशजों के सूक्त हैं। तृतीय मण्डल की रचना विश्वामित्र तथा उनके उत्तराधिकारियों ने की। वामदेव कुल के सूक्त चतुर्थ मण्डल में हैं। अत्रि-कुल के सूक्त पञ्चम मण्डल में मिलते हैं। भरद्वाज-कुलरचित छठें मण्डल के सूक्त हैं। सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ एवं उनके कुलज हैं। अष्टम मण्डल काण्व-वंश का है। इस मण्डल में ११३ सूक्तों के समूह में ११ सूक्त 'बालखिल्य' सूक्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन बालखिल्य सूक्तों का समय सन्दिग्ध है। विद्वान् इन्हें अन्तःक्षेप मानते हैं। विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री सायणाचार्य ने इन सूक्तों का भाष्य नहीं किया। दशम मण्डल के अनेक सूक्तो के रचयिताओ का नाम नहीं मिलता। इन सूक्तों में जिन देवताओं का स्तवन किया गया

हैं, उन्हीं को इनका रचयिता भी मान लिया गया है। कतिपय सूक्त अपेक्षाकृत नवीन हैं, यह भी स्वीकृत सत्य है। विद्वानों का विचार है कि दशम मण्डल अथर्ववेद के सदृश प्रतीत होता है। अथर्ववेद को पहले 'त्रयी' (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में स्थान नहीं मिला था।

किसी विशेष सूक्त की विशेष ऋचा किसी अन्य सूक्त में अन्य देवता की स्तुति में रख दी गयी है। म्योर का अभिमत है कि वेद संकलन के समय अनेक ऋचाएँ अनुचित स्थानों पर आकलित कर दी गयी हैं। मित्रावरुण की स्तुति में प्रयुक्त ऋचा विष्णुसूक्त में प्रक्षिप्त हो गयी है। आधुनिक विद्वान् पुरुषसूक्त को भी अन्तःक्षेप स्वीकारते हैं।

वैदिक सूक्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक ऋषि-कुलों ने यागीय अनुष्ठान के निमित्त जिन सूक्तों की रचना की, वे कालान्तर में मिल-जुल गये और उन्हें संहिता का रूप अनुवर्ती युग में प्राप्त हुआ। भारतीय परम्परा संहिताओं के आकलन का श्रेय कृष्ण द्वैपायन व्यास को देती है। यह कार्य उस समय सम्पन्न हुआ जब कुरु, पाण्डव, पाञ्चाल और यादव जन गंगा तथा यमुना के तीरवर्ती प्रदेश में निवास करते थे। महाभारत वेदव्यास को इन जातियों से सम्बद्ध बताता है। वेदों का संकलक होने के कारण ही इन्हें व्यास आख्या प्राप्त हुई। इस प्रसंग में यह वक्तव्य है कि ऋग्वेद में चेदि-नरेश का उल्लेख किया गया है। चेदिनरेश के अधीन दस नरेश थे। इससे यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की रचना के समय आर्यों का प्रसार मध्यभारत तक हो चुका था।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि सूक्तों की रचना और उनके संकलन के मध्य एक दीर्घ काल का प्रक्षेप है। वेदों को अनेक ऋषियों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्मरण रखा और उसे अपने शिष्यों को दिया। यह परिपाटी भारतीय लिपि के उद्भव के पूर्व तक प्रचलित रही। फलस्वरूप वेद अनेक शाखाओं में विभक्त हुआ।

अन्तःसाक्ष्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन सूक्तों में संस्कृति के अनेक स्तर मिलते हैं। एक सूक्त से ज्ञात होता है कि वैदिक जन पशु-

पालक थे। अन्यत्र राजा को हम हाथी पर आरूढ़ एवं मन्त्रियों से घिरा देखते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि कृषक-समाज व्यवस्थित हो चुका था और राज्यसंस्था विकसित हो चुकी थी। विभिन्न सूक्तों में 'सप्तसिन्धु' के उल्लेख के साथ-साथ उत्तरप्रदेश की सरयू नदी का भी वर्णन मिलता है। मिट्टी के घरों एवं हजार खम्भोंवाले प्रासाद का विवरण भी है।

वैदिक तथा अवेस्तिक अनुष्ठानों की समानता, भाषा की सदृशता भारत-ईरानी-युग की एकता का जहाँ निदर्शन प्रस्तुत करती है वहीं कतिपय सादृश्यों पर आधृत हो विद्वान भारोपीय युग की भी सम्भावना स्वीकारते ही हैं। होम्मेल आदि विद्वानों के अनुसार वैदिक जनों का सम्पर्क सामी जनों से भी रहा है। अनेक सामी शब्द और परम्पराएं वेद में उपलब्ध होती हैं। अतएव कोई आनुमानिक तथा स्वैच्छिक तिथि का निर्धारण करना दुष्कर है।

अनेक सूक्तों में सुदूर अतीत की झलक मिलती है। काण्वमेध्य ऋषि एक मन्त्र में कहते हैं—बहुस्तुत सोम प्राचीन काल से देवों का पेय है। अग्नि पूर्वकालीन और अधुनातन ऋषियों का पूज्य है। देवों को पूर्वकालिक 'निविद' के द्वारा आवाहित किया गया है। शुनःशेप प्राचीन पितरों से स्तुत इन्द्र की स्तुति करता है। कक्षीवान् ऋषि भयंकर इन्द्र से उसी नेतृत्व की कामना करता है जो प्राचीन काल में था। कक्षीवान् के पिता दीर्घतमा प्राचीन ऋषि दधीचि, अंगिरा, प्रियमेध, काण्व, अत्रि तथा मनु का उल्लेख करता है। इन सूक्तों से सिद्ध होता है कि ऋषियों को सतत अपने अतीत का स्मरण है। मैक्समूलर ने भी यह स्वीकारा है कि ऋग्वेद में प्राचीन तथा अर्वाचीन सूक्त हैं। ऋषियों एवं उनके पुत्रों के सूक्त वेद में एकत्र मिलते हैं। इस प्रकार के निदर्शन विश्वामित्र तथा दीर्घतमा के पुत्रों मधुच्छन्दा एवं कक्षीवान् या कक्षीवत् में देखा जा सकता है। प्रत्येक पीढ़ी ने सूक्तों का निर्माण किया जिन्हें वेद में स्थान मिला है।

इन निष्कर्षों पर आधृत हो वैदिक युग को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्राचीन युग, (२) मध्य युग, (३) नव युग। इस प्रकार की युगव्यवस्था का प्रमाण हमें वेद में उपलब्ध है। ग्रॉसमन तथा ओल्देनबुर्ग वैदिक युग के चार स्तर मानते हैं। ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार प्रथम

स्तर में द्वितीय और सप्तम मण्डल तक आता है। यह भाग ऋग्वेद में सर्वाधिक प्राचीन है। द्वितीय स्तर में प्रथम तथा अष्टम मण्डल आहित किया जा सकता है। तृतीय तथा चतुर्थ स्तर में क्रमशः नवम तथा दशम मण्डल की रचना हुई। ग्रॉसमन के अनुसार इनमें कतिपय सूक्त एवं ऋक् भी अनुवर्तीयुगीन हैं। अपने भाषान्तर मे ग्रॉसमन ने इन्हें परिशिष्ट में रखा है।

३६ खिल सूक्तों को भी विद्वान् ऋग्वेद का अंश नहीं मानते। यह प्रतीत होता है कि अनुवर्तीयुगीन साम्प्रदायिकों ने अपनी आस्थाओं को वैदिक स्वीकृति दिलाने के लिए इन्हें ऋग्वेद में अन्तःक्षिप्त करने का प्रयास किया है। मैकडोनेल के मत से इन खिलों का रचनाकाल ४०० ई० पू० है। खिल सूक्तों के द्वितीय सूक्त में गरुड़-पक्ष से एक सर्प के नष्ट होने, आस्तीक, जनमेजय, जरत्कारु तथा मुचुकुन्द का उल्लेख किया गया है। महाभारत के आदिपर्व मे इन सबका वर्णन मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि आदिपर्व की रचना के पश्चात् इस सूक्त की स्थिति आयी होगी।

११ वें सूक्त (श्रीसूक्त) में लक्ष्मी देवी की उपलब्धि होती है। इस सूक्त में सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त कमलनयना लक्ष्मी देवी का स्तवन किया गया है। यहाँ लक्ष्मी को हरि एवं विष्णु की पत्नी कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस सूक्त की रचना उस समय हुई जब लक्ष्मी या महालक्ष्मी की पूजा का प्रसार हो चुका था। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि लक्ष्मीपूजा गुप्तयुग मे अस्तित्व में आयी, यद्यपि इसके बीज वेद में मिलते हैं। एक अन्य सूक्त मे महादेव को विश्वेश्वर, विरूपाक्ष, सदाशिव, शम्भु और शिवशंकर के नामो से अभिहित किया गया है। श्रीसूक्त के द्वितीय भाग में गोविन्द, माधव, अनन्त, केशव, कृष्ण, गोपीनाथ आदि का भी उल्लेख है। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि वासुदेव का भी वर्णन है। शैवत्व के द्वारा शिवलोक की प्राप्ति भी चर्चित है। सर्पसूक्त में अजगर का वर्णन है। यमुनातीर पर रहने वाले नौ फणवाले कालिय सर्प का उल्लेख किया गया है। वह सर्प नारायण का वाहन कहा गया है। गौरी यहाँ शङ्कर की पत्नी कही गयी हैं। रात्रिसूक्त में रात्रि एवं दुर्गा का स्तवन मिलता है। इस प्रकार पौराणिक परिसर के अनेक आख्यानो की अवधारणा इन सूक्तों मे दृष्टिगत होती है।

३३ वें सूक्त में ओंकार परमात्मा, ओंकार चतुर्भुज तथा लोकनाथ नारायण की स्तुति है। निश्चय ही यहाँ पौराणिक नारायण की प्रतिष्ठा परिलक्षित होती है। ३६ वें सूक्त में ब्रह्म के सार्वत्रिक अस्तित्व की सूचना मिलती है।

इन सूक्तों के अध्ययन से स्पष्टतः यह निष्कर्ष गम्य होता है कि इन साम्प्रदायिक सूक्तों की रचना वैष्णव एवं शैव-धर्म के सुप्रतिष्ठ हो जाने के अनन्तर हुई। विद्वानों का अनुमान है कि इस प्रकार की स्थिति सम्भवतः भारशिवों एवं गुप्तों के युग की है।

इससे इस निष्कर्ष की प्रतिपत्ति शक्य है कि ऋग्वेदीय सूक्तों की रचना एक विशिष्ट समय या युग में नहीं हुई। ऋग्वेद अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सन्दर्भों से परिपूर्ण है। इसमें भारतीय आर्यों के जातीय लोकाचारों का यथावत् विवरण है। ब्लूमफ़ील्ड का कथन है कि वैदिक धार्मिक-सिद्धान्तों के बीज वेद-पूर्व हैं। ऋग्वेद में विभिन्न युगों में सूक्तों का संकलन किया गया है। इन सूक्तों में भारतीय आर्यसंस्कृति के अनेक स्तरों की प्रतिच्छाया है। अतएव ऋग्वेद की आनुमानिक तिथियों की सत्यता सन्दिग्ध है। इस प्रकार भारतीय इतिहास के वैदिक युग के समय का निश्चय करना सर्वथा दुष्कर है। आर्यों को नॉर्डिक मानकर जिन सिद्धान्तों का प्रचार जर्मनों ने किया है, उसे मान लेना युक्तिपरक नहीं समझा जा सकता। आधुनिक भाषाविज्ञान भी आज कुल एवं जातिगत विभाजनों के परिवेश से मुक्त हो चुका है। विंतरनित्ज़ द्वारा निर्धारित समय एक्स—६०० ई० पू० से भी सहमत होना उचित नहीं प्रतीत होता। ब्लूम-फ़ील्ड का ७०० ई० पू० एवं रॉथ का ७००-६०० ई० पू० भी मानना दुराग्रह है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि किसी अनिश्चित तिथि से आरब्ध होकर ६०० ई० पू० तक वैदिक साहित्य की रचना हुई होगी।

परिशिष्ट ३

वैदिक देवशास्त्र

मनुष्य जिन घटनाओं में दिव्यता तथा अलौकिकता का परिदर्शन करता है उनसे देवशास्त्र की गाथाओं की अवधारणाओं का उद्भव होता है। प्राकृत

मनुष्य चराचर में निहित शक्तियों तथा गोचर घटनाओं को जब विश्लिष्ट करने का प्रयास करता है तब अनेक अचेतन पदार्थों को रूपायित होना पडता है। विद्वानों का अभिमत है कि देवगाथाएँ जिस पुरातन मानसिक दृष्टि पर आधृत होती हैं वह अपने निखिल प्राकृत परिवेश से संपृक्त रहती हैं। कथाकार मनुष्य अपनी कथा के सूत्रो में समूचे परिवेश को चिन्मय कर पिरो देता है। वैदिक ऋषियो ने प्रकृति की विविध घटनाओं में मानवीय चेतना को आरोपित किया है। प्रकृति के वे सभी उपसर्ग, जिनसे मनुष्य को भय मिला अथवा प्रीति-संस्पर्श का अनुभव हुआ, वैदिक ऋषियों के आराध्य बन गये। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में भारतीय आर्यधर्म एवं देवशास्त्र का प्रारम्भ भारोपीय युग से हुआ है। पारसीक धर्म से समानता होने के कारण वैदिक धर्म के भारत-ईरानी युग की भी आकल्पना की गयी है।

वैदिक द्योस् पितर = यूनानी ज्यूस पातेर = लैटिन जुपिटर का समीकरण किया जाता है। वर्षा-देवता पर्जन्य एवं अर्थ की दृष्टि से लिथुआनिया का देव पर्कुनस समान प्रतीत होता है। अग्नि के समान लैटिन इग्निस, लिथुआनी उग्निस, स्लावी ओगोन हैं। वेद एवं अवेस्ता की भाषा में तो समानताएँ हैं ही, अनेक अनुष्ठानों तथा देवों का सादृश्य भी परिलक्षितव्य है। वैदिक यज्ञ = अवे० यस्न, होतृ = जओतर, अथर्वन् = आथ्वन्, ऋत् = अष्, क्रतु = खथुस्, सोम = हओम आदि निदर्शन वैदिक आर्यों एवं पारसीकों की एकसूत्रता का संकेत करते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में वैदिक देवता प्राकृतिक शक्तियो के अधिष्ठाता हैं। ऋग्वेद के प्राकृत काल में अनेक देवताओ की सत्ता में विश्वास एवं निष्ठा दृष्टिगत होती है। अतः इस काल की धारणा को बहुदेववाद (पालीथीजम) का अभिधान दिया जाता है। अनुवर्ती कालीन वैदिक आर्यों में एकेश्वरवाद (मानोथीजम) दृष्टिगत होता है। अन्तिम युग में सर्वेश्वरवाद (पैनीथीजम) के रूप में वैदिक विचारधारा उपलब्ध होती है।

मैक्समूलर वैदिक-धर्म में हेनोथीजम या केनोथीजम देखते हैं। उनके अनुसार यह प्राचीन धर्मों का एक प्रकार है। जब जिस देवता की स्तुति में

वैदिक ऋषि सूक्त गाता है तब वह उसे सर्वाधिक उदात्त एवं श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वरुण, इन्द्र—सभी देवता जगत् के स्रष्टा, व्यापक, दयालु, उपासकों के ऐश्वर्यदाता तथा शत्रुविनाशक कहे गये हैं। इसी प्रवृत्ति को मैक्समूलर हेनोथीजम कहते हैं।

अन्य विद्वान् वैदिक देवताओं को प्रजातिनायक समझते हैं। मानवसमाज में आदि काल से वीरों में देवत्व का आरोप होता रहा है। निखिल प्राचीन संस्कृतियों मे इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। समस्त देवों में सर्वप्रथम उत्पन्न मिस्री देव 'उनस' वस्तुतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उनस पञ्चम राजवंश का अन्तिम नरेश था। मिस्र में अन्य नरेशों में भी देवत्व का आरोप किया गया है। यूनानी ज्यूस देवता, बार्नेट के अभिमत में, देवीकृत नरेश है। बार्नेट की दृष्टि में अनेक वैदिक देवता नरेश थे, जिन्हें मृत्यूपरान्त देव बना दिया गया। राइस की विचारधारा में सम्भवतः इन्द्र भी कोई आर्य नृपति था, जिसे सांस्कृतिक नायक भी कहा जा सकता है। २०० ई० पू० में मेसिना के यूमेरस के अनुसार समस्त देवता देवीकृत मनुष्य हैं। भारतीय परम्परा में ऐतिहासिकों के अनुसार अश्विनौ पुण्यकर्मा नरेश माने गये हैं—'राजानौ पुण्यकृतौ इति ऐतिहासिकाः'—निरुक्त १२।१। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म समस्त वैदिक देवताओं को राजा कहते हैं। महीधर (शु० य० २३।२९) यज्ञीय देवों को पुरोहितों के साथ समीकृत करते हैं।

इस प्रकार इस निष्कर्ष को स्वीकारा जा सकता है कि द्युलोक में स्थित देवता मनुष्यों से भिन्न नहीं हैं। जिन मनुष्यों को अमरता प्राप्त हुई, वे देव मान लिये गये। ऋभुओं ने अपने यान्त्रिक कौशल से देवत्व की उपलब्धि की (ऋ० १।२०)। १।१६४।५० ऋ० में दीर्घतमा के कथन तथा यास्क (नि० १२।४१) के साक्ष्यों पर आधृत हो कहा जा सकता है कि देवों का एक वर्ग यज्ञ करने के कारण महान् बन गया। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि देवतात्व की उपलब्धि यज्ञ के द्वारा हो जाती है और तदनन्तर द्युलोक में निवास के लिए स्थान भी मिलता है। पुरुषसूक्त में पूर्व देव साध्यों का वर्णन मिलता है। १०।१३२।२ ऋ० के अनुसार वातरशना मुनियों को देवत्व

की प्राप्ति हुई थी। १०।१९७।५ ऋ० में कहा गया है—देव जब असुरों को मार कर लौटे, तब उनकी अमरता सुरक्षित हो गयी। इस प्रकार वीर नायकों के देवत्व-प्राप्ति के अनेक सन्दर्भ ऋग्वेद में परिलक्षितव्य हैं।

ऋग्वेदीय सभी देवता शक्ति, ऐश्वर्य, दान, बुद्धि आदि गुणों से समन्वित हैं। एक ही देवता में अनेक देवताओं की शक्तियों का समावेश है। वस्तुतः यह प्रशंसा का एक आचार मात्र है। बुद्धिपूर्वक अध्ययन से सामान्य विशेषताओं के भीतर भी व्यक्तिगत गुणों को समझा जा सकता है। प्रजापतियों की वांशिक एवं सांस्कृतिक एकता के कारण वैदिक ऋषि के वक्तव्यों में एकेश्वरवाद भी दृष्टिगत होता है। वैदिक देवों की शारीरिक संरचना मनुष्यों के समान है। उनके हाथ, पैर, नासा, नयन और मुख का वर्णन मिलता है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि मानवात्मक मूर्तीकरण अधिक स्थूल न होकर छायात्मक है। अनेक देवता योद्धा हैं और अपने उपासकों के शत्रुओं को नष्ट करने में सक्षम हैं। पूजक के हव्य से देव सुपुष्ट होते हैं और देवों की कृपा से पूजक ऐश्वर्यवान्, पुत्र-पौत्र से सम्पन्न और सुखी बनता है। वैदिक देवों का चरित्र नैतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। सभी देवता सत्यवादी और कपटरहित हैं। आदित्यगण और मुख्यतः वरुण नैतिकता के गोप्ता हैं। वरुण पवित्रता और श्रेष्ठता में अप्रतिम है। इन्द्र कहीं-कहीं कपट उपायों का आश्रय लेता है। सभी जीवों पर इनका साम्राज्य है। इनके विधानो का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

ऋग्वेद (३।६।९; ७।२८; ७।३०।२) के अनुसार देवों की संख्या ३३ है। अथर्ववेद (१०।७।१३) भी इस संख्या की पुष्टि करता है। अन्यत्र ऋग्वेद (३।९।९; १०।५२।६; वाजसनेयि संहिता ३७।७) में देवों की संख्या ३३३९ बतलायी गयी है। शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण देवों को ३ भागों में विभक्त करते हैं। इनमें ८ वसुगण, ११ रुद्रगण तथा १२ आदित्यगण का परिगणन किया गया है। शतपथ तैंतीस संख्या की पूर्ति के लिए द्यौस्, पृथिवी अथवा इन्द्र, प्रजापति को सम्मिलित करता है। ऐतरेय के अनुसार वषट्कार और प्रजापति को परिगणित करना चाहिए। रमेशचन्द्र दत्त के अनुसार मौलिक

संख्या ३३ के मध्य में शून्य रख कर तदनन्तर पुनः एक शून्य बढ़ाकर योग करने पर देवों की ३३३९ संख्या मिल जाती है।

३३
३०३
३००३
―――――
३३३९

यह संख्या अनुवर्ती देवशास्त्र में ३३ करोड़ तक पहुँच गयी। यह निश्चित है कि हिन्दू जिसे धार्मिक जगत् में स्थान देना चाहता है उसे अमर कर देवो की कोटि में रख देता है।

देवो का पारम्परिक वर्गीकरण उनके स्थान के अनुसार हुआ है (ऋ० १।१३९।११, निरुक्त ७।५)। स्थानकृत विभाजन वक्ष्यमाण है—(१) पृथिवी-स्थानीयय देवता, (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता और (३) द्युस्थानीय देवता। पृथिवी स्थान में पृथिवी, अग्नि और सोम हैं। अन्तरिक्षस्थानीय या मध्यम-स्थानी देवो में इन्द्र, अपां नपात्, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य और आप् का परिगणन किया जाता है। द्युस्थानीय देवों में द्यौस्, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, अश्विनौ, उषा और रात्रि को स्वीकारा जाता है। ब्लूमफील्ड द्वारा अंगीकृत विभाजन विद्वानों को स्वीकार नहीं हुआ।

इन प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त त्रित, आप्त्य तथा मातरिश्वा जैसे अल्प-स्तुत देवता भी हैं। पार्थिव देवताओं में सिन्धु, विपाट्, शुतुद्रि आदि नदियों की भी स्तुति की गयी है। सरस्वती इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अमूर्त देवताओं में मन्यु, श्रद्धा, अनुमति, अरमति, निर्ऋति, प्रजापति आदि परिगणित किये जाते हैं। त्वष्टा का यद्यपि अनेक बार उल्लेख मिलता है, पर उसका कोई सूक्त नहीं है। त्वष्टा इन्द्र के वज्र तथा चमस का निर्माता है। उसने सोम तथा सरण्यु के रक्षण में योग दिया है। वह सभी गर्भस्थ जीवों को रूपायित करता है।

ऋग्वेद में यद्यपि देवियों का अपेक्षाकृत गौण स्थान है, तथापि अदिति तथा उषा के अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं। सरस्वती, वाक्, पृथिवी तथा अरण्यानी से सम्बद्ध सूक्त भी है।

ऋग्वेद में कई युग्मदेवता भी स्तुत हुए हैं। अश्विनौ, द्यावापृथिवी तथा मित्रावरुणौ इसी प्रकार के देव-यमल हैं।

इन्द्र

ऋग्वेदीय देवकुल में इन्द्र सर्वाधिक प्रमुख देवता है। ऋग्वेद के चतुर्थांश-२५० सूक्तों-में इनका स्तवन किया गया है। जिन सूक्तों में आंशिक रूप से इन्द्र की प्रशस्ति मिलती है, उन्हे मिलाकर उपर्युक्त संख्या ३०० तक पहुँच जाती है।

तिलक, हिलब्रॉन्त तथा दाण्डेकर इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसका समीकरण सूर्य के साथ करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं, जिसे इन्द्र = सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि-देश उत्तर-ध्रुव में शीतऋतु में समग्र नदियों का जल जम जाता है और उनकी धाराएँ रुक जाती हैं। वसन्त का सूर्य उन्हें प्रवाहित करता है। हिलब्रॉन्त भी वृत्र को हिमानी का रूप मानते हैं। इस हिमानी का विनाश सूर्य करता है। इन्द्र-वृत्र कथा से यही संकेत मिलता है।

वैदिक अनुष्ठान भी इन्द्र को सूर्य सिद्ध करते हैं। मध्याह्न सवन का समर्पण इन्द्र के लिए किया जाता है। ऋ० १२।१।३। इस प्रकार इन्द्र सूर्य प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण २।४४ मे सवनदिन का समीकरण सूर्य के साथ किया गया है। इसी ब्राह्मण (३।४३।६) मे अग्निष्टोम वर्ष का प्रतीक माना गया है। वसन्त को ब्राह्मण-ग्रन्थो में इन्द्र की ऋतु कहा गया है और वसन्त मे सूर्य की शक्ति का वितन्वन होता है। महाव्रत और अतिरात्र नामक सोमयागों से इन्द्र का गहरा सम्बन्ध है। ये दोनो सोमयाग सूर्य-संक्रान्ति के पर्व हैं। शतपथ-ब्राह्मण में भी इन्द्र एवं सूर्य का समीकरण किया गया है (१।६।४।१८)।

ऋग्वेद का ८।९१ सूक्त जिस कथा का वर्णन करता है, उसमें इन्द्र को चर्म-रोग का नष्ट करने वाला कहा गया है। अनुपलब्ध शाट्यायन ब्राह्मण के उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए सायण ने आत्रेयी अपाला को 'त्वग्दोषदुष्टा' कहा है। इन्द्र ने उसे 'सूर्यत्वच' बना दिया (८।९१।७—अकृणोः सूर्यत्वचम्)। १।५०।११–१३ ऋग्वेद से सिद्ध होता है कि सूर्य अनेक रोगों को नष्ट करता है। सायणाचार्य का कथन है कि उपर्युक्त तीनों ऋचाओं का पाठ करने से प्रस्कण्व ऋषि का

चर्मरोग नष्ट हो गया—'''त्वग्दोषशान्तये प्रस्कण्वः सूर्यमस्तौत् तेन तृचेन स्तुतः सूर्यस्तमृषि रोगान्निरगमयत्—ऋ० सा० १।५०।११। भविष्यपुराण में साम्ब त्वचा-रोग से पीड़ित होने पर चन्द्रभागा के तट पर मूलस्थान (मुलतान) मे सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराते हैं। इसी पुराण का आदित्यहृदय-स्तोत्र अनेक रोगों—विशेषतः चर्मरोगों—का विनाशक कहा गया है। हेरोडोटस के अनुसार पारसीक जन जब चर्मरोग से पीडित होता था, तब उसे सूर्य का अपराधी माना जाता था। इस प्रकार इन्द्र को सूर्य मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मैकडोनेल, कीथ आदि अन्य पाश्चात्य विद्वान् इन्द्र को प्रथमतः वर्षा का और अन्ततः युद्ध का देवता मानते हैं। इनकी दृष्टि में वृत्र अवर्षण का प्रतीक है, जिसे नष्ट कर इन्द्र वर्षा की धाराओं को भूतल पर बहने के लिए मुक्त कर देता है। विद्वानों की दृष्टि मे मूलतः वह आकाशीय गर्जन का देवता है। मैकडोनेल का कथन है कि इन्द्र युद्धदेवता के रूप में विजेता आर्यों को भारतीय आदिवासियो पर विजय प्राप्त करने में सहायता देता है। वस्तुतः जिन शब्दों का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अनार्य अथवा आदिवासी है, अन्य विद्वान् उनका अर्थ असुर अथवा राक्षस करते हैं। यदि वह युद्धदेवता है तो निश्चय ही यज्ञीय धर्म में अनास्था रखने वालो को ही पराजित करने में अपने आराधकों को सहायता देने वाला कहा जाएगा।

इन्द्र मध्यस्थान के देवों में सर्वप्रमुख है। निघण्टु में इसकी गणना अन्तरिक्ष देवों में की गयी है और इसे अग्नि, वायु तथा सूर्य के त्रिवर्ग में वायु का प्रतिनिधि माना गया है। अन्य देवों की अपेक्षा इन्द्र की शारीरिक संरचना अधिक स्पष्ट है। इसके शिर, भुजा, हाथ और उदर का वर्णन मिलता है। सोम से भर जाने पर, इसके उदर की तुलना झील से की गयी है। इन्द्र को 'सुशिप्र' या 'शिप्री' (सुन्दर अधरों वाला अथवा सुन्दर जबड़ों वाला) कहा गया है। इन्द्र के केश और दाढ़ी हरितवर्ण के हैं। इन्द्र स्वेच्छा से रूप-परिवर्तन करने में समर्थ है।

इन्द्र के पिता द्यौस् हैं, जिन्हें इसने अपने पैरों से कुचल दिया। इसकी माता को गाय कहा गया है। इसने जन्म लेते ही समस्त देवों को अपने वीरकर्म से

आक्रान्त कर दिया। इसके पौरुष की महिमा से रोदसी सिहर उठी। इसके जन्म लेने पर पर्वत, आकाश और पृथिवी भय से प्रकम्पित हो गये।

इसका शस्त्र वज्र है। इस वज्र का निर्माण इसके लिए त्वष्टा ने किया था—त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष—ऋ० १।३२।२ अन्यत्र वज्र के निर्माण का श्रेय काव्य उशना को दिया गया है। साधारणतः वज्र आयस या धातुनिर्मित है। यह चतुष्कोणीय, शतकोणीय तथा सहस्र नोकों वाला है। वज्रधारक होने से वज्रभृत्, वज्रिवत्, वज्रदक्षिण, वज्रबाहु और वज्रहस्त विशेषणों से इन्द्र मण्डित हुआ है। कभी कभी इन्द्र धनुष तथा बाण भी धारण करता है। इसके बाण स्वर्णिम, शत नोकों वाले तथा हजारों पंखों से समन्वित हैं। इन्द्र अपने अंकुश के द्वारा धन देता है।

इन्द्र रथ पर आरोहण करता है जिसमें अश्व जुते रहते हैं। अश्वों की संख्या दो, सौ, हजार तथा ग्यारह सौ तक बतायी गयी है। अश्व द्रुत तथा सुन्दर हैं। इन्द्र के हाथ में स्वर्णिम कोडा रहता है। इसके रथ एवं अश्वों के निर्माण का श्रेय ऋभुओं को दिया जाता है।

इन्द्र सोमपान में अत्यन्त दक्ष है। सोमपान के लिए एक बार इसने सोम की चोरी भी की थी। इसकी माता ने जन्म के दिन से ही इसे सोम पिलाना प्रारम्भ कर दिया था। वृत्र-वध के समय इन्द्र ने तीन सोम-सरोवरों को पीकर सुखा दिया था। एक बार इसने सोम के तीस सरों का पान कर लिया था। सोमपान का इन्द्र इतना लोभी था कि उसके 'ऋजीष' (तलछट) तक को नहीं छोड़ता था। इन्द्र मधुमय दूध भी पीता था। इसके भोजन में वृषभों के मांस की भी गणना है। कभी एक बैल का, कभी बीस का, अथवा कभी सौ भैंसों का अथवा अग्नि द्वारा पकाये गये तीन सौ भैंसों का मांस खा जाने वाले के रूप में इसका वर्णन किया गया है।

इन्द्र को शचीपति कहा गया है। पिशेल के अनुसार शची इन्द्र की पत्नी का व्यक्तिवाचक नाम है। अन्य विद्वानों के अनुसार शची का अर्थ शक्ति है। पौराणिक जगत् शची को इन्द्र-पत्नी के रूप में उपस्थित करता है। निश्चय ही शचीपति विरुद इसी विकास का बीज है। एक सूक्त में इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी कही गयी हैं। इन्द्र के यमज भ्राता अग्नि कहे गये हैं। पूषा को भी इसका भाई बतलाया गया है।

अनेक स्थलो में इन्द्र और सूर्य को समीकृत किया गया है। इन्द्र एक स्थान पर कहता है कि एक समय हम मनु एवं सूर्य थे। इन्द्र को १०।८९।२ ऋ० में स्पष्ट रूप से सूर्य कहा गया है। ८।८२।४ में इन्द्र और सूर्य का इस प्रकार आवाहन किया गया है मानो दोनों व्यक्ति एक ही हैं। अन्यत्र २।३०।१ ऋ० में इन्द्र को सविता कहा गया है। सविता सूर्य का अन्यतम रूप है। पहले सूर्य और इन्द्र की अभेदपरकता का निर्देश किया जा चुका है।

इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्र का वध करना है। वृत्र ने जल को आवृत कर रखा था। मरुतों की सहायता से इन्द्र ने उसका वध किया। वृत्र कौन है इस विषय में अत्यन्त प्राचीन काल से मत-भेद चला आ रहा है। निरुक्तकार यास्क ने अपने समय के मतो का उल्लेख किया है। ऐतिहासिको के अनुसार वृत्र एक ऐतिहासिक नरेश था। इन्द्र वृत्र का संग्राम एक सत्य घटना थी। इसी का विकास हम श्रीमद्भागवत महापुराण (६ स्कन्ध, ९-१३ अध्याय) में पाते हैं। पौराणिक अनुश्रुतियाँ वृत्र को असुर मानने में एकमत हैं। यास्क के अनुसार वृत्र मेघ का प्रतीक है। आवरणार्थक वृञ् धातु से निष्पन्न वृत्र का शाब्दिक अर्थ आवरक या आच्छादक है। जल-वर्षण न करने वाले मेघो का प्रतीक है वृत्र। वृत्र को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता अक्षुण्ण रहती है। सूर्य का वर्षा के साथ जो सम्बन्ध है, उसे आज वैज्ञानिक जगत् ने भी सिद्ध कर दिया है।

वृत्रवध करने के अनन्तर इन्द्र ने रँभाती हुई धेनुओं की भाँति (वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमानाः) जल-धाराओ को समुद्र की ओर जाने के लिए उन्मुक्त कर दिया। इस कार्य को सम्पन्न करने के कारण इन्द्र को 'अप्सुजित्' तथा 'वृत्रहा' विरुद प्रदान किया गया। वृत्रहा विरुद का ऋग्वेद में ७० बार प्रयोग हुआ है। वृत्र को अहि कहा गया है। वृत्र के अन्य मित्रों में शम्बर, वर्चि, वल आदि का उल्लेख मिलता है। मूल रूप में यह वृत्र-वर्ग एक ही भाव-जगत् का प्रतीक है। इन्द्र ने चालीसवें वर्ष में (चत्वारिंश्यां शरदि) दानु के सोते हुए पुत्र को मार डाला। अहि के मरते ही सात सिन्धु बहने लगे। इस बली वृषभ ने आकाश की ओर बढ़ते हुए रौहिण को काट डाला। इन्द्र ने वल के

बाड़े से समस्त गायो मुक्त कर दिया (गा उदाजदपधा वलस्य)। गायो को अनेक विद्वानो ने रश्मि माना है। निघण्टु में गौ शब्द रश्मि का भी वाचक है। इन्द्र की गायो को पणि बन्दी बना लेते हैं (ऋ० १०।१०८) तब इन्द्र अपनी कुतिया सरमा द्वारा पता लगवा कर गायो को मुक्त करता है।

वृत्रवध आदि अनेक वीरकर्म करने के साथ-साथ इन्द्र ने चञ्चल पृथिवी को स्थिर कर दिया। चञ्चल पर्वतों को भी उसने अचल कर दिया। सम्भवतः पर्वतों के अचलीकरण के कारण ही आगे चलकर पौराणिक युग में इन्द्र को पक्षधर, पर्वतों का पंख काटने वाला कहा गया। अनुवर्ती संहिताओं में भी इसका उल्लेख मिलता है। विस्तृत अन्तरिक्ष को नापने के अनन्तर इन्द्र ने द्युलोक में थाँभ लगाया। उसने दासो (अवैदिको अथवा असुरों) को नीचा कर दिया। शत्रुओ का धन जीतकर अपने आराधकों को दिया। मन्त्रो के गायक और सोमाभिषवण करने वालों को वह प्रेरित करता है, सहायता देता है। युद्ध में स्थित सेनाएँ इन्द्र को सहायता के लिए जब पुकारती हैं तब वह सबको समेट लेता है। उसके अनुशासन मे गायें, गाँव, रथ और घोड़े हैं। वह सूर्य और उषा को जन्म देने वाला है और जलो का प्रेरक है। उसकी सहायता के बिना लोग युद्ध में विजय नही प्राप्त करते, अतएव उसे पुकारते हैं। वह पापी तथा अपूजको को अपने शरु से मार डालता है। दस मनुष्यों के दर्प को वह सहन करने में असमर्थ है।

अनेक कर्मों एवं प्रज्ञा का स्वामी होने के कारण इन्द्र शतक्रतु है। शत्रुओं का धन छीनकर वह अपने पूजको को देता है और स्वयं ऐश्वर्य का अधीश है, अतएव मघवन् विरुद से वह अनुभूषित है। वृत्र आदि के अनेक पुरों को नष्ट करने के कारण इन्द्र को पुरभिद् कहा जाता है। उसके भूरे रङ्ग के घोड़े हैं अतएव वह हरिवत् है। शक्तिसम्पन्नता में इन्द्र अद्वितीय है अतएव उसे शक्र एवं शचीपति कहा गया है। गायो को मुक्त करने के कारण उसे गोजित् तथा गोत्रभिद् विरुद मिले हैं।

रॉथ और ह्विटनी के मत से प्राचीन देवकुल के प्रमुख वरुण की महिमा शनैःशनैः कम होती गयी और इन्द्र का महत्त्व बढ़ता गया। दशम मण्डल में वरुण के लिए एक भी सूक्त का न होना तथा इन्द्र-सम्बद्ध ४९ सूक्तों की

स्थिति उपर्युक्त वक्तव्य पुष्टि करती है। बेनफे तथा ग्रील के अनुसार इन्द्र ने वेदो मे प्राचीन द्यौस् से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था।

अवेस्ता में यद्यपि इन्द्र के लिए ऐन्द्र नाम आता है, पर वह मात्र असुर है। इन्द्र के विरुद 'वृत्रहन्' के समान अवेस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' शब्द मिलता है, जो विजय के देवता का द्योतक है। इन्द्र की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, सम्भवतः इसका उद्भव 'इन्द्र' से हुआ हो।

विष्णु

सम्पूर्ण ऋग्वेद में विष्णु के स्तवन मे पाँच सूक्त हैं। इस देवता का नाम शताधिक बार प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि संख्या की दृष्टि से सूक्त अत्यल्प हैं तथापि महत्ता के विचार से विष्णु का स्थान महान् देवताओं में है। अनुवर्ती भारतीय साहित्य और संस्कृति में विष्णु भगवान् का साक्षात् विग्रह एवं परमेश्वर है। भक्ति-प्रस्थान में सर्वत्र यह महत् तत्त्व के रूप में गृहीत तथा अभिपूजित है। विष्णु के परवर्ती विकास के निखिल घटक ऋग्वेद तथा अनुवर्ती वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं।

विष्णु को युवक एवं विशाल शरीर वाला कहा गया है। इनका सर्वाधिक प्रमुख कार्य तीन पगो का निक्षेप (त्रि–वि–क्रम) है। बृहद्देवता में कहा गया है—

त्रीणि भान्ति रजांस्यस्य यत्पदानि नु तेजसा।
तेन मेधातिथिः प्राह विष्णुमेनं त्रिविक्रमम् ॥२।६४॥

इसके इस कार्य का अनेकशः उल्लेख किया गया है। 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण भी विष्णु के इसी कर्म को सिद्ध करते हैं। १।१५४।१ में उरुगाय का अत्यन्त उपयुक्त प्रयोग किया गया है। इसमें ऋषि देवता के मुख्य कर्मों को प्रख्यापित करने की इच्छा से सर्वप्रथम उसके क्रमणव्यापार की वर्णना करता है—यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः। इसने तीन डगों में पृथिवी अथवा पार्थिव स्थानो को नाप लिया—यः पार्थिवानि विममे रजांसि। इसके दो डग अथवा स्थल मानव के लिए गोचर हैं, पर तृतीय अथवा उच्चतम डग या स्थान मानव के लिए अगम्य है अथवा खगों की पहुँच से भी दूर है (१।१५५।५, ७।९९।२) विष्णु के उच्चतम पग को ज्ञानीजन गगनस्थ नेत्र की भाँति देखते हैं—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥
—ऋ० १।२२।२०

जिस स्थान पर पुण्यात्मा जन निवास करते हैं और जहाँ मधुमय उत्स है, वह विष्णु का आवास है (ऋ० १।१५४।५)। इस स्थान पर देव विहार करते हैं। यह उच्चतम पग तेजोमय हो नीचे की ओर प्रकाशित होता रहता है, जहाँ द्रुतगमना गायें रहती हैं (ऋ० १।१५४।६)। इस स्थान को प्राप्त करने की कामना प्रत्येक स्तोता के मन में रहती है। संसार का प्रत्येक प्राणी विष्णु के तीनो पगो की परिधि में जीवन्त है, और है मधु-भरा।

विष्णु के तीन पगो के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क से पहले से मतभेद चला आ रहा है। अनुवर्ती संहिताओ, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा शाकपूणि के अनुसार ब्रह्माण्ड के तीनो भागों—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक—का इन पगों से अभिव्यंजन हुआ है–पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः—निरु० १२।१९। इस मत का समर्थन बर्गेन्य तथा मैकदोनेल भी करते हैं। शाकपूणि को सम्भवतः पार्थिव अग्नि, वायुमण्डल में विद्युत् तथा द्युलोक में सूर्य का प्रकाश अभिप्रेत है। इसके विपरीत और्णवाभ के मत से इन पदो से प्रातः, मध्याह्न तथा सन्ध्या के सूर्य का बोध होता है। इस व्याख्या का अनुमोदन निरुक्त के टीकाकार दुर्ग, मैक्समूलर, हॉग, केगी, ह्विटनी, ड्यूसन तथा अन्य भारोपीय विद्वान् करते हैं।

ओल्देनबुर्ग के अनुसार विष्णु के चरित्र में सौर-तत्त्व का सर्वथा अभाव है। उनके अनुसार यह देवता केवल विस्तृत पादन्यास करता है और तीन पगो में किसी विशेष घटना के लक्षण नहीं हैं।

इसके विपरीत प्रायः यह सर्वसम्मत है कि विष्णु सूर्य का ही एक रूप है, जिसमें गतिशीलता की प्रखर अभिव्यक्ति है। विक्रम शब्द का प्रयोग सूर्य के लिए भी हुआ है। विष्णु अपनी गति की द्रुति के कारण एव, एवया तथा एवयावान् कहा गया है (ऋ० १।९०।५; १।१५६।१; २।३४।११, ७।४०।५, ८।२०।३)। १।१६१।७ में विष्णु की शक्तिमत्ता को अभिव्यक्त करने के लिए 'सहीयान्' विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'तवसस्तवीयान्'

भी इसी को संकेतित करता है। सविता के समान सूर्य भी पार्थिव स्थानो को नापता है। इस प्रसंग में सूर्य के साथ वरुण का स्थानों का नापना भी ध्यातव्य है। एक स्थान पर कहा गया है कि विष्णु अपने ९० अश्वों को उनके चार नामो के साथ एक घूमते पहिये के समान गतिशील कर देता है—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यती ऽ रवीविपत्।

—ऋ० १।१५५।६

इसमें अश्विनो से दिनो तथा नामों से ऋतुओं का संकेत माना जाता है। वस्तुतः इसमे ३६० दिनों के सौर वर्ष का संकेत मानना उचित होगा। अथर्ववेद (५।२६।७) में यह देवता उष्णता देने वाला कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण में विष्णु का छिन्न मस्तक सूर्य बन गया है—

विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतु।...तत्पतित्वा असावादित्योऽभवत्।

—१४।१।१।९-१०

उत्तरवर्ती साहित्य में विष्णु का चक्र सूर्य-चक्र है। विष्णु का वाहन पक्षिराज गरुड़ है। गरुड़ अग्नि के समान भास्वर कहा गया है। इस पक्षी के अन्य नाम गरुत्मत् तथा सुपर्ण हैं। ये दोनों शब्द ऋग्वेद में सूर्यवाचक हैं। शु० य० में सुपर्ण को वेदरूप कहा गया है। भारतीय परम्परा में सूर्य विद्याओं का स्वामी माना जाता है। आध्यर्व प्रस्थान मे प्रथित अथित अग्निचयन के समस्त उपकरण सौर हैं। संसार के प्राचीन कलाविधानों में सूर्य-चक्र के साथ उकेरा हुआ सुपर्ण प्राप्त होता है। विष्णु के कौस्तुभ मणि को कुछ सूर्य का प्रतीक मानते हैं। विष्णु के शिर कटने की चर्चा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भिन्न रीति से प्रस्तुत की गयी है। ऐतरेय ब्राह्मण में वह देवों के द्वार का रक्षक तथा देवों में श्रेष्ठ कहा गया है।

विष्णु ने त्रि-विक्रम क्यों किया इसके, हेतु का ऋग्वेद में अनेकशः उल्लेख मिलता है। विष्णु ने भयालु मानवता के लिए पार्थिव स्थानों को तीन बार नापा (ऋ० ६।४९।१३), लोकरक्षा के निमित्त पार्थिव स्थलों पर पाद-न्यास किया (१।१५५।४)। ऋग्वेद के इस कथानक में अनुवर्ती युग के विष्णु अवतार वामन का मूल मिलता है। इस कथा का विकास शतपथ-ब्राह्मण (१।२।५।५),

तैत्तिरीय संहिता (२।१।३।१), तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।६।१।५) में उपलब्ध होता है। यहाँ सर्वत्र विष्णु देवो के लिए असुर-अधिकृत भूमि को वामन रूप धारण कर लाता है।

विष्णु का एक विशेषण 'गिरिष्ठा' या 'गिरिक्षित्' है। विष्णु को इन्द्र के साथ 'गिरि-सानु' पर खड़ा हुआ वर्णित किया गया। तैत्तिरीय संहिता में इसी से विष्णु को पर्वतो का अधिपति कहा गया है (३।४।५।१)। सूर्य का उदय-स्थल बहुत दूर होने के कारण कदाचित् पर्वत स्वीकारा गया है। भारतीय अनुश्रुति सूर्य को उदयाचल से आता हुआ मानती है। इस प्रसंग में इन्द्र ने पर्वतों को स्थिर किया था, इसे भी नहीं भूलना चाहिए—यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। खोदा के अनुसार 'गिरिक्षित्' विशेषण का सम्बन्ध न तो देवता के परम पद से है और न ही द्युलोक में निवास से अपितु पर्वतो से उसका सम्पर्क इसलिए है कि वे जल के अधिष्ठान हैं, लाभकर तरुओं तथा लताओ के आधार हैं (आ० अ० वि०, अध्याय ८)। सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। अन्यत्र गिरिजा विशेषण भी प्राप्त होता है।

इन्द्र के साथ विष्णु की मैत्री का उल्लेख किया गया है। इन्द्र का सर्वाधिक प्रमुख कार्य वृत्र का वध करना है। वृत्र-संहार के समय इन्द्र विष्णु को मित्र कहकर पुकारता है और उससे विस्तृत पाद-प्रक्षेप करने के लिए अनुरोध करता है—अब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व (४।१८।११)। विष्णु को अपने साथ लेकर इन्द्र ने वृत्रवध किया। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वृत्र पर वज्र-प्रहार के समय इन्द्र के पीछे-पीछे विष्णु भी है। इन्द्र के साथ, मित्र होने के कारण, विष्णु को भी सोम-पान करने का अवसर मिला है। इन्द्र के लिए विष्णु ने सौ भैंसो का पाचन किया। एक स्थान पर विष्णु गीतों द्वारा इन्द्र की प्रशंसा करता है। इन्द्र के साथ मित्रता होने के कारण इन्द्र मरुतों का भी मित्र है। ५।८७ सूक्त में विष्णु एवं मरुद्गण का एक साथ आवाहन किया गया है। सम्भवतः विष्णु के राम-अवतार में इसीलिए हनुमान सहायक हैं और पौराणिक परम्परा में मरुत्पुत्र स्वीकारे गये हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु एवं यज्ञ को समीकृत किया गया है। शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में विष्णु पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में पाद-प्रक्षेप करने

वाला वर्णित किया गया है। यागों में 'विष्णुक्रम' अनुष्ठान के द्वारा यजमान विष्णु के इसी कर्म का अनुकरण कर उसके परम पद को उपलब्ध करना चाहता है। विष्णु का उत्तम पद द्युलोक में जाकर समाप्त होता है, यही सूर्य है। शतपथ का समग्र 'मण्डल ब्राह्मण' सूर्य एवं विष्णु की अभेदकता का चरम निदर्शन है।

ऋग्वेद में विष्णु के अनुवर्ती वाराह अवतार का मूल देखा जा सकता है। इन्द्र की इच्छा के अनुसार विष्णु वाराह की सौ भैसें चुरा लेता है। काठक-संहिता में यज्ञरूपी विष्णु देवों के यज्ञ के लिए वाराह को उठा ले आता है। यह कथा चरक ब्राह्मण (८।६६।१० ऋ० में सायण द्वारा उद्धृत) में भी मिलती है। यही वाराह शतपथ (१४।१२।११) में जल के भीतर से पृथिवी को उठा ले आता है। यहाँ इसका नाम 'एमूष' है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।३।५) में यह कथा परिष्कृत होकर वर्णित है।

मत्स्य और कश्यप (या कूर्म) अवतार के संकेत भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। शतपथ में जो मत्स्य मनु की प्रलय के समय रक्षा करता है उसे अन्यत्र प्रजापति कहा गया है। प्रजापति सूर्य का विकसित रूप है अतएव वह विष्णु है। शतपथ में सृष्टि करने वाले प्रजापति को कूर्म कहा गया है (यदकरोत् तस्मात् कूर्मः) और तैत्तिरीय आरण्यक में भी वह कश्यप है। कश्यप सूर्य है। यही कश्यप पौराणिक युग के प्रजापति से सम्बद्ध है। प्रजापति, सूर्य, कश्यप और विष्णु एक ही हैं।

कृष्ण के गोप रूप का प्रारम्भ ऋग्वेद में मिल जाता है। इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है कि विष्णु का निवास उच्चतम स्थान में है। विष्णु के स्थान में बड़ी सींगोंवाली गायें जाती हैं, इसका संकेत किया जा चुका है। अन्य पुराकथाओं में भी सूर्य और गाय का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है (देखिए इसी संग्रह का पृष्ठ ४५—गावो भूरिश्रृङ्गाः पर टिप्पणी)।

विष्णु का एक विरुद है 'सुमज्जानि' (१।१५६।२) जिसका अर्थ माधव तथा सायण के अनुसार—'जिसके साथ पत्नियाँ हैं'—है। ३।५४।१४ में विष्णु अनेक स्त्रियों वाले कहे गये हैं इस अर्थ की पुष्टि ७।३६।९; १००।४; १०।१७४।१ से भी होती है। परवर्ती युग में कृष्ण और गोपियों की कथा उनकी अनेक सहस्र रानियों का होना, इसी भावना का विकसित रूप है।

विष्णु सर्वत्र रक्षक, उपकारी, उदार, दयालु कहे गये है। प्रेरक विष्णु ही पृथिवी, द्युलोक तथा निखिल प्राणियों को धारण करने मे समर्थ है। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'; एवं 'एकः सूर्यः विश्वमनुप्रभूतः' के परिसर में विष्णु में उपर्युक्त गुणों का आधान युक्तिसङ्गत ही है। एक अन्य स्थान पर सूर्य को इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, अग्नि, यम एवं मातरिश्वा कहा गया है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

—१।१६४।४६

अनुवर्ती विष्णु इन सभी देवताओ का अधिष्ठान है।

विश्वेदेवा

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋषि अनेक देवताओं का स्तवन करते हैं। सूक्तो में स्तुत प्रत्येक देवता सर्वशक्तिमान् कहा गया है। प्रत्येक देवता आत्म-परिवेश मे स्वतन्त्र है। देवताओं में प्रायः सभी प्रसन्न होने पर अपने आराधक की रक्षा करने में समर्थ हैं तथा क्रुद्ध होने पर विनाश करने में भी। देवताओ की इस प्रकार की परिस्थिति को मैक्समूलर 'हेनोथीज्म' या 'केनोथीज्म' कहते हैं।

मैक्समूलर की यह विचार-पद्धति तभी स्वीकारी जाती, जब यह प्रमाण उपलब्ध होता कि प्रत्येक वंश का अपना एक अलग देवता है, जो केवल उसका रक्षण-संवर्धन करता है। वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत है। वंशमण्डलों का आन्तर परिसर व्यक्त करता है कि ऋषिकुल सभी देवताओं में समान भाव से श्रद्धा रखता है। ऋषियों ने ऐसे सूक्तों की रचना की है, जिनमें सभी देवताओं को समान रूप में आवाहित किया गया है। युग्म देवताओं के साथ-साथ गणदेवता भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें मरुद्गण, रुद्रगण, आदित्यगण तथा वसुगण प्रमुख हैं। ऋग्वेदीय ऋषियों ने समस्त देवों के समूह को 'विश्वेदेवाः' कहा है।

विश्वेदेवों का याग-प्रस्थान में महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न अवसरों पर उनकी आराधना का विधान उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के ४० सूक्तों में विश्वेदेवों का स्तवन किया गया है। इन सूक्तों में प्रायः सभी देवों, यहाँ तक

कि लघु देवो की भी, स्थिति क्रम के अनुसार ही है। विश्वेदेवों को एक स्थान पर सायण ने देवविशेष माना है (ऋ० १।३।७)।

मैकदोनेल विश्वेदेवों को एक काल्पनिक समूह मानते हैं। उनके अनुसार इस प्रकार के समूह की आकल्पना का मात्र प्रयोजन था समस्त देवताओ को प्रतिनिधित्व प्रदान करना। यह मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। विश्वेदेवो की भावना की भूमिका में जहाँ भारतीय आर्यों की संघात्मक भावना है, वहीं सामाजिक तथा सांस्कृतिक ऐक्य की विचारणा भी स्थित है। वसुओं एवं आदित्यों जैसे देवसमूह के साथ विश्वेदेवों का आवाहन (२।३।४) भी इसकी पुष्टि करता है।

विश्वेदेव-सूक्तों में अग्नि, इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, पूषा, भग, वरुण, सविता, विष्णु, दक्ष, अर्यमा, त्वष्टा, सोम, द्यावापृथिवी, चन्द्रमा, मित्रावरुणा, इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणा, इन्द्रापूषणा, इन्द्राविष्णू, इन्द्रामरुत्, आदित्यगण, रुद्रगण, वसुगण, मरुद्गण, पृथ्वी, सिन्धु, सरस्वती, पर्जन्य, पृश्नि, गायें, दिशाएँ, क्षेत्रपति, धर्ता, आप्, समुद्र, अपांनपात्, तार्क्ष्य, अहिर्बुध्न्य, अजएकपाद्, बृहद्दिवा देवी आदि के नाम मिलते हैं। अहिर्बुध्न्य का नाम तो केवल इन्हीं सूक्तों में मिलता है। जितने गुण देवताओं में प्राप्य हैं वे सभी विश्वेदेवों में भी हैं।

प्रजापति

ऋग्वेद के अनुवर्ती युग में जिन अमूर्त देवो की कल्पना की गयी है, उनमें प्रजापति का प्रमुख स्थान है। प्रजापति का मानवीकृत रूप हमें नहीं उपलब्ध है। इस देवता के विकास को यथोचित रीति से अवबुद्ध करने के निमित्त उस आधारभूमि को देखना अनिवार्य होगा, जिस पर वैदिक आर्यों को अमूर्त देवता का अवतरण करना पड़ा।

ऋग्वेद के समस्त देवता सर्वशक्तिमान् वर्णित किये गये हैं। तात्कालिक मानव-मन में इस शक्तिमत्ता के प्रति सन्देह उठने लगे थे। शतक्रतु इन्द्र के अस्तित्व को भी नकारने वाले लोग थे (२।१२।५)। अनेकत्र देवताओं के प्रति प्रकटित सन्देह अत्यन्त स्पष्ट है (५।३३; ५। ३४; ६।१८। ३-४; ८।१०० । १)। इस परिस्थिति में हमें कुछ ऋषि सकल देवताओं के मूल कारण के अन्वेषण में तत्पर दृष्टिगत होते हैं। कहीं कहीं अनेक देवों का सम्बन्ध

सर्वश्रेष्ठ देवता से भी स्थापित किया गया है । ऋग्वेद १०-३७ में सत्य को ही निखिल विश्व का आधार माना गया है । यद्यपि ऋत और सत्य में सूक्ष्म भेद है तथापि यहाँ उस ऋत के अर्थ में ही सत्य प्रयोजित है, जिनके बिना कुछ भी असम्भव है । वैदिक ऋषि इस परिवेश में शनै-शनैः विभिन्न देवताओं की आराधना से सर्वोत्तम देवता की ओर अग्रसर हुआ । फलस्वरूप प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ नामक अमूर्त देवता का स्तवन प्रारम्भ हुआ । इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि धार्मिक जगत् को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिसर से विच्छिन्न कर नहीं देखा जा सकता । इस दृष्टि से प्रजापति का मूल वैदिक गण की सांस्कृतिक एकता तथा उसके प्रधान में मिल जाता है ।

प्रजापति की अवधारणा के स्थिरीकरण के प्रसङ्ग में यह प्रश्न सहज है कि देवतामण्डल का वह कौन-सा देवता है, जिसे प्रजापति के 'कैनवस' से उरेहा गया है ? विद्वानों का अभिमत है कि सूर्य ही विकासक्रम में प्रजापति बना गया । प्रजापति शब्द में प्रजनन एवं पालन का अर्थ-समवाय असन्दिग्ध है । उर्वरता का सर्वाधिक सम्बन्ध सौर देवताओं से है । प्रजापति विरुद सर्वप्रथम सविता(४।५३।२) के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसी सूक्त में सविता स्थावर-जङ्गम को वशंवद करने वाला कहा गया है—निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी—(४।५३।६) । प्रजापति का एक नाम हिरण्यगर्भ भी है । सविता के हिरण्याक्ष, हिरण्यपाणि, हिरण्यहस्त, हिरण्यजिह्व आदि विरुद इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

जागतिक सृष्टि के प्रसङ्ग में सूर्य को सर्वप्रमुख उत्पादक स्वीकारा जाता है । सूर्य सकल स्थावर एवं जंगम-जगत् का आत्मा है—सूर्य आत्मा जगतस्त-स्थुषश्च (ऋ० १।११५।१; वा० सं० ७।४२; १३।४६; अथर्व० १३।२।३५; २०।१०७।१४) । अकेला सूर्य ही समग्र विश्व में व्याप्त है—एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः—(ऋ० ८।५८।२) । सूर्य को कई स्थानों पर अनेक नामों से पुकारा गया है (१।१६४।४६; १०।११४ । ५, बालखिल्य १०।२) । अन्तरिक्ष के शून्य स्थानों को सूर्य नाप लेता है, और सूर्य पर आधृत हो सूर्यमण्डल प्रकाशित होता है (१०।१२१) । इस प्रसङ्ग में सौर देवता विष्णु के द्वारा पार्थिव लोगों का नाप लेना भी ध्यातव्य है ।

सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल मात्र था, जिसमें सौवर्ण अण्डा इतस्ततः तैर रहा था। इस वैदिक पुराकथा को हम—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे—में स्पष्टतः परिलक्षित पाते हैं। अनेक भारतीय आदिवासियों की सृष्टिकथाओं में इस सुनहरे अण्डे का वर्णन है। इस प्रकार की कथा मिस्री धर्म में भी है। इस प्रकार अनेक साक्ष्यो के परिसर में यह सिद्ध होता है कि सूर्य देवता को ही वैदिक ऋषियों की मेधा ने सर्वोच्च देव प्रजापति के स्थान पर स्थिर किया है (इस संग्रह में हिरण्यगर्भ पर टिप्पणी भी देखिए, ८१)।

१०।१२१ सूक्त भी 'क' सर्वनाम द्वारा निरन्तर सर्वोच्च देवता के अन्वेषण में तत्पर है। अन्तिम ऋचा में प्रजापति को परम देवता के रूप में अधिष्ठित कर जिज्ञासा का अवसान किया गया है। यह प्रजापति सृष्टि के प्रथम प्रभात में उत्पन्न हुआ और यही आकाश, जल एवं जीवन्त प्राणियो का स्रष्टा है। यह प्रजापति शरीर तथा बल का दाता है, इसके अनुशासन में सभी देव एवं प्राणी रहते हैं। अमृत तथा मृत्यु इसी की छाया है। गतिशील तथा श्वास लेने वाले प्राणियों का प्रजापति अकेला ही राजा है। इसी ने द्युलोक तथा पृथ्वीलोक को धारण कर रखा है और दृढ़ बनाया है। देवताओं में एकमात्र देव प्रजापति है। सकल चर-अचर इसी महान् देवता में अनुविद्ध है।

अन्यत्र प्रजापति का आवाहन सन्तान-प्राप्ति के निमित्त किया गया है। विष्णु, त्वष्टा आदि के साथ सन्तति के लिए इनकी स्तुति की गयी है। अथर्ववेद में प्रजापति का आवाहन प्रायः प्रजनन तथा जीवित प्राणियों की रक्षा के लिए किया गया है।

अथर्ववेद, वाजसनेयिसंहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो में प्रजापति को सर्वोच्च देवता मान लिया गया है। ब्राह्मणों में इन्हें देवो का पिता कहा गया है। स्थित्यन्तर में प्रजापति ब्रह्मा के साथ समीकृत कर दिया गया है। शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण में स्रष्टा देवता विश्वकर्मा को प्रजापति से अभिन्न बताया गया है।

वाक्

दशम मण्डल में वाक् देवी से सम्बद्ध मात्र दो सूक्त (७१,१२५) उपलब्ध होते हैं। निघण्टु (५।५) में वाक् अन्तरिक्ष स्थानीय देवों में परिगणित हुई

है। नैरुक्त प्रस्थान में वाक् के मूर्तीकरण का मूल माध्यमिका वाणी में स्थिर किया गया है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार अम्भृण ऋषि वाक् के पिता हैं, किन्तु अन्यत्र कहीं इसका प्रमाण नहीं मिलता। शतपथ-ब्राह्मण में अन्धकार को दूर भगाने वाले अत्रि नामक पुरोहित को वाक् का पुत्र कहा गया है (१।४।५।१३)। इसी ब्राह्मण में अन्यत्र अत्रि के साथ वाक् का समीकरण भी दृष्टिगत होता है (१४।५।२।५)। शतपथ (३।९।१।७) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (३।१।१०) में वाक् को सरस्वती देवी से अभिन्न कहा गया है। गंधर्वों के बीच निवास करने वाले सोम को लाने वाली वाक् देवी है। (ऐ० ब्रा० १।२७, तै० सं० ६।१।६।५, मैत्रायणी संहिता ६।१।६।५)। निघण्टु में वाक् और अदिति को एक माना गया है।

दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त में वाक् महान् शक्ति के रूप में वर्णित की गयी है। वाक् देवी ब्रह्म की उर्वरा शक्ति के रूप में चित्रित है। वह सकल देवताओं को प्रेरणा प्रदान करती है। देवता अपने कर्त्तव्य का पालन इसी की सहायता से करते हैं। रुद्रो, वसुओं, आदित्यों की गतिशीलता वाक् के कारण है। मित्रावरुणा, इन्द्राग्नी तथा दोनों अश्विनो का आधार वही है। यजमानों को द्रविण की उपलब्धि वही कराती है। राष्ट्री वाक् विदुषी और चराचर के अणु-परमाणु में व्याप्त है। उसे देवों ने अनेकत्र स्थापित किया है (तामभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा, १०।७१, तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा १०।१२५)। वाक् जिस पर प्रसन्न होती है उसे वीर, स्तोता और मेधावी बना देती है। वाक् ब्रह्मद्वेषियों को मारने के लिए रुद्र का धनुष तानती है। द्युलोक और पृथिवीलोक में ही नहीं, अपितु वह सर्वत्र अधिष्ठित है। समस्त विश्व का सृजन कर वाक् वात के समान सर्वत्र संचरण करती है।

अनुवर्ती युग की दार्शनिक धारा के अवगमन के निमित्त यह वाक्-स्तवन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शाक्त-धर्म में यही सूक्त देवीसूक्त के नाम से प्रख्यात है।

पुरुष

पुरुषसूक्त कृष्ण यजुर्वेद को छोड़कर प्रायः सभी संहिताओं में मिलता है। सामवेद में (१।१३) इसकी मात्र पाँच ऋचाएँ सपरिवर्तन गृहीत हुई हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद मे (३१ अध्याय) सम्पूर्ण सूक्त मिलता है तथा अन्त में ६ नवीन ऋचाएँ जोड़ी गयी हैं, जिसे 'उत्तरनारायण' कहते हैं। शुक्ल-यजुर्वेद में भी यत्र-तत्र परिवर्तन किया गया है। ऋचाओं का पौर्वापर्य भी है। अथर्ववेद (१९।६) में भी यह सूक्त कुछ परिवर्तनो के साथ उपलब्ध है। तैत्तिरीय आरण्यक (३।१२) में पुरुषसूक्त की १६ ऋचाओ के अन्त में दो त्रिष्टुब् अतिरिक्त जोड़े गये हैं।

प्रो० वी० के० राजवाड़े तथा उनका अनुसरण करने वाले अन्य विद्वान् इस सूक्त पर आधृत हो वस्तुतः पुरुषमेध की कल्पना करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्रों में पुरुषमेध का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध शुनःशेप का उपाख्यान भी पुरुषमेध को संकेतित करता है। विद्वानो का अभिमत है कि ऋग्वेद के युग में भी पुरुषमेध नहीं होता था। ब्राह्मणो तथा सूत्रो में वर्णित पुरुषमेध शुद्ध रूपक है। वैदिक ऋषि प्रतिरूपण प्रस्थान पर आधृत हो अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का व्याख्यान करता है। शुनःशेप के आख्यान को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। यज्ञ-परम्परा के सूत्र अत्यन्त प्राचीन काल में भी मिलते है। यहूदी तथा भारतीय आर्यों में यज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था थी। बाइबिल के अनुसार देवता ने अब्राहम को अपने पुत्र आइज़क को समर्पित करने के लिए कहा। इस कथा के रहने पर भी यहूदी परम्पराओं में नरमेध की प्रथा के प्रमाण नही मिलते। वस्तुतः इस प्रकार की कथाओ का मात्र संकेत है; देवता के प्रति अपनी सर्वाधिक प्रिय वस्तु का भी समर्पण कर देना।

पुरुषसूक्त में सर्वेश्वरवाद अथवा एकेश्वरवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की गयी है। यज्ञो की प्रधानता के कारण धार्मिक जगत् में उन्हीं से सम्बद्ध रूपक पर ऋषियों को आधृत होना पड़ा। ऋषि निखिल ब्रह्माण्ड को यज्ञमय मानता है अतएव सृष्टिकर्म भी यज्ञ है। विराट् पुरुष यज्ञ में अपने को अर्पित कर अनेक रूपों में प्रकट होता है—एकोऽहं बहु स्याम। स्रष्टा विराट् पुरुष का तथा उसके अंगों का ही इस सूक्त में वर्णन किया गया है।

विराट् पुरुष के चतुर्थ अंश से सृष्टि होती है, तथा उसका अवशिष्ट अंश अमृतरूप में आकाश में स्थित है। सर्वप्रथम विराट् पुरुष ही सृष्ट हुआ। पुरुष एक सर्वहुत यज्ञ की हवि है। इस यज्ञ में देव पुरुष को विभक्त करते

हैं। तदनन्तर उसके अंशो से ही पशु, वेद, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, पृथिवी आदि की रचना होती है। अन्त मे यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म बताया गया है।

यज्ञ तथा अन्य पदार्थों को समीकृत करने की प्रवृत्ति वैदिक विचारो के परिसर में सर्वत्र देखी जा सकती है (बृहदा० उ०, छान्दोग्योप० ३।१६-१७; तैत्तिरीयोपनिषद् १।७।"; मुण्डकोपनिषद् ६।२)। निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त पुरुष का वर्णन कठोपनिषद् (३।२), श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।८) तथा छान्दोग्योपनिषद् (३।१९।१) में मिलता है।

शु० य० के उत्तरनारायण में, जो ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त के अन्त में जोड़ा गया है, सूर्य के प्रजापति रूप का परमेश्वर नारायण के रूप में चरम विकास है। इस विचारधारा से भागवत एवं वैष्णवधर्म अनुप्राणित हैं। सूर्यमण्डल में जिस प्रकाश का परिदर्शन होता है उसका कारण उसमें स्थित आदित्यवर्ण महान् पुरुष है। इसे जान लेने पर अन्धकार स्थित नहीं रह सकता। इसका सम्यग्ज्ञान मनुष्यों को अमृतत्व की उपलब्धि कराता है। अयन (गति, आश्रय) का दूसरा मार्ग है ही नहीं। प्रजा का पालक यह अकेला ही गर्भरूप में अनेक बनकर उत्पन्न होता है (बहुधा विजायते)। इसी में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है (तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा, तु० सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च, एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः)। जो इसे जान लेता है समस्त देव उसके वशंवद हो जाते हैं। श्री और लक्ष्मी इसकी पत्नियाँ हैं, दिन और रात इसके पार्श्वभाग हैं, निखिल प्रकाशयुक्त पदार्थ इसके रूप घटक हैं और अश्विनौ इसके मुख हैं। इस सौर पुरुष का बोध मनुष्य को विश्वात्मा, सर्वात्मा बना देता है।

मन (शिवसंकल्पसूक्त)

मानस-शक्ति की अनुपमेयता एवं विलक्षणता का इस सूक्त में वर्णन किया गया है। मन के द्वारा ही अप्रमेय एवं ध्रुव-सत्य का बोध सम्भव है—'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्'। जागरण-काल में भी मन दूर चला जाता है और स्वप्नसमय में लौट आता है। यह दूरगामी तथा प्रकाशमय पदार्थों को भी प्रकाशित करने वाला है। कर्मनिष्ठ मेधावी मन द्वारा ही यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त होते हैं। मनुष्यों को अपने मन का यजन करना चाहिए। प्रजाओं में स्थित मानसिक

रहस्य का ज्ञान दुष्कर है। इस मन को ही प्रकृष्ट ज्ञान, चेतना एवं धारण के नाम से व्यपदिष्ट किया जाता है। मानव की यही ज्योति है, आन्तर अमृतत्व है। इसके बिना किसी कर्म में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। वर्तमान, भूत, भविष्यत्—तीनों काल इसकी सीमा मे हैं। यही सात होता वाले यज्ञ का वितन्वन करता है। इस मन में ही ऋचाएँ, साम और यजु संप्रतिष्ठ हैं। विश्व की चित् शक्ति मन में अनुस्यूत है। जिस प्रकार निपुण सारथि लगाम के द्वारा घोड़ो को नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार मन समग्र मनुष्यो को परिचालित करता है। हृदय में स्थित इस मन की गति के साथ किसी अन्य गतिशील पदार्थ की तुलना नहीं की जा सकती। अतएव मन को शिवसंकल्पों से पूरित करना चाहिए। वैदिक ऋषि मानसिक शिवता के लिए इच्छुक थे, इसके अभाव में जीवन के व्यावहारिक कार्यों में शुचिता तथा शिवता की उपलब्धि असम्भव है।

शिवसंकल्पसूक्त ऋग्वेद के खिल भाग (४।११) में उपलब्ध होता है, जिसमें १३ ऋचाएँ हैं। इसमें शु० य० की ये छह ऋचाएँ भी हैं। खिलानुक्रमणी में इस सूक्त को शिवसंकल्पसूक्त कहा गया है। इस खिल के अन्त में १४ ऋचाएँ अनुवर्ती काल में और जोड़ी गयी हैं।

अनुवर्ती साहित्य में शिवसंकल्पसूक्त की बड़ी प्रशंसा की गयी है। अग्निपुराण (२६०।७४) में इस सूक्त के जप से मन के समाधान का विधान है—'शिवसंकल्पजापेन समाधिं मनसो लभेत्', 'येनेदमिति जप्त्वा समाधिं विन्दते परम्' (२५९।९३)। अग्निपुराण का यह कथन ऋग्विधान पर आधृत है—

येनेदमिति वै नित्यं जपेत नियतव्रतः।
समाधिं मनसस्तेन विन्दते नैव मुह्यति ॥
(ऋ० वि० ४।१०४–१०५)।

मनुस्मृति (११।२५१) में इस सूक्त को पाप दूर करने वाला कहा गया है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि श्राद्ध के समय शिवसंकल्पसूक्त के पाठ का निर्देश करते हैं—'खिलानि श्रीसूक्तशिवसंकल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान् श्रावयेत्' (मनु० ३।२३२)।

परिशेष ४

वैदिक भाषा

०·०—इंदोयोरोपीय भाषा-कुल में भारतीय-ईरानी शाखा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें इंदोयोरोपीय भाषा-कुल का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य सुरक्षित है। भारतीय-ईरानी शाखा तीन उपशाखाओं मे विभक्त की जाती है—

(१) भारतीय आर्य शाखा,
(२) ईरानी शाखा,
(३) दर्दी शाखा।

भारतीय आर्य भाषा ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार तीन अवस्थाओं में दृष्टिगत होती है :—(१) प्राचीन आर्य भाषाकाल, (२) मध्यभारतीय भाषाकाल और (३) आधुनिक आर्य भाषाकाल। प्राचीन आर्य भाषाकाल वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा विभाषाओं के अध्ययन का विषय है। इस काल की सर्वाधिक प्राचीन भाषा वैदिक संस्कृत है। वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक एवं उपनिषद् वैदिक संस्कृत के अन्तर्गत उपलब्ध साहित्य है। भाषाविज्ञानियों के अनुसार इस भाषा का काल २००० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक है।

०·१—भारतीय आर्यों की भाषा में निश्चय ही कुछ भिन्नताएँ थीं, किन्तु ऋग्वेदसंहिता के सूक्तों की रचना जिस भाषा में हुई है, वह किसी साहित्यिक भाषा का स्वीकृत रूप है, जिसका विकास हो चुका था। उपलब्ध वैदिक साहित्य का वह प्राचीनतम रूप आज भी सुरक्षित है, इसमें कहीं एक मात्रा या अनुस्वार का भी परिवर्तन नहीं हुआ है। इस सुरक्षा का प्रमुख हेतु भारतीय श्रुतिपरम्परा है। ऋषिवंश सूक्तो को श्रवण कर उसे मुखस्थ रखता था। आज भी भारतीय परम्परा मुखस्थ विद्या की प्रशंसक है।

०·२—कालक्रम से जब बोल-चाल की भाषा और सूक्तों की भाषा में पार्थक्य आया, तब सूक्तों की भाषा बोध्य नहीं रह सकी होगी। इस परिस्थिति में संहिताओं के प्राचीन रूप को सुरक्षित रखने के लिए उपायों का अन्वेषण आवश्यक हो उठा और तब संहिताओं के प्रत्येक पद को सन्धिविहीन कर

'पद-पाठ' बनाया गया। 'संहितापाठ' से 'पद-पाठ', 'पद-पाठ' से 'संहितापाठ' तथा 'पदपाठ' से 'क्रमपाठ' बनाने के लिए नियमो का निर्धारण किया गया। इस प्रकार वेद की विभिन्न शाखाओ के लिए 'प्रातिशाख्यों' की रचना हुई। प्रातिशाख्यो में अपनी-अपनी शाखा की दृष्टि से वर्णविचार, उच्चारणविधि, पदपाठ से संहितापाठ बनाने के नियम आदि विषयो पर सूक्ष्म विचार मिलता है। 'पदपाठो' तथा 'प्रातिशाख्यो' के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि इनके रचना-काल में उपलब्ध संहिता का रूप आज हमें उसी प्रकार में प्राप्त है।

०·३—पदपाद और क्रमपाठ के अतिरिक्त अन्य पाठो के द्वारा भी संहिताओं के रूप को संरक्षित करने का उपाय वैदिक विद्वानो ने किया। ऋषियों ने इसे 'विकृति' कहा है। 'विकृतियाँ' आठ प्रकार की होती हैं—

(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ, (८) घन।

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

संहितापाठ से पदपाठ में आने पर पद के स्वरों में परिवर्तन हो जाता है। संहितापाठ में पदों की सन्धि के कारण जिन स्वरों में परिवर्तन हो जाता है वे पदपाठ में अपने मूल रूप में आ जाते हैं। एक अर्धर्च के द्वारा यहाँ कुछ पाठ-रूपों को उदाहृत करना उचित प्रतीत होता है।

संहितापाठ—मन्त्रों का प्रकृतपाठ।
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
पदपाठ—संधिरहित पदों का पाठ।
पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भव्यम्॥
क्रमपाठ—इसमें दो पदों का क्रम से पाठ होता है।
पुरुष एव। एव इदम्। इदम् सर्वम्। सर्वम् यत्। यत् भूतम्।
भूतम् यत्। यत् च। च भव्यम्। भव्यम् इति भव्यम्॥
जटापाठ—क्रमपाठ यहाँ अनुलोम तथा विलोम रीति से तीन बार पढ़ा जाता है।

पुरुषः एव । एव पुरुषः । पुरुषः एव ।
एव इदम् । इदम् एव । एव इदम् ।
इदम् सर्वम् । सर्वम् इदम् । इदम् सर्वम् ।
सर्वम् यत् । यत् सर्वम् । सर्वम् यत् ।
यत् भूतम् । भूतम् यत् । यत् भूतम् ।
यत् च । च यत् । यत् च ।
भूतम् यत् । यत् भूतम् । भूतम् यत् ।
च भव्यम् । भव्यम् च । च भव्यम् ॥

शिखापाठ—जटापाठ मे अगला एक पद संयुक्त कर लिया जाता है—(पदोत्तरं जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते) ।

पुरुषः एव । एव पुरुषः । पुरुषः एव–इदम् ।
एव इदम् । इदम् एव । एव इदम्–सर्वम् ।
इदम् सर्वम् । सर्वम् इदम् । इदम् सर्वम्–यत् ।
सर्वम् यत् । यत् सर्वम । सर्वम् यत्–भूतम् ।
यत् भूतम् । भूतम् यत् । यत् भूतम्–यत् ।
भूतम् यत् । यत् भूतम् । भूतम् यत्—च् ।
यत् च । च यत् । यत् च–भव्यम् ।
च भव्यम् । भव्यम् च । च भव्यम्.... ॥

घनपाठ—इसमें अनुलोम तथा विलोम क्रम से पदों को अनेकशः दुहराया जाता है। घन के चार प्रकार होते हैं। इसके एक भेद में शिखा के पश्चात् पदों को पुनः उलट कर पढ़ा जाता है—"शिखामुक्त्वा विपर्ययस्य तत् पदानि पुनः पठेत् । अयं घन इति प्रोक्तः" ।

पुरुषः एव । एव पुरुषः । पुरुषः एव–इदम् ।
इदम् एव पुरुषः । पुरुषः एव इदम् ॥

एव इदम् । इदम् एव । एव इदम्—सर्वम् ।
सर्वम् इदम् एव । एव इदम् सर्वम् ॥

इ॒दम् स॒र्व॑म् । स॒र्व॑म् इ॒दम् । इ॒दम् स॒र्व॑म्—यत् ।
यत् स॒र्व॑म् इ॒दम् । इ॒दम् स॒र्व॑म् यत् ॥
स॒र्व॑म् यत् । यत् स॒र्व॑म् । स॒र्व॑म् यत्—भूतम् ।
भू॒तम् यत् स॒र्व॑म् । स॒र्व॑म् यत् भू॒तम् ॥
यत् भू॒तम् । भू॒तम् यत् । यत् भू॒तम्—यत् ।
यत् भू॒तम् यत् । यत् भूतम् यत् ॥
भूतम् यत् । यत् भूतम् । भूतम् यत्—च॒ ।
च॒ यत् भू॒तम् । भू॒तम् यत् च ॥
यत् च॒ । च॒ यत् । यत् च॒—भव्य॑म् ।
भव्य॑म् च॒ यत् । यत् च॒ भव्य॑म्—··· ॥

विस्तार के भय से यहाँ रेखा आदि पाठों का उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि इन पाठों को स्मरण रखना अत्यन्त दुष्कर है, तथापि इन्हीं के कारण संहिताएँ आदि काल से बिना किसी विकार के सुदीर्घ यात्रा करती हुई चली आ रही हैं। निश्चय ही इसीलिए श्रुति-परम्परा का आज के मानव के ऊपर महान् ऋण है।

०·४—ऋग्वेदसंहिता की भाषा से अन्य संहिताओं की भाषा का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है। ऋग्वेद में भी गोत्रमण्डलों (२–७) की अपेक्षा प्रथम, नवम तथा दशम मण्डल की भाषा अनुवर्ती संहिताओं के निकटतर है। मण्डलों का वर्गीकरण ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया है। प्रथम तथा दशम मण्डल में ऐसे सूक्त भी मिलते हैं जो प्राचीन हैं। दशम मण्डल सबसे बाद का रचा हुआ जान पड़ता है। अष्टम मण्डल यद्यपि प्राचीन है तथापि अनेक ऋषियों के सूक्तों का संग्रह मात्र होने से महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार नवम मण्डल विविध ऋषियो के रचे सोम-सूक्तों का संकलन मात्र है, भाषा की दृष्टि से यह भी अनुपादेय है।

ऋग्वेद की भाषा

यहाँ ऋग्वेदसंहिता की भाषा की कतिपय विशेषताओं का वर्णन किया जाता है।

(१) स्वरो के बीच में आने वाले 'ड' तथा 'ढ' को क्रमशः 'ळ' और 'ळ्ह' हो जाता है, जैसे—ईळे, दळ्हा ।

(२) पद्भिः के स्थान पर पड्भिः रूप मिलता है ।

(३) 'भ' ध्वनि कभी-कभार 'ह' के रूप में मिलती है—गृभ-गृभाय, गृहाण, भरति-हरति ।

(४) प्रथमा के बहुवचन के अन्त में आः, आसः, तृतीया के ब० व० के अन्त में एभिः-ऐः, द्विवचन के अन्त में औ-आ दोनो प्रकार के प्रत्यय मिलते हैं—देवाः, देवासः, देवैः-देवेभिः, देवौ–देवा ।

(५) पु० लि० अकारान्त शब्दों के सप्तमी बहुवचन के रूप एकान्त भी मिलते हैं—त्रिषु रोचने । नपुंसक अकारान्त शब्दों के प्रथमा–द्वितीया–ब० व० के रूप कहीं-कहीं आकारान्त मिलते हैं—भुवनानि विश्वा ।

(६) प्राच्य प्रभाव के कारण रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग मिलता है। 'हेऽरयः' के स्थान पर 'हेऽलयः' का उच्चारण पूर्व के जन करते थे। वैदिक इस अशुद्ध उच्चारण के कारण ही उन्हें असुर कहते थे ।

(७) ऋग्वेद की भाषा में अनेक भाषाओं का योग है। पाँचवें मण्डल में क्रियार्थक क्रिया के लिए 'तु' का प्रयोग नहीं मिलता । सप्तम मण्डल में पूर्वकालिक क्रिया को संकेतित करने वाले 'त्वा' और 'त्वाय' प्रत्यय नहीं दिखायी देते । अष्टम मण्डल में 'तुम्' एवं 'तवै' का प्रयोग नहीं किया गया है ।

(८) संहिता में स्थित पदों को उच्चारण के लिए परिवर्तित कर लिया जाता है । 'पावकः' को 'पौअकः,' 'वीर्याणि' को 'वीरिआणि', 'इन्द्र' को 'इनूदर' पढ़ा जाता है ।

ऋग्वेद की वर्णसंघटना

१. वैदिक स्वरवर्ण

१·०—वैदिक भाषा में स्वर का विशेष महत्त्व है । स्वरवर्णों का उच्चारण बिना स्वरों के नहीं हो सकता । स्वर स्वरवर्णों में ही रहते हैं । प्रातिशाख्यों

मे उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित नामक तीन प्रमुख स्वर बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त प्रचय नामक स्वर भी होता है। स्वरों का वैदिक संहिताओं के अर्थबोध में भी बड़ा महत्त्व है। इनका अलग से वर्णन किया जायगा।

१·१—वैदिक भाषा में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ तेरह स्वर वर्ण हैं। इनमें प्रथम नौ स्वरवर्णों को प्रातिशाख्यो में 'समानाक्षर' कहा गया है तथा शेष चार को 'सन्ध्यक्षर' (ऋ० प्रा० १।१–३)। सन्ध्यक्षरों में 'ए ओ' को गुण स्वर और 'ऐ औ' को वृद्धि स्वर कहते हैं, क्योंकि 'ए' तथा 'ओ' क्रमशः 'अ + इ' तथा 'अ + उ' की गुण-सन्धि और 'ऐ' तथा 'औ' क्रमशः 'आ + इ' तथा 'आ + उ' की वृद्धि-सन्धि के फलस्वरूप हैं। कहीं-कहीं 'ए ओ' का विकास 'अ' से भी मिलता है—जैसे एधि, धेहि, दुवोयुः, सहोवत्।

१.२—वैदिक काल में इन स्वरवर्णों या ध्वनियो के उच्चारण का अपना प्रकार था। प्रातिशाख्यों में 'अ' का उच्चारण अति ह्रस्व संवृतस्वर के रूप में होता था। सम्भवतः मन्त्रों के रचनाकाल में इसका उच्चारण विकृत था। यह कथन इससे सिद्ध हो जाता है कि छन्द की गति शुद्ध रखने के निमित्त ऋग्वेदसंहिता में 'ए' तथा 'ओ' के बाद 'अ' स्वरवर्ण का रखना अनिवार्य माना जाता है।

ऋ का उच्चारण आज 'रि' हो गया है। ऋक्प्रातिशाख्य में इसे 'र' युक्त स्वरवर्ण बताया गया है। 'ऌ' के उच्चारण की भी यही दशा है।

'ऐ', 'औ' को आज 'अइ', 'अउ' के रूप में उच्चरित किया जाता है, किन्तु सन्धि पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि इन्हें 'आइ, आउ' के रूप में उच्चरित करना चाहिए।

१·३ मात्रा—

प्रत्येक स्वर के उच्चारण में यह समय लगता है। इस उच्चारणकाल को बतलाने के लिए 'मात्रा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत स्वरवर्णों का उच्चारण क्रमशः एक, दो तथा तीन मात्रा-काल में होता है—'मात्रा ह्रस्वो, द्वे दीर्घः, तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः'—ऋ० प्रा० १।२७, २९–३०। ऋक्प्रातिशाख्य में—अधः स्विदासी३त्, उपरि स्विदासी३त्, भीरिव विन्दती ३—

प्लुत के तीन उदाहरण दिये गये हैं। इनमें जिन पदों के अन्त में ३ संख्या लिखी हुई है, वे प्लुत हैं। ३ संख्या के द्वारा प्लुत को संकेतित करते हैं।

१·४ अनुनासिकीकरण—

पदान्त में स्थित अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ (८ स्वर) यदि आगे आने वाले पद के आदि में स्थित स्वर के साथ सन्धि की स्थिति रहते हुए भी सन्धि न बना सकें, तो अनुनासिक हो जाते हैं—'अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्'—ऋ० प्रा० १।६३। यह नियम ऋग्वेद की उपलब्ध शाकल शाखा में नहीं स्वीकारा जाता। शाकल शाखा में तो अन्त में स्थित प्लुत स्वर को अनुनासिक किया जाता है—न त्वा भीरिव विन्दतीं ३ (ऋ० १०।१४६।१) संहिता का 'उ' भी पदपाठ में अनुनासिक-ऊँ-हो जाता है।

१.५—अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय—

अनुस्वार में स्वर तथा व्यञ्जन दोनो के धर्म हैं अतएव ऋक्प्रातिशाख्य में इसे स्वर एवं व्यञ्जन से भिन्न माना गया है—'अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरो वा' (ऋ० प्रा० १।५) अनुस्वार का उच्चारण नासिका से होता था—नासिक्यमानुस्वरान् (सू० प्रा० १।४८)। विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय—इन तीनों को भाषाविज्ञानी अघोष 'ह' स्वीकारते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में इन्हें व्यञ्जन माना गया है—ऋ० प्रा० १।६। विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का उच्चारण-स्थान क्रमशः कण्ठ, जिह्वामूल तथा ओष्ठ माना गया है। आजकल इनका उच्चारण ठीक से नहीं किया जाता।

वैदिक व्यंजनवर्ण

१·६—लौकिक संस्कृत के व्यंजनवर्णों के अतिरिक्त यहाँ 'ळ' तथा 'ळ्ह' दो वर्ण अधिक मिलते हैं। इन वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दो स्वरों के बीच आने वाला 'ड' 'ळ' हो जाता है। यह 'ड' जब 'ह' के स्थान पर आता है तब 'ढ' होकर उसी स्थिति में 'ळ्ह' होता है—तस्माद् विराळजायत। यह नियम केवल ऋग्वेद में लागू होता है अन्यत्र प्रायः नहीं—ततो विराडजायत—शु० यजुर्वेद। इस प्रकार की विशेषता काण्वशाखीय यजुर्वेद में सुरक्षित है।

१.७ यम—

वैदिक संस्कृत में अनुनासिक स्पर्श-संज्ञक वर्ण (क से म तक, वर्गों के अन्त्य अक्षर को छोड़कर) अनुनासिक स्पर्श-संज्ञक वर्णो के आगे रहने पर अपने-अपने यम हो जाते हैं। जैसे—चख्नतुः में 'ख' के बाद 'न' है इसलिए उसका उच्चारण 'खँ' होता है।

१.८ क्रम—

परिस्थिति के कारण उच्चारण के समय व्यंजनो को द्वित्व होता है, तब उसे क्रम कहते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में इसका अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

(१) स्वर तथा अनुस्वार के परवर्ती संयुक्त वर्ण के आदि व्यंजन को द्वित्व होता है, यदि वह विसर्ग का परवर्ती न हो—यंस्स्मा (ऋ० २।१२।५) यंक्क्रन्दसी (२।१२।८)।

(२) यदि उपरिनिर्दिष्ट व्यंजन सोष्म (ख, घ, छ, झ, ध, फ, भ वर्ण हो तो उसका अपने वर्ग के अपने से पूर्व वर्ण के साथ उच्चारण होता है—अब्भ्रातेव पुंसः (ऋ० १।१२४।७)।

२. वैदिक सन्धि

२.० वैदिक संस्कृत में सन्धियों के प्रायः वही नियम हैं जो लौकिक संस्कृत में। कुछ ऐसे नियम भी हैं जो संस्कृत में नहीं मिलते। सन्धियों के नामो में पर्याप्त पार्थक्य है।

२.१ **स्वरसन्धि—**

(क) प्रश्लिष्टसन्धि (गुण, वृद्धि, सवर्णदीर्घ)

(ख) क्षेप्रसन्धि (यण्)।

(ग) अभिनिहित सन्धि—(एङः पदान्तादति) पद के अन्त में स्थित ए, ओ के आगे वाला ह्रस्व अ उन्हीं के साथ एक रूप हो जाता है और उसे व्यक्त करने के लिए अवग्रह (ऽ) लगाया जाता है—विश्वतोऽदब्धासः योऽविता, दाशुषेऽग्ने। यह नियम कहीं-कहीं नहीं लगता—शरदो अन्ति, यो अस्कभायत्, यो अन्तरिक्षम्, पाथो अश्याम्।

(घ) ऐ, औ को आगे स्वर रहने पर आ हो जाता है—

हन्तवा उ (हन्तवै + उ), अन्वेतवा उ (अन्वेतवै + उ)।

(ङ) ए, ओ ह्रस्व अ हो जाते हैं यदि आगे स्वर हो—अग्न इन्द्र (अग्ने + इन्द्र)।

२·२ प्रकृतिभाव—

सन्धि की सम्भावना रहते हुए भी सन्धि न होना प्रकृतिभाव कहलाता है। लौकिक संस्कृत में होने वाले प्रकृतिभाव वैदिक संस्कृत में भी प्रयोजित होते हैं।

२·३ व्यंजनसन्धि—

लौकिक संस्कृत के प्रायः समग्र नियम यथावत् हैं। वैदिक भाषा में पदान्त में स्थित आन् के स्थान पर आँ हो जाता है यदि आगे कोई स्वर अथवा य, व, र, ल, ह वर्ण हों—जिगीवाँ लक्षम् (जिगीवान् + लक्षम्), प्रकुपिताँ अरम्णात् (प्रकुपितान् + अरम्णात्)।

२·४ विसर्गसन्धि—

कुछ विभेदकों के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत के प्रायः सभी नियम हैं।

३·० वैदिक शब्द-रूप

३·०—अपने शब्द-रूपों में वैदिक भाषा अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया जायगा।

३·१—अकारान्त पुल्लिंग शब्दों की प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन के द्विवचन के अन्त में 'आ' 'औ' तथा बहुवचन के अन्त में 'आः' और 'आसः' आता है—अश्विनौ, अश्विना। देवाः, देवासः। तृतीया के एकवचन के अन्त में 'आ', 'एन', 'ना' तथा ब० व० के अन्त में 'ऐः' या 'एभिः' होता है—देवेन, देवा। देवैः, देवेभिः।

अकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों की प्रथमा, द्वितीया एवं सप्तमी विभक्ति के ब० व० में 'आनि' या 'आ' होता है—विश्वा, विश्वानि।

३·२—आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के प्रथमा तथा सम्बोधन के बहुवचन में 'आः', 'आसः' होता है।

३·३—श्री ग्रामणी शब्दो के षष्ठी ब० व० में 'नाम' होता है—श्रीणाम्, ग्रामणीनाम्। गो शब्द यदि पाद के अन्त में हो तो षष्ठी ब० व० में 'नाम्' लगता है।

३·४—षष्ठ्यन्त शब्द के आगे तृतीया ए० व० में प्रयुक्त होने वाले पति शब्द का रूप—पतिना—होता है।

३·५—किसी शब्द के किसी विभक्ति के किसी वचन में प्रथमा के एकवचन का प्रयोग होता है।

३·६—मूल शब्द का सप्तमी के ए० व० में अपरिवर्तित रूप में ही प्रयोग होता है— चर्मणि के स्थान पर चर्मन्।

३·७—स्वरान्त शब्द दीर्घ रूप में किसी विभक्ति में प्रयुक्त मिलता है—ऊत्या के स्थान पर ऊती, मत्या = मती।

कारक की कुछ विशेषताएँ

३·८—हु धातु का कर्म तृतीया अथवा द्वितीया दोनो में होता है।

३·९—चतुर्थी का षष्ठी और षष्ठी का चतुर्थी के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

३·१०—यज् धातु का करण षष्ठी और तृतीया दोनों में हो सकता है।

४. वैदिक धातु-रूप

४·०—वैदिक भाषा धातु-रूप एवं लकारों की दृष्टि से भी सुसमृद्ध है। लौकिक भाषा के नौ लकारों के साथ-साथ यहाँ लेट् लकार का भी प्रयोग मिलता है, प्रयोग उन्हीं अर्थों में होता है जिनमें लिङ् का।

लेट्

४·१—लेट् लकार में धातु के पश्चात् इस् (इष्) आता है—तारिषत्, मंदिषत्। जहाँ इष् नहीं होता वहाँ भवाति, पताति आदि रूप बनते हैं।

४·२—उत्तम पुरुष में पदान्त विसर्ग का लोप हो जाता है—करवाव, करवावः।

४·३—लेट् के आत्मनेपद में प्रथम तथा मध्यमपुरुष के द्वि० व० के अन्त में 'ऐते' 'ऐथे' आते हैं—यन्त्रयैते, मन्त्रयैथे।

४·४—विधिलिङ् से इच्छा या सम्भावना प्रकट होती है, लेट् से निश्चय और प्रतिज्ञा। उत्तम पुरुष में यह प्रतिज्ञा वक्ता के सामर्थ्य का ज्ञापन करती है—विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्।

४·५—प्रधान वाक्य से लेट् प्रश्नात्मक पदों के साथ आता है तथा गौण वाक्यों में निषेधात्मक या सम्बन्ध द्योतक पदो के साथ।

अन्य विशेषताएँ

४·६—वैदिक भाषा मे लिट् लकार का प्रयोग प्रायः वर्तमान के लिए होता है—यः दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।

४·७—लुङ् लकार भी प्रायः वर्तमान को द्योतित करता है, क्योंकि साधारणतया वह किसी तथ्य को प्रकट करता है। लङ् का भी प्रयोग वर्तमान के लिए होता है।

४·८—लुङ्, लङ्, लृङ् लकार में धातुओं के पूर्व होने वाले अट् या आट् वैदिक भाषा में कहीं-कहीं नहीं होते।

४·९—उत्तम पुरुष वर्तमानकाल के ब० व० रूपों में प्रायः 'मसि' का प्रयोग मिलता है—एकसि, मिनीमसिः।

४·१०—लौकिक भाषा में उपसर्ग क्रिया के समीप और आदि में रखे जाते हैं, परन्तु वैदिक भाषा में वे क्रिया में दूर तथा आगे-पीछे कहीं देखे जा सकते हैं।

५. कृदन्त

५·०—सोपसर्गक धातुओं से भी क्त्वा प्रत्यय होता है—परिधापयित्वा। क्त्वा के स्थान पर 'त्वी' तथा 'त्वाय' प्रत्ययो का भी प्रयोग होता है—भूत्वी, कृत्वी, दत्त्वाय, गत्वाय। क्रिया के साथ उपसर्ग होने पर 'या' तथा 'त्या' प्रत्यय होते हैं—अभिअच्या, एत्या।

५·१—तव्य के स्थान पर तवै, ए, एन्य, त्व प्रत्यय भी होते हैं—अन्वेतवैय, नावगाहे, शुश्रूषेण्यः, कर्त्वन्।

५·२—तुमुन् के अर्थ में ए, असे, से, अध्यै, तवै, तवे प्रत्ययों का प्रयोग होता है। तुमर्थक प्रत्यय धातुओं से बने संज्ञा-शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी के रूप हैं।

(१) चतुर्थ्यन्त पद

इसका सामान्य प्रत्यय 'ए' है जो आकारान्त धातु के साथ 'ऐ' हो जाता है—

(क) अस् प्रत्ययान्त संज्ञा से—अवसे, चरसे, चक्षसे।
(ख) इ प्रत्ययान्त संज्ञा से—दृशये, महये, युधये।
(ग) ति प्रत्ययान्त संज्ञा से—पीतये, सातये।
(घ) तु प्रत्ययान्त संज्ञा से—एतवे, श्रोतवे।
(ङ) तवा प्रत्ययान्त संज्ञा से—एतवै, गन्तवै।
(च) ध्या प्रत्ययान्त संज्ञा से—गमध्यै, पिबध्यै।
(छ) मन् प्रत्ययान्त संज्ञा से—त्रामणे, दामने।
(ज) वन् प्रत्ययान्त संज्ञा से—दावने, धुर्वणे।
(झ) त्या प्रत्ययान्त संज्ञा से—इत्यै।

(२) द्वितीयान्त पद

इसके द्विधा प्रयोग मिलते हैं—

(१) धातुज संज्ञा में अम् के योग से—सम्पृच्छम्, आरभम्।
(२) तु प्रत्ययान्त संज्ञा में म के योग से—दातुम्, प्रष्टुम्।

(३) पञ्चम्यन्त, षष्ठ्यन्त पद

(१) अस् जोड़कर—सम्पृचः, आतृदः।
(२) तोस् जोड़कर—गन्तोः, एतोः, जनितोः।

सप्तम्यन्त पद

(१) धातु संज्ञा से—बुधि, दृशि, संदृशि।
(२) सन् प्रत्ययान्त संज्ञा से—नेषणि, पर्षणि।

६. वैदिक समास

६·०—वेद में दो या चार पदों से अधिक पदवाले समास नहीं मिलते। तत्पुरुष, कर्मधारय, द्वन्द्व और बहुव्रीहि की स्थिति है। द्वन्द्व में जब दो देवतावाचक पदों का समास होता है, तब दोनो पदों में द्विवचन रहता है—मित्रावरुणौ, इन्द्राविष्णू। द्वन्द्व तथा तत्पुरुष में समस्त शब्द का लिंग उत्तरपद के समान होता है, पर वैदिक भाषा में हेमन्त और शिशिर शब्दों का द्वन्द्व होने पर समस्त शब्द का लिंग पूर्वपद के अनुसार होता है -हेमन्तशिशिरौ। इसी प्रकार 'अहोरात्रे' होता है। पितृ, मातृ, शब्द का द्वन्द्व होने पर 'पितरामातरा' रूप बनता है। 'मातरापितरा' रूप भी दृष्टिगत होता है।

६·१—वैदिक भाषा में कोई नियम सार्वत्रिक नहीं है, इसीलिए पाणिनि ने 'व्यत्ययो बहुलम्' एवं 'बहुलं छन्दसि' जैसे नियमों को बनाया। इस दृष्टि का पूर्ण निदर्शन वक्ष्यमाण कारिका में उपलब्ध है—

सुप्-तिङ् उपग्रह-लिङ्ग-नराणां काल-हल् अच् स्वर-कर्तृ-यङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

—पतञ्जलि, महाभाष्य ३।१।८५

७. माध्यन्दिन संहिता के उच्चारण की कुछ विशेषताएँ

७·०—प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक ध्वनियो का उच्चारण लौकिक संस्कृत की ध्वनियों के समान ही होता था। विद्वानो का अभिमत है कि य, व, ष तथा अनुस्वार के उच्चारण में अवश्य भेद था। निश्चय ही प्रातिशाख्यों में इस विसदृशता का उल्लेख नहीं मिलता, पर शिक्षाग्रन्थो में विचार किया गया है। आज वेदमन्त्रों का जिस प्रकार उच्चारण किया जाता है, उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। सम्भवतः वैदिक काल में इन विशेषताओं का रूप वैभाषिक रहा होगा। यजुर्वेद में उपर्युक्त वर्णों के उच्चारण की विशेषताएँ मिलती हैं। सम्भवतः इस उच्चारणप्रक्रिया के प्रभाव से ऋग्वेद भी अछूता नहीं रह सका।

७·१—पद के आदि में स्थित असंयुक्त 'यकार' का उच्चारण 'जकार' करना चाहिए। पद के मध्य में भी इसका उच्चारण तब 'ज' होना चाहिए, जब यह य, ऋ, र, ण और ह से संयुक्त हो।

पदादौ विद्यमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च ।
आदेशो हि जकारः स्याद् युक्तः सन् हरणेन तु ॥
रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत् ।
यकारर्कारयुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत् ॥
(माध्यन्दिन शिक्षा, २।३-५)

'यद्भूतं यच्च भाव्यम्' का उच्चारण 'जद्भूतं जच्च भावियम्म' होता है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' का उच्चारण 'सूर्ज्ज आत्मा जगतस्तस्थुखश्च' किया जाता है।

७·२—माध्यन्दिन शिक्षा के मत से 'व' का उच्चारण गुरु करना चाहिए। गुरु का अर्थ वकार के दन्त्योष्ठ्य रूप से है।

गुरुर्व्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् । (मा० शि० २-६)

पद के आदि में आने वाले 'व' का उच्चारण 'व्व' करना चाहिए—'ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः' का यजुर्वेद में उच्चारण होगा—'ततो व्विराडजायत व्विराजोऽधिपूरुखः'। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि पदमध्य में 'य', 'व' का उच्चारण 'ज', 'व्व' नहीं होता।

७·३—'ष' यदि टवर्गीय ध्वनि से युक्त न हो तो उसका उच्चारण 'ख' होता है।

षकारः खकारः स्याट्टगयोगे तु नो भवेत् ॥
(मा० शि० २–१)

षः खष्टुमृते च ॥ (केशवी शिक्षा ३)

'सहस्रशीर्षा पुरुषः' का उच्चारण, 'सहस्रशीर्खा पुरुखः' होता है; परन्तु, 'व्यत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' में ट्वक् युक्त होने के कारण 'ष' का उच्चारण 'ख' नहीं होता।

७·४—अनुस्वार की उत्तरवर्ती ध्वनि यदि श, ष, स, ह हो तो उसका उच्चारण गुम्, गुंग या खंग होता है, और इसे संकेतित करने के लिए '५' या 'ँ' चिह्न का प्रयोग किया जाता है। 'अंशुना' का उच्चारण 'अग्गंशुना' और 'पुरुष एवेदं सर्वम्' का उच्चारण—'पुरुख एवेदग्ँ सर्वम्' किया जाता है।

८. वैदिक स्वर

८·०—ग्रीक भाषा की भाँति वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है, उसका स्वर-युक्त होना। वेदों के यथार्थ अवगमन के निमित्त स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। वेंकट माधव के अनुसार स्वरों की सहायता से अर्थ की वैशद्य की उपलब्धि होती है।

> अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
> एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥
>
> —स्वरानुक्रमणी १।८

स्वर शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। प्रस्तुत प्रसंग में स्वर उन्हें कहा जायगा जिनसे पदों के अर्थज्ञान की दिशा मिले—स्वर्यन्तेऽर्थाः एभिः—अमरकोश; भानुजिदीक्षित, सुधा, १।६।४। स्वर को शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ऋक्प्रातिशाख्य में 'स्वार' तथा यम 'शब्द' के द्वारा भी संकेतित किया गया है। स्वार शब्द का वही अर्थ है, जो स्वर का। अर्थ-नियामक तत्त्व को यम कहते हैं।

८·१—वैदिक भाषा की प्रत्येक स्वर-ध्वनि बिना स्वर के नहीं उच्चरित होती। व्यंजन परावलम्बी होने से स्वरविहीन हैं। स्वर-ध्वनि के उच्चारण में किसी साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती, अतएव वे स्वर हैं—स्वयं राजन्त इति स्वराः—महाभाष्य १।२।३०। संहिताओं के अतिरिक्त बृहदारण्यक सहित शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही स्वराङ्कन देखा जाता है, अन्यत्र नहीं।

८·२—पतञ्जलि के अनुसार (१।२।३३)—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित तथा स्वरित के आरम्भ में स्थित उदात्त (अन्य उदात्त से भिन्न) सात स्वर हैं। नारदशिक्षा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित तथा निघात नामक पाँच स्वरों का उल्लेख करती है—

> उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा।
> निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चमः ॥ ७'१९ ॥

इस शिक्षा के टीकाकार शोभाकर भट्ट प्रचित तथा निघात को स्वरित का भेद मानते हैं। कई आचार्यों के मत में चार ही स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त,

स्वरित तथा प्रचय। प्रचय को एकश्रुति भी कहते हैं-उभयकरणरहितः प्रचयः उभयकरणसमावेशजन्यः स्वरितः—तै० प्रा० २३।११, वैदिकाभरणव्याख्या;ऐकश्रुत्यं प्रचयात्मकम्—सायण, ऋ० १।१।१ शाकल, माध्यन्दिन, काण्व, कौथुम एवं शौनक संहिताओं में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों का उच्चारण होता है।

८·३—स्वरों के लक्षण एवं उच्चारण-प्रकार वक्ष्यमाण हैं—

(१) उच्चैरुदात्तः; पाणिनि, अष्टा० १।२।२९; वाजसनेयि प्रातिशाख्य, १।१०८; तै० प्रा० १।३८। जिस स्वर के उच्चारण में गात्रों का आरोह होता है, उसे उदात्त कहते हैं—आयामेन ऊर्ध्वगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति (वा० प्रा० १।१०९ तथा उव्वट की टीका)।

(२) नीचैरनुदात्तः, पा० अ० १।२।३०, वा० प्रा० १।१०९; तै० प्रा० १।३९। जिस स्वर के उच्चारण के समय पहले गात्र ऊपर की ओर खिंचे उसे अनुदात्त कहते हैं।

(३) समाहारः स्वरितः, पा० अ० १।२।३०; वा० प्रा० १।१०९; तै० प्रा० १।४०। जिस स्वर के उच्चारण के समय पहले गात्र ऊपर की ओर खिंचे तदनन्तर नीचे की ओर खिंचे उसे स्वरित कहा गया है।

पतञ्जलि ने वर्णों के उच्चारण-स्थानों को त्रिधा विभक्त किया है-उच्च, नीच, मध्यम। उदात्त आदि स्वरों का क्रमशः उच्च, नीच तथा मध्यम भाग से उच्चारण होता है।

ऋक्प्रातिशाख्य (३।१) में आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप के द्वारा क्रमशः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित के उच्चारण का विधान मिलता है—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते स्वरास्त्रयः॥

उव्वट के अनुसार उच्चारण के समय वायु के कारण शरीर के अवयवों के ऊपर खिंचने को आयाम कहते हैं। इस प्रक्रिया से उच्चरित होने वाला स्वर उदात्त है। विश्रम्भ की दशा में वायु निम्नाभिमुख होती है, इस समय उच्चरित स्वर की अनुदात्त संज्ञा है। वायु के तिर्यग् गमन को आक्षेप कहते हैं। आक्षेप के समय उच्चरित होने वाला स्वर स्वरित है।

तै० प्रा० के अनुसार उदात्त स्वर के उच्चारण के समय शरीर के अवयव कस जाते हैं, स्वर रूखा हो जाता है और कण्ठ संकुचित हो जाता है (२२।९)। अनुदात्त में शरीर के अवयव ढीले पड़ जाते हैं, स्वर में मृदुता आ जाती है, कण्ठ विकसित हो जाता है (२२।१०)। आपिशलि शिक्षा में (८।२०–२२) भी इसी प्रकार उदात्त आदि के उच्चारण की विधि बतलायी गयी है।

(४) प्रचय, प्रचित या एकश्रुति, स्वरित से उत्तरवर्ती अनुदात्त को कहते हैं। एकश्रुति के उच्चारण में गात्रों में एक साथ मृदुता आ जाती है (स्वरिता-अनुदात्तानां परेषा प्रचयः स्वरः, ऋ० प्रा० ३।१९)।

८·४—स्वरित में उदात्त एवं अनुदात्त नीर-क्षीर की भाँति समाहृत रहते हैं। पाणिनि के मत से स्वरित के आदि की आधी मात्रा उदात्त होती है और अवशिष्ट अनुदात्त–तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्, १।२।३२। तै० प्रा० के अनुसार उदात्त के उत्तरवर्ती स्वरित की आधी मात्रा उदात्ततर होती है, और शेष उदात्तसम अथवा अनुदात्तर होती है। (१।४१–४२)। वा० प्रा० में स्वरित के आदि की आधी मात्रा उदात्त मानी गयी है (१।१२६)। ऋ० प्रा० के अनुसार उदात्त के परवर्ती स्वरित का आधा भाग उदात्ततर है, शेष उदात्त श्रुति (३।४–५)।

८·५—पाणिनि के अनुसार प्रचय का नाम एकश्रुति है। काशिका के मत से जहाँ उदात्त आदि स्वरों में अभेद हो उसे एकश्रुति कहते हैं—स्वराणामुदात्तादीनामविभागोऽभेदस्तिरोधानमेकश्रुतिः १।२।३३। आश्वलायन उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के अत्यन्त सामीप्य को एकश्रुति कहते हैं—उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्ष ऐकश्रुत्यम्—आ० श्रौ० १।२। तै० प्रा० (२३।१९) का टीकाकृत् गार्ग्य गोपाल उदात्त अनुदात्त के धर्मों से हीन स्वर को प्रचय कहता है—उभयकरणरहितः प्रचयः।

८·६—वैदिक साहित्य का स्वरांकन सर्वत्र एक सा नहीं है। ऋग्वेद में उदात्त स्वर से युक्त वर्ण पर कोई चिह्न नहीं लगता–'इन्द्रः' में इ उदात्त है अतएव अचिह्नित है। अनुदात्त स्वरयुक्त वर्ण के नीचे पड़ी पाई (—) लगायी जाती है–देवान्' 'दे' अनुदात्त है। स्वरित स्वर को व्यक्त करने के लिए वर्ण

के ऊपर खड़ी पाई (।) लगाई जाती है—'इन्द्रः' में 'न्द्रः' स्वरित है। प्रचय भी उदात्त की भाँति अचिह्न रहता है—विष्णुः स्तवते वीर्येण—में स्तवते के सभी वर्ण प्रचय हैं।

सामान्य नियम

८·७—प्रत्येक शब्द में उदात्त या स्वरित स्वर रहता है, इसके अतिरिक्त अन्य स्वर निघात कहे जाते हैं (अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, पा० अ० ६।१।११५८)। इस नियम के अपवाद भी हैं।

(क) कुछ पद ऐसे होते हैं जिनमें दो उदात्त स्वर होते हैं—

(१) देवता द्वन्द्व समास में जहाँ दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं—मित्रा वरुणा—'त्रा' तथा 'व' दोनो उदात्त हैं।

(२) अलुक्षष्ठी समास में—बृहस्पतिः—'बृ', 'प' दोनो उदात्त हैं।

(३) तुमुन् के अर्थ में 'तवै' से अवसित शब्दों में—हन्तवै—'ह', 'वै' दोनो उदात्त हैं।

(ख) कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनमें उदात्त होता ही नहीं—

(१) एन, त्व, सम, मा, मे, ते, नौ, वाम्' नः, वः, ईम्, सीम्।

(२) अव्यय—च, उ, वा, इव, घ, ह, चित्, भल, समहः, स्म, स्वित्।

(३) सम्बोधन शब्द यदि पाद के आरम्भ में न हो—स जनास इन्द्रः।

(४) मुख्य वाक्य की क्रिया जब वाक्य या पाद के आदि में न हो।

(५) 'अस्य' जब वाक्य या पद के आरम्भ में न हो और बल न देता हो।

(६) 'इव' के अर्थ में 'यथा' जब पाद के अन्त में आये।

८·८ संज्ञा-शब्दों का स्वर—

(१) जिन संज्ञा-शब्दों के अन्त में 'अस्' आता है, यदि ये नपुंसकलिङ्ग मे होते हैं तो मूल शब्द में उदात्त होता है—अपः; यदि पुल्लिंग होते हैं तो प्रत्यय पर—अपः।

(२) ईष्ठ, ईयांस्, तम से अन्त होने वाले शब्दों के आदि में उदात्त होता है—यजिष्ठा, जवीयांस। संख्यावाची शब्द के अन्त में यदि 'तम' आता है तो 'तम' के 'म' को उदात्त होता है।

(३) मन् प्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग में मूल शब्द को उदात्त होता है—कर्मन्। पुल्लिंग 'मन्' प्रत्ययान्त शब्द के 'म' को उदात्त होता है—धर्मन्।

(४) इन् प्रत्ययान्त शब्दो में इन प्रत्यय को उदात्त होता है—अश्विन्।

(५) मान्त शब्दों में म को उदात्त होता है—अष्टम।

(६) जहाँ प्रत्यय में उदात्त होता है वहाँ सदा आदि में होता है—'आद्युदात्तश्च'—पा० अ० ३।१।३।

८·९ समास में स्वर विधान—

(१) आम्रेडित (जहाँ एक ही शब्द की आवृत्ति होती है, उसे आम्रेडित कहते हैं) पदों के समास में पूर्वपद में उदात्त होता है—दिवेदिवे, अहरहः, यथायथा।

(२) बहुव्रीहि में पूर्वपद को उदात्त होता है—'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'—पा० अ० ६।२।१—वृद्धश्रवाः, सुतसोमस्य, वज्रबाहुः। इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं—सुशिप्रः, उरुगायाय, उरुक्रमस्य—इनमें अन्त्य पद में उदात्त है।

(३) कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है—प्रथमजा। जहाँ अन्त में 'त' प्रत्यय से बना पद या 'ति' से अवसित होने वाला शब्द रहता है वहाँ पहले पद पर उदात्त होता है—दुर्हित, सुधस्तुति।

(४) सामान्यतः तत्पुरुष समास में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है—गोत्रभिद्, भद्रवादिन्।

(५) जिन तत्पुरुष समासों के उत्तर में पति शब्द रहता है, उनमें भी दो उदात्त होते हैं—बृहस्पतिः। जिनमें पूर्वपद षष्ठयन्त होता है उनमें भी दो उदात्त होते हैं—अपांनपात्, शुनःशेपः।

(६) द्वन्द्व समास में उत्तरपद में उदात्त होता है—अहोरात्राणि, अजावयः, साशनानशने।

(७) जिन द्वन्द्व समासों में देवताओं के नाम होते हैं और दोनों पद द्विवचन में होते है, उनमें दोनों पदों में उदात्त होता है—सूर्यामासा, इन्द्रावरुणा।

८·१० धातुरूपों में स्वरविधान

(१) धातुओं में होने वाले आगम 'अ' में उदात्त होता है—अस्कंभायत् , अर्हत् , अरम्णात् , अरिणात् , अस्फुरत् ।

(२) अद्यतनभूत (लुङ्) में 'स' और 'इस' से अन्त होने वाले रूपों में धातु में उदात्त होता है—वंसि ।

(३) लिट् के प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष, लुट् तथा लेट् के प्र० पु० के रूपों में धातु के प्रथम अक्षर में उदात्त होता है ।

(४) लृट् में सर्वदा 'स्य' पर उदात्त होता है ।

(५) उपसर्ग के साथ कृदन्त होने पर कृदन्त में उदात्त बना रहता है ।

(६) य, त्व लगाकर बने पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में धातु उदात्त होता है—श्रुत्य, श्रुत्वा ।

(७) तुमुन् के अर्थ में इ, ति, अस् , वन् प्रत्ययों से अन्त होने वाले शब्दों में धातु पर उदात्त होता है—दृशये, पीतये, चरसे ।

(८) मन् प्रत्ययान्त तुमर्थ शब्द तथा अन्य तुमर्थक शब्दों में धातु में उदात्त होता है—दामने, गमध्यै ।

(९) त्वी, त्वा, त्वाय से बने पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में प्रत्यय में उदात्त होता है—भूत्वा ।

८·११ उपसर्गों में स्वरविधान (क्रिया के योग में)—

(१) प्रधान वाक्य में उपसर्ग क्रिया से दूर रहता है तथा उदात्त स्वर से युक्त रहता है—प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म ।

(२) उपवाक्यों में उपसर्ग क्रिया के साथ संयुक्त रहता है तथा अनुदात्त होता है—पर्यभूषत् , अधिक्षियन्ति ।

(३) दो उपसर्ग होने पर दोनों—स्वतन्त्र तथा उदात्त स्वर से युक्त होते हैं—उपप्रयाहि ।

(४) यदि आ के पूर्व उपसर्ग रहता है तो आ उदात्त होता है—समाकृणोषि ।

८. १२ वाक्य में स्वरविधान—

(१) जहाँ सम्बोधन शब्द वाक्य या पाद के आरम्भ में होते है, वहाँ उदात्त प्रथम वर्ण में होता है—पूषन्ननु प्र गा इहि, प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो।

(२) जहाँ सम्बोधन शब्द वाक्य के बीच में आता है वहाँ वह निघात (उदात्त स्वरहीन) हो जाता है—वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः।

(३) मुख्य क्रिया के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ में उदात्त स्वर रहता है।

(४) मुख्य क्रिया में तब उदात्त होता है जब वह वाक्य या पाद के आरम्भ में आती है।

(५) सम्बोधन के आगे यदि अव्यवहित रूप में क्रिया रहती है तो उसमें उदात्त हो जाता है—अग्ने जुषस्व।

(६) जहाँ क्रिया बल देती है वहाँ भी वह उदात्तयुक्त होती है, चाहे उसकी स्थिति वाक्य के आरम्भ में न हो।

(७) यत्, या इसके अन्य रूपों, च, हि, चेद्, नेद्, कुविद् अव्ययों से आरम्भ होने वाले उपवाक्यों की क्रिया में उदात्त स्वर होता है।

(८) दो प्रतिपक्षी प्रधान वाक्यों में प्रथम उपवाक्य माना जाता है तथा उसकी क्रिया उदात्तस्वर से युक्त होती है—

अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।

८.१३ स्वरित स्वरविधान—

प्रातिशाख्यो में स्वरित के नौ भेद कहे गये हैं। यहाँ मुख्य स्वरित स्वरों का वर्णन किया जायेगा। चार स्वरित प्रमुख हैं—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जात्य आदि स्वतन्त्र स्वरित हैं तथा अन्य सामान्य या परतन्त्र।

(१) जात्य स्वरित (स्वतन्त्र स्वरित)—जाति का अर्थ जन्म या स्वभाव होता है। जो स्वरित स्वभाव से स्वरित होता है उसे जात्य स्वरित कहते हैं। इस स्वरित में उदात्त के संयोग से अनुदात्त का स्वरितत्व नहीं होता—वीर्याणि, वीर्येण, कन्या, धान्यम्, क्व, स्वः। (तु०—जात्या स्वभावेनैव उदात्तसंगतेर्विना जायते स जात्यः—ऋ० प्रा० ३।८, उव्वट-व्याख्या)। तै० प्रा० में इसे नित्य-स्वरित कहा गया है।

(२) अभिनिहित-(एङः पदान्तादति) सन्धि से उत्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं—तेऽवर्धन्त (ते + अवर्धन्त)।

(३) क्षैप्र (यण्) सन्धि से उत्पन्न स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं— न्विन्द्र (तु०—उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, पा० अ० ८।२।४।)

(४) प्रश्लिष्ट (गुण, वृद्धि, सवर्णदीर्घ) सन्धि से उत्पन्न स्वरित को प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं—सुचीव।

कम्प

(५) स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, क्षैप्र, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट) के आगे उदात्त स्वर के रहने पर कम्प होता है। कम्प की अभिव्यक्ति के निमित्त स्वरांकन की विशिष्ट पद्धति का स्वीकार किया गया है।

(क) स्वतन्त्र स्वरित के आगे यदि अव्यवहित रूप में उदात्त आता है तो स्वतन्त्र स्वरित के ह्रस्व होने पर १ अंक लिखकर उसके ऊपर स्वरित का तथा नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। यहाँ स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अचिह्नित रहता है-आपस्व१न्तः, न्वन्त१र्वरुणे, व्य१स्मत्, वर्ध्ये१नभः, स्व१जनन्ती।

(ख) जहाँ स्वतन्त्र स्वरित दीर्घ होता है और उसके आगे अव्यवहित-रूप में उदात्त आता है, वहाँ स्वतन्त्र स्वरित के आगे ३ अंक लिखकर अंक के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। यहाँ स्वतन्त्र स्वरित अनुदात्त चिह्न से युक्त रहता है—सुप्राव्यो३ यजमानाय, तन्वा३ सं वदे, वपुष्ये३न, क्वे३दानीम्, वृष्याँ३ अह।

सामान्य स्वरित या परतन्त्र स्वरित

(६) उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इसे सामान्य स्वरित कहते हैं—आ नो, य आत्मदा। यह स्मर्तव्य है कि अनुदात्त के आगे यदि उदात्त होगा तो यह कभी स्वरित नहीं होगा।

८.१६ स्मरणीय नियम—

(१) सन्धि के कारण स्वर परिवर्तित हो जाते हैं, इस प्रकार के सम्भाव्य परिवर्तन वक्ष्यमाण हैं—

(१) उदात्त + उदात्त = उदात्त ।

(२) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त ।

(३) स्वरित + उदात्त = उदात्त ।

(४) जात्य स्वरित + उदात्त = उदात्त ।

(५) उदात्त + अनुदात्त = प्रश्लिष्ट आदि स्वरित । इनके रूप इस प्रकार हैं—

(अ) उदात्त इ + अनुदात्त इ = ई प्रश्लिष्ट स्वरित ।

(आ) उदात्त इ, उ, ऋ (ह्रस्व या दीर्घ) + कोई असमान अनुदात्त स्वर = क्षैप्र स्वरित ।

(इ) उदात्त ए, ओ + अनुदात्त अ = अभिनिहित स्वरित ।

(ई) उदात्त ई + अनुदात्त इ (ह्रस्व या दीर्घ) = उदात्त ई ।

(उ) उदात्त अ + कोई अनुदात्त स्वर = उदात्त ।

(ऊ) उदात्त + स्वरित = असम्भव ।

(ए) उदात्त + जात्य आदि स्वरित = असम्भव ।

(२) उदात्त के पूर्व कोई स्वर नहीं रहता और उसके पूर्व अनुदात्त नियमतः रहता है ।

(३) उदात्त और प्रचय दोनो अचिह्नित रहते हैं, अतएव उनकी पहचान के लिए स्मरण रखना चाहिए—

(क) प्रचय या प्रचय-समूह के पूर्व स्वरित स्वरयुक्त वर्ण रहता है ।

(ख) प्रचय वर्ण के आगे अव्यवहित रूप से अनुदात्त अवश्य रहता है।

८·१५—शु० यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता में स्वरांकनपद्धति—

(१) शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में ऋग्वेद की भाँति सभी स्वर होते हैं, केवल कम्प नहीं होता ।

(२) अनुदात्त के आगे यदि जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट या अभिनिहित स्वरित आता है तो उसे विशेष चिह्न (ꣳ) से चिह्नित किया जाता है—यन्मनुष्यान्, विष्वङ्व्यक्रामत्, ब्राह्मणोऽस्य, वसन्तोऽस्य ।

यहाँ यह स्मर्तव्य है जब क्षैप्र स्वरित अनुदात्त के बाद नहीं रहता तब उसे ऋग्वेद के समान चिह्नित किया जाता है—त्र्यम्बकं यजामहे ।

(३) जहाँ जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष तथा अभिनिहित स्वरित के आगे उदात्त रहता है वहाँ इनके नीचे त्रिशूल के समान (‿) चिह्न लगाया जाता है—उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ।

परिशेष ५

संहितापाठ से पदपाठ बनाने के नियम

संहिता पदों की ही होती है, अतः पदों का सम्यग् ज्ञान परम आवश्यक है। ऋग्वेदसंहिता के पदपाठ के समायोजन का श्रेय शाकल्य को दिया जाता है। उपर्युक्त नियमों का अभ्यास कर लेने पर पदपाठ करना दुरूह नहीं है। सौकर्य के निमित्त वक्ष्यमाण नियमों पर ध्यान रखना चाहिए।

१. सन्धिविच्छेद

(१) स्वरों का अंकन एक अर्धर्च तक किया जाता है। अर्धर्च की समाप्ति का संकेत दो अथवा एक पूर्णविराम द्वारा दिया जाता है।

(२) पदपाठ में प्रत्येक पद की स्वतन्त्र सत्ता रहती है, अतएव उसके स्वर दूसरे पद के स्वरों से प्रभावित नहीं हो सकते। प्रत्येक पद के पश्चात् पूर्ण विराम लगाना चाहिए।

(३) सर्वप्रथम समस्त सन्धियों को अलग-अलग कर लेना चाहिए। प्रत्येक शब्द को उस अवस्था में रखना चाहिए, जिसमें सन्धि के पूर्व वह होता है।

(४) विसर्ग सन्धि में पहुँचकर ओ, रे, स या ष के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी उसका लोप भी हो जाता है। पदपाठ में शब्द को विसर्गयुक्त कर देना चाहिए।

(५) संहिता के 'ष' को 'स' तथा 'ण' को 'न' करना चाहिए, यदि उनका यह रूप सन्धिजन्य हो तो, अन्यथा नहीं।

(६) संहितापाठ में कुछ वर्णों का कभी-कभी लोप हो जाता है। इस दृष्टि से इम् का 'म्' तथा द्विवचनान्त 'आ' महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि इनका प्रायः लोप हो जाता है। पदपाठ में इन्हें लगा देना चाहिए।

२. अवग्रह का प्रयोग

(१) समस्त पदों को पृथक् करने के लिए अवग्रह (ऽ) लगाया जाता है। यह नियम तभी लगता है जब समास के पूर्व पद में कोई परिवर्तन न हुआ हो। समासजन्य वर्ण-परिवर्तन को हटा दिया जाता है। द्वादश, वनस्पति इसके अपवाद हैं।

(२) दो से अधिक पदों वाले समास का मात्र अन्तिम पद अन्य पदों से अलग किया जाता है।

(३) पदपाठ में विभक्तियों से मूल पद को अलग करने के लिए अवग्रह लगाना चाहिए। केवल भ्याम्, भिस्, विभक्ति से ही शब्द पृथक् किया जाता है। यह ध्यातव्य है कि उन्हीं शब्दों को उपर्युक्त विभक्तियों के पूर्व अवग्रह के द्वारा विच्छिन्न किया जाता है, जो ह्रस्व स्वरान्त होते हैं।

(४) सप्तमी के ब० व० में जहाँ 'सु' को 'षु' नहीं हुआ होता और न उसके पूर्व दीर्घ स्वर होता है, उसे अवग्रह द्वारा अलग कर देना चाहिए।

(५) शब्दों के पूर्व स्थित उपसर्गों को भी अवगृहीत करना चाहिए। यदि एक शब्द में कई उपसर्ग हैं तो मात्र प्रथम उपसर्ग को अलग करना चाहिए।

(६) शब्दों में आने वाले प्रत्यय भी अलग किये जाते हैं।

(७) नकारात्मक अर्थवाले 'अन्' तथा 'अ' को अलग करना चाहिए।

(८) किसी शब्द के आगे यदि 'इव' लगा हो तो उसे भी अलग करना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्द के पूर्व उपसर्ग रहता है वहाँ उसे अलग नहीं करते।

(९) तर, तम, मत्, वत् प्रत्यय भी अवग्रह द्वारा अलग किये जाते हैं।

३. इतिकरण

(१) प्रगृह्य-संज्ञक शब्दों के आगे पदपाठ में इति लगाया जाता है।

(२) प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन तथा सप्तमी के एकवचन के अन्त में स्थित 'ई' प्रगृह्य है, अतएव यहाँ इति लगाना चाहिए।

(३) 'अमी' का ई प्रगृह्यसंज्ञक है।

(४) द्विवचनान्त या सप्तमी में जब 'ऊ' आता है तब उसके साथ भी पदपाठ में इति का प्रयोग किया जाता है।

(५) 'उ' के स्थान पर पदपाठ में 'ऊँ' इति लिखा जाता है।

(६) यदि द्विवचनान्त क्रिया-रूप के अन्त में 'ए' हो तो उसके आगे भी इति लगाना चाहिए।

(७) अस्मे, युष्मे, त्वे के आगे इति लगाना चाहिए।

(८) 'ओ' से अन्त होने वाले शब्दों के अन्त में इति का प्रयोग करना चाहिए।

(९) 'ओ' यदि स्वतन्त्र शब्द हो तो उसके आगे भी इति लगाना चाहिए।

(१०) अथो, उतो, यहो, तत्वो, भो के आगे इति का प्रयोग होता है।

(११) होतृ, नेष्टृ आदि में यदि मौलिक 'र्' हो तो उसके बाद इति लगाएँ।

(१२) समस्त पदों के अन्त में यदि 'इ' या 'ऊ' हो तो उसके बाद भी इति लगाएँ।

(१३) ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द के आगे यदि 'इव' हो तो इव सहित आगे इति लगाकर उसकी आवृत्ति करे।

(१४) स्युः, अकः आदि के आगे इति लगाकर उन्हें पुनः दुहराते हैं।

(१५) प्लुत तथा संहिता के कारण दीर्घ हुए शब्दों को ह्रस्व कर देना चाहिए।

(१६) विवृत्ति के व्यवधान को दूर करने के लिए जहाँ अनुनासिक होता है वहाँ पदपाठ में उसे हटा देते हैं।

(१७) कहीं-कहीं शब्दों का क्रम भी परिवर्तित करना पड़ता है—

शुनश्चिच्छेपम् = शुनः शेपम् चित् ।

वक्ष्यमाण विवरण का अनुशीलन पदपाठ में लाभकर होगा—

संहितापाठ में	पदपाठ में
अनुदात्त के बाद अनुदात्त	अपरिवर्तनीय
अनु०, अनु०, अनु०	”
उदात्त, उदात्त	उदात्त, अनुदात्त, उदात्त
उदात्त, निहत	उदात्त, स्वरित
उ०, नि०, नि०	उदात्त, स्वरित, प्रचय
उ०, नि०, नि०, नि०	उदात्त, स्वरित, प्रचय, प्रचय
उ०, नि०, नि०, उ०	उ०, स्व०, अ०, उ०
उ०, नि०, नि०, नि०, उ०	उ०, स्व०, प्र०, अ०, उ०
उ०, नि०, नि०, नि०, नि०, उ०	उ०, स्व०, प्र०, प्र०, अ०, उ०
उ० जात्य स्व०, अ० अ०, जा०	अपरिवर्तनीय
उ०, नि०, जा०	उ०, अ०, जा०
जात्यस्व०, निहत	जात्यस्वरित, प्रचय

उदाहरण—एक अर्धर्च देखिए।

संहितापाठ—स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः स॒हस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात् ।

पदपाठ—स॒हस्र॑ऽशीर्षा । पुरु॑षः । स॒ह॒स्र॒ऽअ॒क्षः । स॒हस्र॑ऽपात् ।

संहिता के समग्र समस्त पदों को अवग्रह लगाकर अलग कर दिया गया। इन समासपदों के सभी पूर्व पद अविकृत हैं अतः इन्हें अवगृहीत किया गया। संहिता में प्रथम पद के 'र्षा' वर्ण के नीचे अनुदात्त पुरुष. के 'पु' में स्थित उदात्त के कारण है अतएव पदपाठ में अपने मूल रूप में आ गया। 'पुरुषः' ज्यों का त्यों पदपाठ में लिया गया, क्योंकि संहिता के कारण उसमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। 'सहस्राक्षः' के स, ह अनुदात्त हैं, पर संहिता में 'पुरुषः' के स्वरित-स्वर युक्त 'रु' के कारण प्रचय बने हुए थे, अतः पदपाठ में वे अपने मौलिक रूप में अनुदात्त सहित हो गये। 'सहस्रपात्' समस्त होने से अवगृहीत है। इसका पूर्वपद 'सहस्र' अविकृत है, अतः अवगृहीत करना सनियम है।

संहिता के कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था अतएव पदपाठ में भी इसी तरह बना रहा।

(१८) इसी प्रकार पदपाठ का संहितापाठ में परिवर्तन करना चाहिए। पदपाठ के लिए अभ्यास की मतत आवश्यकता है।

परिशेष ६

वैदिक छन्द

१—वैदिक छन्दों की व्यवस्था वर्ण पर आधृत है। मात्रिक छन्दों का सर्वथा अभाव है। प्रत्येक छन्द में कई पाद या चरण होते है। दो पादों से आठ पादों तक के छन्द दृष्टिगत होते हैं। पादो की संघटना वर्णों के द्वारा की जाती है। प्रत्येक पाद में ८ वर्णों से १२ वर्ण तक रहते हैं। अनेक मिश्रित छन्द भी हैं।

१·१—कतिपय प्रमुख वैदिक छन्दों की चरण-व्यवस्था वक्ष्यमाण है।

(क) सामान्य छन्द

(१) द्विपदा गायत्री, ८,८ (१६ वर्ण)।

(२) गायत्री ८, ८, ८ (२४ वर्ण)।

(३) अनुष्टुभ्, ८, ८, ८, ८ (३२ वर्ण)।

(४) पंक्ति ८,८,८, ८, ८ (४० वर्ण)।

(५) द्विपदा विराट् ५, ५, ५, ५ (२० वर्ण)।

(६) विराट् स्थाना १०, १०, १०, १० (४० वर्ण)।

(७) महापंक्ति ८, ८, ८, ८, ८, ८ (४८ वर्ण)।

(८) महापंक्ति ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८ (५६ वर्ण)।

(९) द्विपदा त्रिष्टुभ् ११, ११ (२२ वर्ण)।

(१०) त्रिपदा त्रिष्टुभ् (या विराट्) ११, ११, ११ (३३ वर्ण)।

(११) त्रिष्टुभ् ११, ११, ११, ११ (४४ वर्ण)।

(१२) शक्करी ११, ११, ११, ११, ११ (५५ वर्ण)।

(१३) द्विपदा जगती १२, १२ (२४ वर्ण)।

(१४) त्रिपदा जगती १२, १२, १२ (३६ वर्ण)।

(१५) जगती १२, १२, १२, १२ (४८ वर्ण)।

(१६) पञ्चपदा जगती १२, १२, १२, १२, १२ (६० वर्ण)।

(१७) अतिजगती १३, १३, १३, १३ (५२ वर्ण)।

(ख) मिश्रित शब्द

(१) उष्णिह् ८, ८, १२ (२८ वर्ण)।
(२) उपरिष्टाज्ज्योतिष् १२, १२, १२, ८ (४४ वर्ण)।
(३) आस्तारपंक्ति ८, ८, १७, १२ (४५ वर्ण)।
(४) स्कन्धोग्रीवी ८, १२, ८, ८ (३६ वर्ण)।
(५) पुर उष्णिह् १२, ८, ८ (२८ वर्ण)।
(६) महापदपंक्ति १०, १०, ११ (३१ वर्ण)।
(७) सतो बृहती १२, ८, १२, ८ (४० वर्ण)।
(८) महाबृहती ८, ८, १२, ८, ८ (४४ वर्ण)।
(९) महासतोबृहती १२, ८, १२, ८, ८ (४८ वर्ण)।
(१०) अष्टि १६, (१७·४) । १६ (१२·८) ११२ ।
(११) अत्यष्टि १२, १२, ८ । ८, ८ । १२, ८ (६८ वर्ण)।
(१२) धृति १२, १२, ८ । १२, ८ । १२, ८ (७२ वर्ण)।
(१३) अतिधृति १७, १७, ८ । ८, ८, १२, ८, ८ (८६ वर्ण)।
(१४) बृहती ८, ८, १२, ८ (३६ वर्ण)।
(१५) ककुभ् ८, १२, ८ (२८ वर्ण)।
(१६) प्रस्तारपंक्ति १२, १२, ८, ८ (४० वर्ण)।
(१७) मध्येज्योतिष् १२, ८, १२, १२ ([illegible] वर्ण)।
(१८) विस्तारपंक्ति ८, १२, १२, ८ (४० वर्ण)।
(१९) विपरीता ८, १२, १२, ८ (४० वर्ण)
(२०) पुरस्ताद्बृहती ११, ८, ८, ८ (३५ वर्ण)
(२१) विषमपदा १०, ८, ११, ८ (३८ वर्ण)

ऋग्वेद में अन्य अनेक मिश्रित छन्द मिलते हैं ।

१·२—ऋग्वेद में त्रिष्टुभ् छन्द का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। प्रयोगबहुलता की दृष्टि से त्रिष्टुभ् के अनन्तर गायत्री, जगती, अनुष्टुभ्, बार्हत प्रगाथ, उष्णिह, पंक्ति, बृहती, द्विपदा, विराट् और काकुभ प्रगाथ को स्थान दिया जा सकता है।

१·३—इस संग्रह में वक्ष्यमाण छन्द हैं :

(१) त्रिष्टुभ्—विश्वेदेवासूक्त ८-१०, विष्णुसूक्त; इन्द्रसूक्त, हिरण्यगर्भ या प्रजापतिसूक्त, वाक्सूक्त (दूसरी ऋचा को छोड़कर), पुरुषसूक्त (ऋग्वेद) १६, पुरुषसूक्त (शु० य०) १६, १९, २२, शिवसङ्कल्पसूक्त। इन्द्रसूक्त १–१५।

(२) जगती—विश्वेदेवासूक्त (६, ८-१० ऋचा को छोड़कर), वाक्सूक्त २।

(३) अनुष्टुभ्—पुरुषसूक्त (ऋग्वेद) १-१५, पुरुषसूक्त (शु० य०) १-१५, २०-२१।

(४) गायत्री छन्द—अग्निसूक्त १–९।

(५) विराट्स्थाना—विश्वेदेवासूक्त ६।

१·४—छन्दों में कहीं-कहीं वर्ण कम रहते हैं अतः छन्द की गति ठीक रखने के लिए कुछ नियमों की व्यवस्था की गयी है।

(क) पाश्चात्य विद्वानों के मत से छन्दों को व्यवस्थित करने के लिए वक्ष्यमाण उपाय करना चाहिए—

(१) सन्धि में स्थित स्वरों को पृथक् कर लेना चाहिए : अस्तीत्येनम् = अस्तीति एनम्, वृत्वात्यतिष्ठत् = वृत्वा अत्यतिष्ठत्, महित्वैक = महित्वा एक।

(२) ए तथा ओ के अग्रवर्ती 'अ' को जहाँ 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप हुआ हो, वहाँ अवग्रह हटाकर 'अ' पढ़ना चाहिए।

(३) य और व को 'इय' तथा 'उव' पढ़ना चाहिए। वीर्याणि = वीरियाणि।

(४) षष्ठी के ब० व० के 'आम्' को 'अअम' पढ़ना चाहिए।

(ख) ऋक्प्रातिशाख्य तथा सर्वानुक्रमणी के अनुसार छन्दपरिमार्जन के लिए वक्ष्यमाण नियम हैं :

(१) छन्द के पाद में यदि नियत वर्ण न हों तो क्षैप्र (यण् सन्धि), तथा वर्णों के एकीभाव में स्थित अक्षरों को अलग कर देना चाहिए :—'व्यूहैः सपत्समीक्ष्योनेक्षैप्रवर्णैकभाविनाम्' ऋ० प्रा० ८।४०; तु० 'पादपूर्णार्थन्तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्'—ऋक् सर्वानुक्रमणी परिभाषा ३।५। 'व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे'; 'क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः'। ऋ० प्रा० १७।२२-२३।

(२) त्रिष्टुभ् तथा जगती छन्द मे आठवाँ, दसवाँ तथा अनुष्टुभ् में छठा अक्षर दीर्घ कर लेना चाहिए—'एकादशिद्वादशिनोर्लघावष्टममक्षरमुदये संहिता-काले'; 'दशमं चैत योरेवम्'; 'षष्ठं चाष्टाक्षरेऽक्षरम्'—ऋ प्रा० ८।३६, ३८-३९।

(३) न आगे रहने पर त्रिष्टुभ् एवं जगती मे उसके पूर्ववर्ण को दीर्घ कर दिया जाता है—'नः कारे च गुरावपि'—ऋ० प्रा० ८।३७।

(४) एक अथवा दो वर्णों से न्यून ऋक् को निचृति कहते हैं तथा एक या दो वर्णों से अधिक ऋक् को भुरिक् कहते हैं (शु० ३० पुरुषसूक्त २२)—'एकद्व्यूनाधिका सैव-निचृदूनाधिका भुरिक्—ऋ० प्रा० १७।२।

वेदानां व्याक्रिया सूक्ष्मा यथामति निरूपिता।
प्रीयतामनया देवो लक्ष्मीनारायणः सदा॥



अनुशेष

मन्त्रानुक्रम